पदारोहण सम्बन्धी विधियों की मौलिकता-आधुनिक परिप्रेक्ष्य में

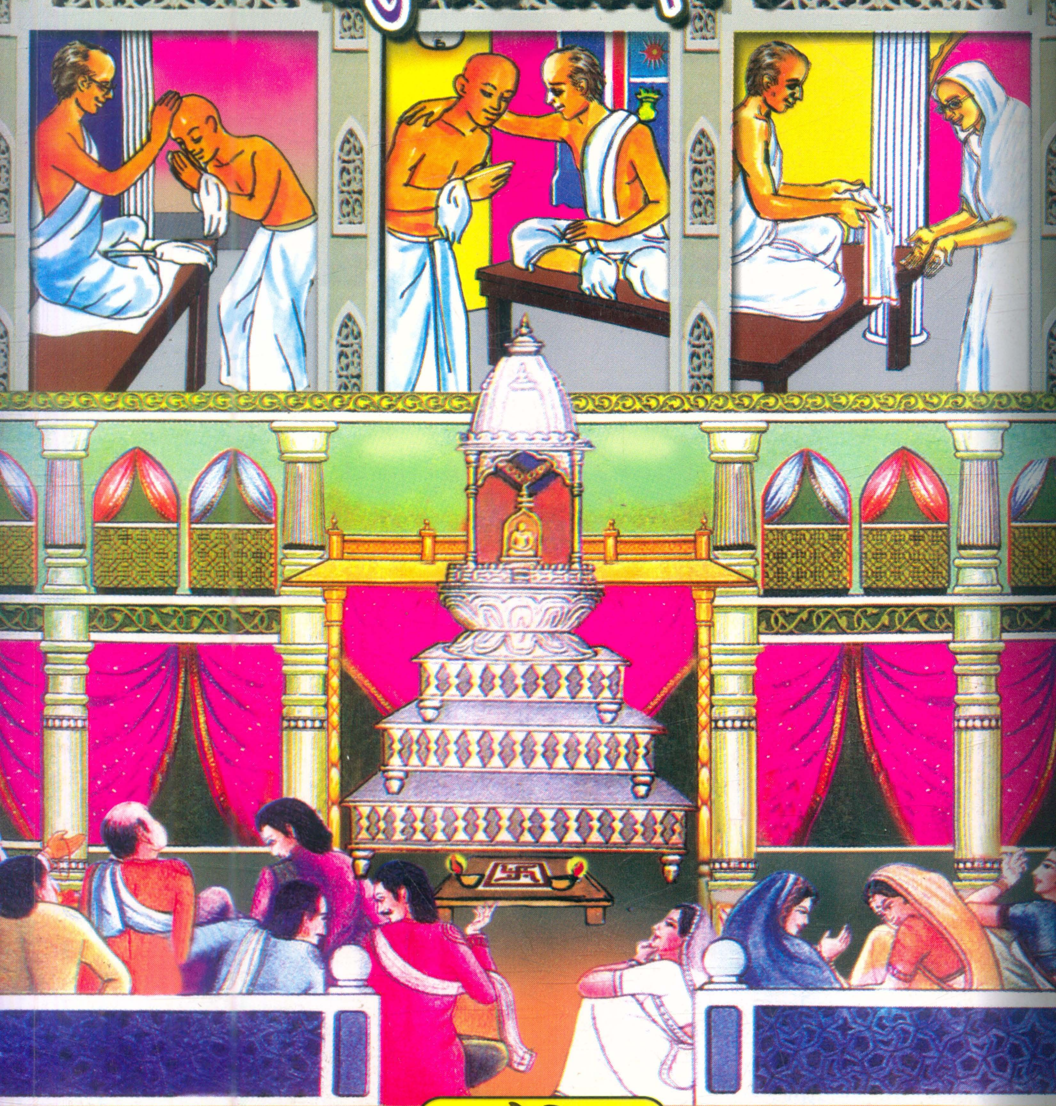

सम्बोधिका

पूज्या प्रवर्त्तिनी श्री सज्जन श्रीजी म.सा.
परम विदुषी शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

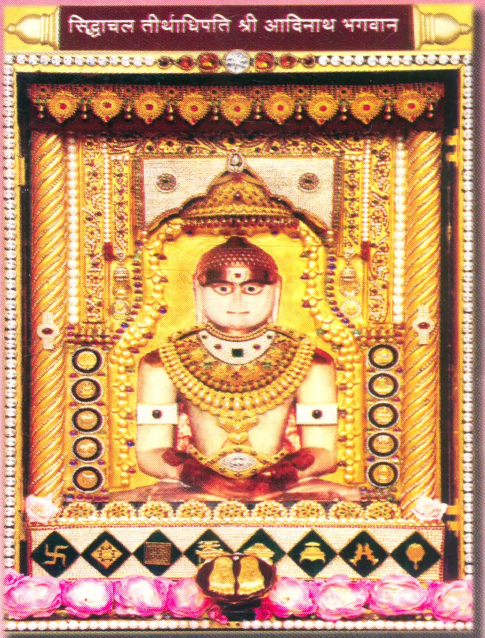

श्री जिनदत्तसूरि अजमेर दादाबाड़ी

श्री मणिधारी जिनचन्द्रसूरि दादाबाड़ी (दिल्ली)

श्री जिनकुशलसूरि मालपुरा दादाबाड़ी (जयपुर)

श्री जिनचन्द्रसूरि बिलाडा दादाबाड़ी (जोधपुर)

पदारोहण संबंधी विधि रहस्यों की मौलिकता आधुनिक परिप्रेक्ष्य में

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-7

2012-13

R.J. 241 / 2007

णाणस्स सारमायारो

शोधार्थी

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

निर्देशक

डॉ. सागरमल जैन

जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय,

लाडनूं-341306 (राज.)

पदारोहण संबंधी विधि रहस्यों की मौलिकता आधुनिक परिप्रेक्ष्य में

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-7

णाणस्स सारमायारो

स्वप्न शिल्पी

आगम मर्मज्ञा प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.

संयम श्रेष्ठा पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

मूर्त्त शिल्पी

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

(विधि प्रभा)

शोध शिल्पी

डॉ. सागरमल जैन

पदारोहण संबंधी विधि रहस्यों की मौलिकता
आधुनिक परिप्रेक्ष्य में

कृपा पुंज : पूज्य आचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागर सूरीश्वरजी म.सा.

मंगल पुंज : उपाध्याय प्रवर पूज्य गुरुदेव श्री मणिप्रभसागरजी म.सा.

आनन्द पुंज : आगमज्योति प्रवर्त्तिनी महोदया पूज्या सज्जन श्रीजी म.सा.

प्रेरणा पुंज : पूज्य गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

वात्सल्य पुंज : गुर्वाज्ञा निमग्ना पूज्य प्रियदर्शना श्रीजी म.सा.

स्नेह पुंज : पूज्य दिव्यदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य तत्वदर्शना श्रीजी म.सा. पूज्य सम्यक्दर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य शुभदर्शना श्रीजी म.सा. पूज्य मुदितप्रज्ञाश्रीजी म.सा., पूज्य शीलगुणाश्रीजी म.सा., सुयोग्या कनकप्रभा जी, सुयोग्या संयमप्रज्ञा जी आदि भगिनी मण्डल

शोधकर्त्री : साध्वी सौम्यगुणाश्री (विधिप्रभा)

ज्ञान वृष्टि : डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक :
- प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड, शाजापुर-465001
  email : sagarmal.jain@gmail.com
- सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
  बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड, पालीताणा-364270

प्रथम संस्करण : सन् 2014

प्रतियाँ : 1000

सहयोग राशि : ₹ 100.00
(पुन: प्रकाशनार्थ)

कम्पोज : विमल चन्द्र मिश्र, वाराणसी

कॅवर सेटिंग : शम्भू भट्टाचार्य, कोलकाता

मुद्रक : Antartica Press, Kolkata

ISBN : 978-81-910801-6-2 (VII)

© All rights reserved by Sajjan Mani Granthmala.

प्राप्ति स्थान

1. श्री सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड,
पो. पालीताणा-364270 (सौराष्ट्र)
फोन : 02848-253701

2. श्री कान्तिलालजी मुकीम
श्री जिनरंगसूरि पौशाल, आड़ी बांस
तल्ला गली, 31/A, पो. कोलकाता-7
मो. 98300-14736

3. श्री भाईसा साहित्य प्रकाशन
M.V. Building, Ist Floor
Hanuman Road, PO : VAPI
Dist. : Valsad-396191 (Gujrat)
मो. 98255-09596

4. पार्श्वनाथ विद्यापीठ
I.T.I. रोड, करौंदी वाराणसी-5 (यू.पी.)
मो. 09450546617

5. डॉ. सागरमलजी जैन
प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड
पो. शाजापुर-465001 (म.प्र.)
मो. 94248-76545
फोन : 07364-222218

6. श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर
तीर्थ, कैवल्यधाम
पो. कुम्हारी-490042
जिला– दुर्ग (छ.ग.)
मो. 98271-44296
फोन : 07821-247225

7. श्री धर्मनाथ जैन मन्दिर
84, अमन कोविल स्ट्रीट
कोण्डी थोप, पो. चेन्नई-79 (T.N.)
फोन : 25207936,
044-25207875

8. श्री जिनकुशलसूरि जैन दादावाडी,
महावीर नगर, केम्प रोड
पो. मालेगाँव
जिला- नासिक (महा.)
मो. 9422270223

9. श्री सुनीलजी बोथरा
टूल्स एण्ड हार्डवेयर,
संजय गांधी चौक, स्टेशन रोड
पो. रायपुर (छ.ग.)
फोन : 94252-06183

10. श्री पदमचन्द चौधरी
शिवजीराम भवन, M.S.B. का रास्ता,
जौहरी बाजार
पो. जयपुर-302003
मो. 9414075821, 9887390000

11. श्री विजयराजजी डोसी
जिनकुशल सूरि दादाबाड़ी
89/90 गोविंदप्पा रोड
बसवनगुडी, पो. बैंगलोर (कर्ना.)
मो. 093437-31869

संपर्क सूत्र

श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत
9331032777
श्री रिखबचन्दजी झाड़चूर
9820022641
श्री नवीनजी झाड़चूर
9323105863
श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख
8719950000
श्री जिनेन्द्र बैद
9835564040
श्री पन्नाचन्दजी दूगड़
9831105908

शब्दार्पण

गच्छ खरतर का अनुकुम्भ है जो
भरते गच्छ में अनुपमेयता।
सूरज से हैं देदीप्यमान जो
हरते भौतिक रात्रि की नीरवता।
मुनि संघ की अनुप्रेरणा है जो
संचारित करते संयम में वीरता।
जिन शासन की पतवार है जो
धरते कैलाश गिरि सी उच्चता।।

ऐसे
गच्छ कर्णधार, अनुभव सम्राट
परम पूज्य आचार्य प्रवर
श्री कैलाशसागर सूरीश्वरजी म.सा. को
विशुद्ध भावेन समर्पित

सज्जन चिंतन सौरभ

वर्तमान सामाजिक संरचना में

पद एवं सत्ता का बढ़ता अभिमान,

शक्ति एवं अधिकारों से बढ़ रहे व्यवधान,

Admission एवं Promotion के लिए बन गया Donation विधान,

इन स्थितियों में

आज आम जनता फंस रही है

भ्रष्टाचार, चोरी और घुसखोरी के जाल में,

हिंसा, बेईमानी और आतंकवाद के मायाजाल में,

ओसामा, सद्दाम और हिटलर के तानाशाही जंजाल में,

ऐसे समय में

वैचारिक उदारता एवं लघुता

बौद्धिक उत्कृष्टता एवं दूरदर्शिता

सांस्कृतिक शालीनता एवं सभ्यता

के अभिवर्धन हेतु एक विश्वास किरण...

हार्दिक अनुमोदन

कौलकाता निवासी श्रेष्ठीवर्य्य

श्री प्यारेलालजी-कस्तुरीबाई भंसाली की

पावन स्मृति में

सुपुत्र

श्री शान्तिपालजी-चित्रलेखा

सुपौत्र

मनोज-रश्मि

सुपौत्री

अनिता भंसाली, अमिता सुखानी, सुनिता भंसाली,

अनिता कोचर

लाभार्थी भंसाली परिवार

श्रुतज्ञान की यात्रा के सहभागी
श्री शान्तिपालजी भंसाली परिवार

यह संसार रत्नों की राशि है। अनेक मानव रत्न की भाँति इस सृष्टि को अपने सत्कर्मों से रोशन करते हैं। कुछ लोग कर्म को ही धर्म मानते हैं तो कुछ धर्म को कर्म और कर्म भी सत्कर्म को ही मानते हैं। इसी श्रृंखला में एक कर्मयोगी हैं श्रावकरत्न श्री शान्तिपालजी भंसाली।

आपका जन्म कोलकाता शहर में 19 नवम्बर 1932 के दिन हुआ। धर्म परायणा मातु श्री कस्तूरी बाई ने एक माली की तरह आपके जीवन का सत्संस्कारों से सींचन किया। उसी के परिणामस्वरूप आप एक समाज प्रेरक वटवृक्ष के रूप में खड़े हैं। स्वावलंबन, आपके जीवन का स्वाभाविक गुण है। इसी वजह से आपने बचपन में ही अपना कारोबार शुरू कर दिया था और अपनी पढ़ाई का पूरा खर्चा भी खुद ही उठाते थे। आजादी के समय आपने R.S.S. के एक कर्मठ कार्यकर्त्ता के रूप में भी कार्य किया।

जीवन के अनेक उतार-चढ़ावों से गुजरते हुए आज आपने व्यापारिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में अपना अद्भुत वर्चस्व बनाया है। पावापुरी, पंचायती मन्दिर कोलकाता आदि अनेक संस्थाओं में ट्रस्टी पद पर रहते हुए जैन संघ के कई विशिष्ट कार्य किए। Lions Club आदि सामाजिक संस्थाओं में भी आपका विशिष्ट योगदान रहता है।

आपकी संतुलित जीवन शैली आपके परिवार के लिए ही नहीं अपितु आपसे जुड़े हुए समस्त लोगों के लिए एक प्रेरणा स्रोत है। स्वाध्याय आदि भी आपके जीवन का एक अभिन्न अंग है।

आपकी जीवन सहगामिनी, स्वाध्याय रसिका, श्रीमती चित्रलेखाजी भंसाली ने जीवन की हर डगर पर आपका साथ निभाया। आपकी छोटी सी फुलवारी में धर्म संस्कारों के पुष्प खिलाने का श्रेय इन्हें ही जाता है। त्याग-वैराग्य से ओत-प्रोत आपके जीवन की महक से सम्पूर्ण कलकत्ता समाज चिर-परिचित है। आपके पुत्र मनोज भंसाली एवं दोनों पुत्रियाँ आपकी तरह धर्म क्षेत्र में रुचिवन्त एवं समर्पित हैं। सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन भंसाली परिवार के लिए यही अभ्यर्थना करता है कि आप जिनशासन की समृद्धि में सहायक बनते हुए अपने आतम घर को भी जिनत्व के प्रकाश से समृद्ध करें।

सम्पादकीय

जैन धर्म मूलतः निवृत्ति परक संन्यास मार्गी धर्म है किन्तु उसके साथ ही वह संघीय धर्म भी है। जैन तीर्थंकर सर्वप्रथम चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं जिसमें साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका ये चार वर्ग होते हैं। इनमें साधु-साध्वी मुनि संघ के अन्तर्गत और श्रावक-श्राविका गृहस्थ संघ के अन्तर्गत आते हैं। दोनों संघों की अपनी व्यवस्था है। इन व्यवस्थाओं के लिए नियामकों की आवश्यकता होती है। ये नियामक पदाधिकारी कहलाते हैं। जिस प्रकार गृहस्थ संघ में राजा, मंत्री, सेनापति, श्रेष्ठी आदि पद होते हैं उसी प्रकार मुनि संघ के अन्दर में आचार्य, उपाध्याय, गणि, प्रवर्त्तक, महत्तरा, प्रवर्त्तनी आदि पद होते हैं। इन पदों पर योग्य व्यक्तियों का चयन कर उन्हें पदस्थ किया जाता है। जैन संघ में पूर्व परम्परा से ही इन पदों के लिए किसी प्रकार की चुनाव व्यवस्था नहीं है। संघ या संघ के वरिष्ठ लोगों द्वारा योग्य अधिकारी को इस पद पर मनोनीत किया जाता है। तदुपरान्त कुछ योग्यताओं का ध्यान अवश्य रखा जाता है।

जैन आगम साहित्य के अन्तर्गत छेद सूत्रों में इन पदों एवं तद्सम्बन्धी योग्यताओं का विशेष उल्लेख मिलता है। परन्तु तद्योग्य विधि-विधानों का वर्णन आगम साहित्य में नहीं है। परवर्ती ग्रन्थों में पदारोहण सम्बन्धी विधि-विधानों का सविस्तार उल्लेख मिलता है। इनमें सर्वप्रथम खरतरगच्छीय जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा एवं वर्धमानसूरि रचित आचारदिनकर में इनका विस्तृत वर्णन समुपलब्ध होता है। आचार दिनकर में मुनि संघ सम्बन्धी विविध पद विधानों के साथ गृहस्थ पदों के विन्यास का भी समुल्लेख है।

इन विधि-विधानों की विशेषता यह है कि इनमें सर्वप्रथम पद की अर्हता किसमें है? इसका निर्धारण करते हैं और फिर पदाभिषेक करते हैं। इसी के साथ पदधारी व्यक्ति को उसके कर्त्तव्यों का बोध भी करवाया जाता है। इसकी विस्तृत जानकारी हेतु साध्वी मोक्षरत्नाजी द्वारा अनुवादित एवं प्राच्य विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित इसका हिन्दी अनुवाद द्रष्टव्य है। अतः हमें विस्तार से इन सब की चर्चा न करते हुए मात्र इतना कहना चाहूँगा कि विधिमार्गप्रपा एवं आचार

दिनकर के अतिरिक्त इस विषयक और दूसरे ग्रन्थ भी हैं जिन्हें आधार बनाकर साध्वी श्री सौम्याजी ने इस कृति की रचना की है।यह कृति भविष्य में मुनि संघ और गृहस्थ संघ दोनों के लिए मार्गदर्शक बनेगी ऐसी मेरी अपेक्षा है। इन सबके लिए साध्वीजी ने जो श्रम किया है वह निश्चित ही प्रशंसनीय एवं अनुमोदनीय है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से सबसे प्रमुख लाभ यह होगा कि आज जो विधि-विधान संबंधी कर्मकाण्ड कुछ ही विधिकारकों के हाथ में सिमट गया है। इससे मुक्ति मिलेगी और जन साधारण भी इस दिशा में योग्य निर्देशन को प्राप्त कर सकेगा।

अन्त में यही कहना चाहूँगा कि कठिन परिश्रमी साध्वी सौम्यगुणाजी पूर्वाचार्यों द्वारा रचित अनछुए विषयों को उठाकर उन पर वर्तमान परिप्रेक्ष्य में लेखनी चलाएँ। पूर्व रचित ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद वर्तमान युग की प्राथमिक आवश्यकता है। अन्यथा हमारी अनमोल श्रुत परम्परा यूं ही विलुप्त हो जाएगी। इतनी लम्बी शोध यात्रा में साध्वी सौम्यगुणाजी जैन साहित्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथ्यों से परिचित हो चुकी हैं। दुरूह विषयों को समझने एवं उन्हें सरल रूप में प्रस्तुत करने में अब वह स्वयमेव समर्थ हैं। अत: संघ समाज को उन्हें अन्य सामाजिक कर्तव्यों से मुक्त करते हुए श्रुत संवर्धन हेतु प्रेरित करना चाहिए। सौम्यगुणाजी इसी प्रकार श्रुत सेवा में संलग्न रहे यही अभ्यर्थना।

डॉ. सागरमल जैन
प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर

आशीर्वचन

आज मन अत्यन्त आनंदित है। जिनशासन की बगिया को महकाने एवं उसे विविध रंग-बिरंगे पुष्पों से सुरभित करने का जो स्वप्न हर आचार्य देखा करता है आज वह स्वप्न पूर्णाहुति की सीमा पर पहुँच गया है। खरतरगच्छ की छोटी सी फुलवारी का एक सुविकसित सुयोग्य पुष्प है साध्वी सौम्यगुणाजी, जिसकी महक से आज सम्पूर्ण जगत सुगन्धित हो रहा है।

साध्वीजी के कृतित्व ने साध्वी समाज के योगदान को चिरस्मृत कर दिया है। आर्या चन्दनबाला से लेकर अब तक महावीर के शासन को प्रगतिशील रखने में साध्वी समुदाय का विशेष सहयोग रहा है।

विदुषी साध्वी सौम्यगुणाजी की अध्ययन रसिकता, ज्ञान प्रौढ़ता एवं श्रुत तल्लीनता से जैन समाज अक्षरशः परिचित है। आज वर्षों का दीर्घ परिश्रम जैन समाज के समक्ष 23 खण्डों के रूप में प्रस्तुत हो रहा है।

साध्वीजी ने जैन विधि-विधान के विविध पक्षों को भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से उद्घाटित कर इसकी त्रैकालिक प्रासंगिकता को सुसिद्ध किया है। इन्होंने श्रावक एवं साधु के लिए आचरणीय अनेक विधि-विधानों का ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, समीक्षात्मक, तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत करते हुए निष्पक्ष दृष्टि से विविध परम्पराओं में प्राप्त इसके स्वरूप को भी स्पष्ट किया है।

साध्वीजी इसी प्रकार जैन श्रुत साहित्य को अपनी कृतियों से रोशन करती रहे एवं अपने ज्ञान गांभीर्य का रसास्वादन सम्पूर्ण जैन समाज को करवाती रहे, यही कामना करता हूँ। अन्य साध्वी मण्डल इनसे प्रेरणा प्राप्त कर अपनी अतुल क्षमता से संघ-समाज को लाभान्वित करें एवं जैन साहित्य की अनुद्घाटित परतों को खोलने का प्रयत्न करें, जिससे आने वाली भावी पीढ़ी जैनागमों के रहस्यों का रसास्वादन कर पाएं। इसी के साथ धर्म से विमुख एवं विश्रृंखलित होता जैन समाज विधि-विधानों के महत्त्व को समझ पाए तथा वर्तमान में फैल रही भ्रान्त

मान्यताएँ एवं आडंबर सम्यक दिशा को प्राप्त कर सकें। पुनश्च मैं साध्वीजी को उनके प्रयासों के लिए साधुवाद देते हुए यह मंगल कामना करता हूँ कि वे इसी प्रकार साहित्य उत्कर्ष के मार्ग पर अग्रसर रहें एवं साहित्यान्वेषियों की प्रेरणा बनें।

आचार्य कैलास सागर सूरि
नाकोड़ा तीर्थ

हर क्रिया की अपनी एक विधि होती है। विधि की उपस्थिति व्यक्ति को मर्यादा भी देती है और उस क्रिया के प्रति संकल्प-बद्ध रहते हुए पुरुषार्थ करने की प्रेरणा भी। यही कारण है कि जिन शासन में हर क्रिया की अपनी एक स्वतंत्र विधि है।

प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन उपलब्ध होता है कि भरत महाराजा ने हर श्रावक के गले में सम्यक दर्शन,सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र रूप त्रिरत्नों की जनोई धारण करवाई थी। कालान्तर में जैन श्रावकों में यह परम्परा विलुप्त हो गई। दिगम्बर श्रावकों में आज भी यह परम्परा गतिमान है।

जिस प्रकार ब्राह्मणों में सोलह संस्कारों की विधि प्रचलित है। ठीक उसी प्रकार जैन ग्रन्थों में भी सोलह संस्कारों की विधि का उल्लेख है। आचार्य श्री वर्धमानसूरि खरतरगच्छ की रूद्रपल्लीय शाखा में हुए पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के विद्वान आचार्य थे। आचारदिनकर नामक ग्रन्थ में इन सोलह संस्कारों का विस्तृत निरूपण किया गया है। हालांकि गहन अध्ययन करने पर मालूम होता है कि आचार्य श्री वर्धमानसूरि पर तत्कालीन ब्राह्मण विधियों का पर्याप्त प्रभाव था, किन्तु स्वतंत्र विधि-ग्रन्थ के हिसाब से उनका यह ग्रन्थ अद्भुत एवं मौलिक है।

साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन गृहस्थ के व्रत ग्रहण संबंधी विधि विधानों पर तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करके प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। यह बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ साबित होगा, इसमें कोई शंका नहीं है। साध्वी सौम्यगुणाजी सामाजिक दायित्वों में व्यस्त होने पर भी चिंतनशील एवं पुरुषार्थशील हैं। कुछ वर्ष पूर्व मैं

विधिमार्गप्रपा नामक ग्रन्थ पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर अपनी विद्वत्ता की अनूठी छाप समाज पर छोड़ चुकी हैं।

मैं हार्दिक भावना करता हूँ कि साध्वीजी की अध्ययनशीलता लगातार बढ़ती रहे और वे शासन एवं गच्छ की सेवा में ऐसे रत्न उपस्थित करती रहें।

उपाध्याय श्री मणिप्रभसागर

किसी भी धर्म दर्शन में उपासनाओं का विधान अवश्यमेव होता है। विविध भारतीय धर्म-दर्शनों में आध्यात्मिक उत्कर्ष हेतु अनेक प्रकार से उपासनाएँ बतलाई गई हैं। जीव मात्र के कल्याण की शुभ कामना करने वाले हमारे पूज्य ऋषि मुनियों द्वारा शील-तप-जप आदि अनेक धर्म आराधनाओं का विधान किया गया है।

प्रत्येक उपासना का विधि-क्रम अलग-अलग होता है। साध्वीजी ने जैन विधि विधानों का इतिहास और तत्सम्बन्धी वैविध्यपूर्ण जानकारियाँ इस ग्रन्थ में दी है। ज्ञान उपासिका साध्वी श्री सौम्यगुणा श्रीजी ने खूब मेहनत करके इसका सुन्दर संयोजन किया है।

भव्य जीवों को अपने योग्य विधि-विधानों के बारे में बहुत-सी जानकारियाँ इस ग्रन्थ के द्वारा प्राप्त हो सकती है।

मैं ज्ञान निमग्ना साध्वी श्री सौम्यगुणा श्रीजी को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ कि इन्होंने चतुर्विध संघ के लिए उपयोगी सामग्री से युक्त ग्रन्थों का संपादन किया है।

मैं कामना करता हूँ कि इसके माध्यम से अनेक ज्ञानपिपासु अपना इच्छित लाभ प्राप्त करेंगे।

आचार्य पद्मसागर सूरि

विनयाद्यनेक गुणगण गरीमायमाना विदुषी साध्वी श्री शशिप्रभा श्रीजी एवं सौम्यगुणा श्रीजी आदि सपरिवार सादर अनुवन्दना सुखशाता के साथ।

आप शाता में होंगे। आपकी संयम यात्रा के साथ ज्ञान यात्रा

अविरत चल रही होगी।

आप जैन विधि विधानों के विषय में शोध प्रबंध लिख रहे हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई।

ज्ञान का मार्ग अनंत है। इसमें ज्ञानियों के तात्पर्यार्थ के साथ प्रामाणिकता पूर्ण व्यवहार होना आवश्यक रहेगा।

आप इस कार्य में सुंदर कार्य करके ज्ञानोपासना द्वारा स्वश्रेय प्राप्त करें ऐसी शासन देव से प्रार्थना है।

आचार्य राजशेखर सूरि
भद्रावती तीर्थ

महत्तरा श्रमणीवर्या श्री शशिप्रभाश्री जी

योग अनुवंदना!

आपके द्वारा प्रेषित पत्र प्राप्त हुआ। इसी के साथ 'शोध प्रबन्ध सार' को देखकर ज्ञात हुआ कि आपकी शिष्या साध्वी सौम्यगुणा श्री द्वारा किया गया बृहदस्तरीय शोध कार्य जैन समाज एवं श्रमण-श्रमणी वर्ग हेतु उपयोगी जानकारी का कारण बनेगा।

आपका प्रयास सराहनीय है।

श्रुत भक्ति एवं ज्ञानाराधना स्वपर के आत्म कल्याण का कारण बने यही शुभाशीर्वाद।

आचार्य रत्नाकरसूरि

जो कर रहे स्व-पर उपकार
अन्तर्हृदय से उनको अमृत उद्‌गार

मानव जीवन का प्रासाद विविधता की बहुविध पृष्ठ भूमियों पर आधृत है। यह न तो सरल सीधा राजमार्ग (Straight like highway) है न पर्वत का सीधा चढ़ाव (ascent) न घाटी का उतार (descent) है अपितु यह सागर की लहर (sea-wave) के समान गतिशील और उतार-चढ़ाव से युक्त है। उसके जीवन की गति सदैव एक जैसी नहीं रहती। कभी चढ़ाव (Ups) आते हैं तो कभी उतार (Downs) और कभी कोई अवरोध (Speed Breaker) आ जाता है तो कभी कोई (trun) भी आ

जाता है। कुछ अवरोध और मोड़ तो इतने खतरनाक (sharp) और प्रबल होते हैं कि मानव की गति-प्रगति और सन्मति लड़खड़ा जाती है, रुक जाती है इन बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अनुकूल समायोजन स्थापित करने के लिए जैन दर्शन के आप्त मनीषियों ने प्रमुखतः दो प्रकार के विधि-विधानों का उल्लेख किया है— 1. बाह्य विधि-विधान 2. आन्तरिक विधि-विधान।

बाह्य विधि-विधान के मुख्यतः चार भेद हैं— 1. जातीय विधि-विधान 2. सामाजिक विधि-विधान 3. वैधानिक विधि-विधान 4. धार्मिक विधि-विधान।

1. जातीय विधि-विधान— जाति की समुत्कर्षता के लिए अपनी-अपनी जाति में एक मुखिया या प्रमुख होता है जिसके आदेश को स्वीकार करना प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य है। मुखिया नैतिक जीवन के विकास हेतु उचित-अनुचित विधि-विधान निर्धारित करता है। उन विधि-विधानों का पालन करना ही नैतिक चेतना का मानदण्ड माना जाता है।

2. सामाजिक विधि-विधान— नैतिक जीवन को जीवंत बनाए रखने के लिए समाज अनेकानेक आचार-संहिता का निर्धारण करता है। समाज द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों की आचार-संहिता को ज्यों का त्यों चुपचाप स्वीकार कर लेना ही नैतिक प्रतिमान है। समाज में पीढ़ियों से चले आने वाले सज्जन पुरुषों का अच्छा आचरण या व्यवहार समाज का विधि-विधान कहलाता है। जो इन विधि-विधानों का आचरण करता है, वह पुरुष सत्पुरुष बनने की पात्रता का विकास करता है।

3. वैधानिक विधि-विधान— अनैतिकता-अनाचार जैसी हीन प्रवृत्तियों से मुक्त करवाने हेतु राज सत्ता के द्वारा अनेकविध विधि-विधान बनाए जाते हैं। इन विधि-विधानों के अन्तर्गत 'यह करना उचित है' अथवा 'यह करना चाहिए' आदि तथ्यों का निरूपण रहता है। राज सत्ता द्वारा आदेशित विधि-विधान का पालन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इन नियमों का पालन करने से चेतना अशुभ प्रवृत्तियों से अलग रहती है।

4. धार्मिक विधि-विधान– इसमें आप्त पुरुषों के आदेश-निर्देश, विधि-निषेध, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य निर्धारित रहते हैं। जैन दर्शन में "आणाए धम्मो" कहकर इसे स्पष्ट किया गया है। जैनागमों में साधक के लिए जो विधि-विधान या आचार निश्चित किए गये हैं, यदि उनका पालन नहीं किया जाता है तो आप्त के अनुसार यह कर्म अनैतिकता की कोटि में आता है। धार्मिक विधि-विधान जो अर्हत् आदेशानुसार है उसका धर्माचरण करता हुआ वीर साधक अकुतोभय हो जाता है अर्थात वह किसी भी प्राणी को भय उत्पन्न हो, वैसा व्यवहार नहीं करता। यही सद्व्यवहार धर्म है तथा यही हमारे कर्मों के नैतिक मूल्यांकन की कसौटी है। तीर्थंकरोपदिष्ट विधि-निषेध मूलक विधानों को नैतिकता एवं अनैतिकता का मानदण्ड माना गया है।

लौकिक एषणाओं से विमुक्त, अरहन्त प्रवाह में विलीन, अप्रमत्त स्वाध्याय रसिका साध्वी रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन वाङ्मय की अनमोल कृति खरतरगच्छाचार्य श्री जिनप्रभसूरि द्वारा विरचित **विधिमार्गप्रपा** में गुम्फित जाज्वल्यमान विषयों पर अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा से जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन को मुख्यतः चार भाग (23 खण्डों) में वर्गीकृत करने का अतुलनीय कार्य किया है। शोध ग्रन्थ के अनुशीलन से यह स्पष्टतः हो जाता है कि साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने चेतना के ऊर्ध्वीकरण हेतु प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में जिन आज्ञा का निरूपण किसी परम्परा के दायरे से नहीं प्रज्ञा की कसौटी पर कस कर किया है। प्रस्तुत कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि हर पंक्ति प्रज्ञा के आलोक से जगमगा रही है। बुद्धिवाद के इस युग में विधि-विधान को एक नव्य-भव्य स्वरूप प्रदान करने का सुन्दर, समीचीन, समुचित प्रयास किया गया है। आत्म पिपासुओं के लिए एवं अनुसन्धित्सुओं के लिए यह श्रुत निधि आत्म सम्मानार्जन, भाव परिष्कार और आन्तरिक औज्ज्वल्य की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होगी।

अल्प समयावधि में साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने जिस प्रमाणिकता

एवं दार्शनिकता से जिन वचनों की परम्परा के आग्रह से रिक्त तथा साम्प्रदायिक मान्यताओं के दुराग्रह से मुक्त रखकर सर्वग्राही श्रुत का निष्पादन जैन वाङ्मय के क्षितिज पर नव्य नक्षत्र के रूप में किया है। आप श्रुत साभिरुचि में निरन्तर प्रवहमान बनकर अपने निर्णय, विशुद्ध विचार एवं निर्मल प्रज्ञा के द्वारा सदैव सरल, सरस और सुगम अभिनव ज्ञान रश्मियों को प्रकाशित करती रहें। यही अन्तःकरण आशीर्वाद सह अनेकशः अनुमोदना... अभिनंदन।

जिनमहोदय सागर सूरि चरणरज
मुनि पीयूष सागर

जैन विधि की अनमोल निधि

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्रीजी म.सा. द्वारा "जैन-विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन" इस विषय पर सुविस्तृत शोध प्रबन्ध सम्पादित किया गया है। वस्तुतः किसी भी कार्य या व्यवस्था के सफल निष्पादन में विधि (Procedure) का अप्रतिम महत्त्व है। प्राचीन कालीन संस्कृतियाँ चाहे वह वैदिक हो या श्रमण, इससे अछूती नहीं रही। श्रमण संस्कृति में अग्रगण्य है– जैन संस्कृति। इसमें विहित विविध विधि-विधान वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं अध्यात्मिक जीवन के विकास में अपनी महती भूमिका अदा करते हैं। इसी तथ्य को प्रतिपादित करता है प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध।

इस शोध प्रबन्ध की प्रकाशन वेला में हम साध्वीश्री के कठिन प्रयत्न की आत्मिक अनुमोदना करते हैं। निःसंदेह, जैन विधि की इस अनमोल निधि से श्रावक-श्राविका, श्रमण-श्रमणी, विद्धान-विचारक सभी लाभान्वित होंगे। यह विश्वास करते हैं कि वर्तमान युवा पीढ़ी के लिए भी यह कृति अति प्रासंगिक होगी, क्योंकि इसके माध्यम से उन्हें आचार-पद्धति यानि विधि-विधानों का वैज्ञानिक पक्ष भी ज्ञात होगा और वह अधिक आचार निष्ठ बन सकेगी।

साध्वीश्री इसी प्रकार जिनशासन की सेवा में समर्पित रहकर स्व-पर विकास में उपयोगी बनें, यही मंगलकामना।

मुनि महेन्द्रसागर

1.2.13 भद्रावती

विदुषी आर्या रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन विधि विधानों पर विविध पक्षीय बृहद शोध कार्य संपन्न किया है। चार भागों में विभाजित एवं 23 खण्डों में वर्गीकृत यह विशाल कार्य निःसंदेह अनुमोदनीय, प्रशंसनीय एवं अभिनंदनीय है।

शासन देव से प्रार्थना है कि उनकी बौद्धिक क्षमता में दिन दूगुनी रात चौगुनी वृद्धि हो। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ज्ञान गुण की वृद्धि के साथ आत्म ज्ञान प्राप्ति में सहायक बनें।

यह शोध ग्रन्थ ज्ञान पिपासुओं की पिपासा को शान्त करे, यही मनोहर अभिलाषा।

महत्तरा मनोहर श्री चरणरज
प्रवर्त्तिनी कीर्तिप्रभा श्रीजी

दूध को दही में परिवर्तित
करना सरल है। जामन डालिए
और दही तैयार हो जाता है।
किन्तु, दही से मक्खन निकालना
कठिन है। इसके लिए दही को
मथना पड़ता है। तब कहीं
जाकर मक्खन प्राप्त होता है।
इसी प्रकार अध्ययन एक
अपेक्षा से सरल है, किन्तु
तुलनात्मक अध्ययन कठिन है।
इसके लिए कई शास्त्रों को
मथना पड़ता है।
साध्वी सौम्यगुणा श्री ने जैन
विधि-विधानों पर रचित साहित्य

का मंथन करके एक सुंदर चिंतन
प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है
वह अत्यंत अनुमोदनीय एवं
प्रशंसनीय है।

शुभकामना व्यक्त
करती हूँ कि यह
शास्त्रमंथन अनेक साधकों
के कर्मबंधन तोड़ने में
सहायक बने।

साध्वी संवेगनिधि

सुश्रावक श्री कान्तिलालजी मुकीम द्वारा शोध प्रबंध सार संप्राप्त हुआ। विदुषी साध्वी श्री सौम्यगुणाजी के शोधसार ग्रन्थ को देखकर ही कल्पना होने लगी कि शोध ग्रन्थ कितना विराट्काय होगा। वर्षों के अथक परिश्रम एवं सतत रुचि पूर्वक किए गए कार्य का यह सुफल है।

वैदुष्य सह विशालता इस शोध ग्रन्थ की विशेषता है।

हमारी हार्दिक शुभकामना है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका बहुमुखी विकास हो! जिनशासन के गगन में उनकी प्रतिभा, पवित्रता एवं पुण्य का दिव्यनाद हो। किं बहुना!

साध्वी मणिप्रभा श्री
भद्रावती तीर्थ

मेघनाद

अनुशासन एक सुगठित प्रणाली है। वैयक्तिक प्रगति का प्रश्न हो या सामुदायिक विकास का, अनुशासन का होना अनिवार्य है। अनुशासन का मूल उद्देश्य समस्याओं का निराकरण, हृदय परिवर्तन एवं वैचारिक प्रदूषणों से मुक्त होना है।

अनुशासन वह सुनियोजित प्रवृत्ति है जिसके माध्यम से व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र को एकता सूत्र में बांधा जा सकता है।

अनुशासन, व्यवस्था और मर्यादा से समन्वित होता है। अनुशासन आधार है और व्यवस्था आधेय हैं। अनुशासन किया जाता है जबकि व्यवस्था का सूत्रपात मर्यादा से होता है।

यदि व्यावहारिक धरातल पर विचार करें तो सामाजिक एवं राष्ट्रीय विकास के लिए अनुशासन एक मूल आवश्यक तत्त्व है। चाहे राजशासन हो या धर्मशासन, घर हो अथवा ऑफिस हर क्षेत्र में अनुशासन का महत्त्व एवं प्रभुत्व है। अनुशासन की धुरि पर ही प्रगति की यात्रा गतिमान रहती है। यह प्रणाली सीमित एवं मर्यादित जीवन जीने की शिक्षा देती है।

जैन संस्कृति में संघ व्यवस्था के कई आधार तत्त्व रहे हैं। आचार्य, उपाध्याय, गणी, प्रवर्त्तक आदि पदों का उद्भव व्यवस्थामूलक ध्येय को लेकर ही हुआ है। जैन संघ को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने में आचार्य आदि पदवीधरों का अमूल्य योगदान रहा है।

साध्वी सौम्यगुणाजी द्वारा आलेखित शोध प्रबन्ध का यह सप्तम भाग पद-व्यवस्था से सम्बन्धित है। इसमें आचार्य आदि पदस्थ मुनियों के कर्त्तव्य, लक्षण, उपयोगिता, पद स्थापना विधि आदि अनेक अनछुए विषयों का सरस, सुबोध एवं हृदयग्राही शैली में प्रतिपादन किया गया है जो गृहस्थ एवं श्रमण, उभय वर्गीय जिज्ञासुओं के लिए ज्ञान की नयी रश्मियाँ प्रसरित करता रहेगा।

मंगलाकांक्षिणी
आर्य्या शशिप्रभा श्री

दीक्षा गुरु प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.
एक परिचय

रजताभ रजकणों से रंजित राजस्थान असंख्य कीर्ति गाथाओं का वह रश्मि पुंज है जिसने अपनी आभा के द्वारा संपूर्ण धरा को देदीप्यमान किया है। इतिहास के पन्नों में जिसकी पावन पाण्डुलिपियाँ अंकित है ऐसे रंगीले राजस्थान का विश्रुत नगर है जयपुर। इस जौहरियों की नगरी ने अनेक दिव्य रत्न इस वसुधा को अर्पित किए। उन्हीं में से कोहिनूर बनकर जैन संघ की आभा को दीप्त करने वाला नाम है– पूज्या प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.।

आपश्री इस कलियुग में सतयुग का बोध कराने वाली सहज साधिका थी। चतुर्थ आरे का दिव्य अवतार थी। जयपुर की पुण्य धरा से आपका विशेष सम्बन्ध रहा है। आपके जीवन की अधिकांश महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जैसे– जन्म, विवाह, दीक्षा, देह विलय आदि इसी वसुधा की साक्षी में घटित हुए।

आपका जीवन प्राकृतिक संयोगों का अनुपम उदाहरण था। जैन परम्परा के तेरापंथी आम्नाय में आपका जन्म, स्थानकवासी परम्परा में विवाह एवं मन्दिरमार्गी खरतर परम्परा में प्रव्रज्या सम्पन्न हुई। आपके जीवन का यही त्रिवेणी संगम रत्नत्रय की साधना के रूप में जीवन्त हुआ।

आपका जन्म वैशाखी बुद्ध पूर्णिमा के पर्व दिवस के दिन हुआ। आप उन्हीं के समान तत्त्ववेत्ता, अध्यात्म योगी, प्रज्ञाशील साधक थी। सज्जनता, मधुरता, सरलता, सहजता, संवेदनशीलता, परदुःखकातरता आदि गुण तो आप में जन्मतः परिलक्षित होते थे। इसी कारण आपका नाम सज्जन रखा गया और यही नाम दीक्षा के बाद भी प्रवर्त्तित रहा।

संयम ग्रहण हेतु दीर्घ संघर्ष करने के बावजूद भी आपने विनय, मृदुता, साहस एवं मनोबल डिगने नहीं दिया। अन्ततः 35 वर्ष की आयु में पूज्या प्रवर्त्तिनी ज्ञान श्रीजी म.सा. के चरणों में भागवती दीक्षा अंगीकार की।

दीवान परिवार के राजशाही ठाठ में रहने के बाद भी संयमी जीवन का हर छोटा-बड़ा कार्य आप अत्यंत सहजता पूर्वक करती थी। छोटे-बड़े सभी की

सेवा हेतु सदैव तत्पर रहती थी। आपका जीवन सद्‌गुणों से युक्त विद्वत्ता की दिव्य माला था। आप में विद्यमान गुण शास्त्र की निम्न पंक्तियों को चरितार्थ करते थे-

शीलं परहितासक्ति, रनुत्सेकः क्षमा धृतिः।
अलोभश्चेति विद्यायाः, परिपाकोज्ज्वलं फलः ।।

अर्थात शील, परोपकार, विनय, क्षमा, धैर्य, निर्लोभता आदि विद्या की पूर्णता के उज्ज्वल फल हैं।

अहिंसा, तप साधना, सत्यनिष्ठा, गम्भीरता, विनम्रता एवं विद्वानों के प्रति असीम श्रद्धा उनकी विद्वत्ता की परिधि में शामिल थे। वे केवल पुस्तकें पढ़कर नहीं अपितु उन्हें आचरण में उतार कर महान बनी थी। आपको शब्द और स्वर की साधना का गुण भी सहज उपलब्ध था।

दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात आप 20 वर्षों तक गुरु एवं गुरु भगिनियों की सेवा में जयपुर रही। तदनन्तर कल्याणक भूमियों की स्पर्शना हेतु पूर्वी एवं उत्तरी भारत की पदयात्रा की। आपश्री ने 65 वर्ष की आयु और उसमें भी ज्येष्ठ महीने की भयंकर गर्मी में सिद्धाचल तीर्थ की नव्वाणु यात्रा कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।

राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार आदि क्षेत्रों में धर्म की सरिता प्रवाहित करते हुए भी आप सदैव ज्ञानदान एवं ज्ञानपान में संलग्न रहती थी। इसी कारण लोक परिचय, लोकैषणा, लोकाशंसा आदि से अत्यंत दूर रही।

आपश्री प्रखर वक्ता, श्रेष्ठ साहित्य सर्जिका, तत्त्व चिंतिका, आशु कवयित्री एवं बहुभाषाविद थी। विद्वदवर्ग में आप सर्वोत्तम स्थान रखती थी। हिन्दी, गुजराती, मारवाड़ी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी आदि अनेक भाषाओं पर आपका सर्वाधिकार था। जैन दर्शन के प्रत्येक विषय का आपको मर्मस्पर्शी ज्ञान था। आप ज्योतिष, व्याकरण, अलंकार, साहित्य, इतिहास, शकुन शास्त्र, योग आदि विषयों की भी परम वेत्ता थी।

उपलब्ध सहस्र रचनाएँ तथा अनुवादित सम्पादित एवं लिखित साहित्य आपकी कवित्व शक्ति और विलक्षण प्रज्ञा को प्रकट करते हैं।

प्रभु दर्शन में तन्मयता, प्रतिपल आत्म रमणता, स्वाध्याय मग्नता, अध्यात्म लीनता, निस्पृहता, अप्रमत्तता, पूज्यों के प्रति लघुता एवं छोटों के प्रति मृदुता आदि गुण आपश्री में बेजोड़ थे। हठवाद, आग्रह, तर्क-वितर्क,

अहंकार, स्वार्थ भावना का आप में लवलेश भी नहीं था। सभी के प्रति समान स्नेह एवं मृदु व्यवहार, निरपेक्षता एवं अंतरंग विरक्तता के कारण आप सर्वजन प्रिय और आदरणीय थी।

आपकी गुण गरिमा से प्रभावित होकर गुरुजनों एवं विद्वानों द्वारा आपको आगम ज्योति, शास्त्र मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, अध्यात्म योगिनी आदि सार्थक पदों से अलंकृत किया गया। वहीं सकल श्री संघ द्वारा आपको साध्वी समुदाय में सर्वोच्च प्रवर्त्तिनी पद से भी विभूषित किया गया।

आपश्री के उदात्त व्यक्तित्व एवं कर्मशील कर्तृत्व से प्रभावित हजारों श्रद्धालुओं की आस्था को 'श्रमणी' अभिनन्दन ग्रन्थ के रूप में लोकार्पित किया गया। खरतरगच्छ परम्परा में अब तक आप ही एक मात्र ऐसी साध्वी हैं जिन पर अभिनन्दन ग्रन्थ लिखा गया है।

आप में समस्त गुण चरम सीमा पर परिलक्षित होते थे। कोई सद्गुण ऐसा नहीं था जिसके दर्शन आप में नहीं होते हो। जिसने आपको देखा वह आपका ही होकर रह गया।

आपके निरपेक्ष, निस्पृह एवं निरासक्त जीवन की पूर्णता जैन एवं जैनेतर दोनों परम्पराओं में मान्य, शाश्वत आराधना तिथि **'मौन एकादशी'** पर्व के दिन हुई। इस पावन तिथि के दिन आपने देह का त्याग कर सदा के लिए मौन धारण कर लिया। आपके इस समाधिमरण को श्रेष्ठ मरण के रूप में सिद्ध करते हुए उपाध्याय मणिप्रभ सागरजी म.सा. ने लिखा है-

महिमा तेरी क्या गाये हम, दिन कैसा स्वीकार किया।
मौन ग्यारस माला जपते, मौन सर्वथा धार लिया
गुरुवर्य्या तुम अमर रहोगी, साधक कभी न मरते हैं।।

आज परम पूज्या संघरत्ना शशिप्रभा श्रीजी म.सा. आपके मंडल का सम्यक संचालन कर रही हैं। यद्यपि आपका विचरण क्षेत्र अल्प रहा परंतु आज आपका नाम दिग्दिगन्त व्याप्त है। आपके नाम स्मरण मात्र से ही हर प्रकार की Tension एवं विपदाएँ दूर हो जाती है।

●

शिक्षा गुरु पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. एक परिचय

'धोरों की धरती' के नाम से विख्यात राजस्थान अगणित यशोगाथाओं का उद्‌भव स्थल है। इस बहुरत्ना वसुंधरा पर अनेकशः वीर योद्धाओं, परमात्म भक्तों एवं ऋषि-महर्षियों का जन्म हुआ है। इसी रंग-रंगीले राजस्थान की परम पुण्यवंती साधना भूमि है श्री फलौदी। नयन रम्य जिनालय, दादाबाड़ियों एवं स्वाध्याय गुंज से शोभायमान उपाश्रय इसकी ऐतिहासिक धर्म समृद्धि एवं शासन समर्पण के प्रबल प्रतीक हैं। इस मातृभूमि ने अपने उर्वरा से कई अमूल्य रत्न जिनशासन की सेवा में अर्पित किए हैं। चाहे फिर वह साधु-साध्वी के रूप में हो या श्रावक-श्राविका के रूप में। वि.सं. 2001 की भाद्रकृष्णा अमावस्या को धर्मनिष्ठ दानवीर ताराचंदजी एवं सरल स्वभावी बालादेवी गोलेछा के गृहांगण में एक बालिका की किलकारियां गूंज रही थी। अमावस्या के दिन उदित हुई यह किरण भविष्य में जिनशासन की अनुपम किरण बनकर चमकेगी यह कौन जानता था? कहते हैं सज्जनों के सम्पर्क में आने से दुर्जन भी सज्जन बन जाते हैं तब सम्यकदृष्टि जीव तो निःसन्देह सज्जन का संग मिलने पर स्वयमेव ही महानता को प्राप्त कर लेते हैं।

किरण में तप त्याग और वैराग्य के भाव जन्मजात थे। इधर पारिवारिक संस्कारों ने उसे अधिक उफान दिया। पूर्वोपार्जित सत्संस्कारों का जागरण हुआ और वह भुआ महाराज उपयोग श्रीजी के पथ पर अग्रसर हुई। अपने बाल मन एवं कोमल तन को गुरु चरणों में समर्पित कर 14 वर्ष की अल्पायु में ही किरण एक तेजस्वी सूर्य रश्मि से शीतल शशि के रूप में प्रवर्त्तित हो गई। आचार्य श्री कवीन्द्र सागर सूरीश्वरजी म.सा. की निश्रा में मरूधर ज्योति मणिप्रभा श्रीजी एवं आपकी बड़ी दीक्षा एक साथ सम्पन्न हुई।

इसे पुण्य संयोग कहें या गुरु कृपा की फलश्रुति? आपने 32 वर्ष के गुरु सान्निध्य काल में मात्र एक चातुर्मास गुरुवर्य्याश्री से अलग किया और वह भी पूज्या प्रवर्त्तिनी विचक्षण श्रीजी म.सा. की आज्ञा से। 32 वर्ष की सान्निध्यता में आप कुल 32 महीने भी गुरु सेवा से वंचित नहीं रही। आपके जीवन की यह

विशेषता पूज्यवरों के प्रति सर्वात्मना समर्पण, अगाध सेवा भाव एवं गुरुकुल वास के महत्त्व को इंगित करती है।

आपश्री सरलता, सहजता, सहनशीलता, सहृदयता, विनम्रता, सहिष्णुता, दीर्घदर्शिता आदि अनेक दिव्य गुणों की पुंज हैं। संयम पालन के प्रति आपकी निष्ठा एवं मनोबल की दृढ़ता यह आपके जिन शासन समर्पण की सूचक है। आपका निश्छल, निष्कपट, निर्दम्भ व्यक्तित्व जनमानस में आपकी छवि को चिरस्थापित करता है। आपश्री का बाह्य आचार जितना अनुमोदनीय है, आंतरिक भावों की निर्मलता भी उतनी ही अनुशंसनीय है। आपकी इसी गुणवत्ता ने कई पथ भ्रष्टों को भी धर्माभिमुख किया है। आपका व्यवहार हर वर्ग के एवं हर उम्र के व्यक्तियों के साथ एक समान रहता है। इसी कारण आप आबाल वृद्ध सभी में समादृत हैं। हर कोई बिना किसी संकोच या हिचक के आपके समक्ष अपने मनोभाव अभिव्यक्त कर सकता है।

शास्त्रों में कहा गया है 'सन्त हृदय नवनीत समाना'– आपका हृदय दूसरों के लिए मक्खन के समान कोमल और सहिष्णु है। वहीं इसके विपरीत आप स्वयं के लिए वज्र से भी अधिक कठोर हैं। आपश्री अपने नियमों के प्रति अत्यन्त दृढ़ एवं अतुल मनोबली हैं। आज जीवन के लगभग सत्तर बसंत पार करने के बाद भी आप युवाओं के समान अप्रमत्त, स्फुर्तिमान एवं उत्साही रहती हैं। विहार में आपश्री की गति समस्त साध्वी मंडल से अधिक होती है।

आहार आदि शारीरिक आवश्यकताओं को आपने अल्पायु से ही सीमित एवं नियंत्रित कर रखा है। नित्य एकाशना, पुरिमड्ढ प्रत्याख्यान आदि के प्रति आप अत्यंत चुस्त हैं। जिस प्रकार सिंह अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने हेतु पूर्णत: सचेत एवं तत्पर रहता है वैसे ही आपश्री विषय-कषाय रूपी शत्रुओं का दमन करने में सतत जागरूक रहती हैं। विषय वर्धक अधिकांश विगय जैसे– मिठाई, कढ़ाई, दही आदि का आपके सर्वथा त्याग है।

आपश्री आगम, धर्म दर्शन, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदि विविध विषयों की ज्ञाता एवं उनकी अधिकारिणी है। व्यावहारिक स्तर पर भी आपने एम.ए. के समकक्ष दर्शनाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की है। अध्ययन के संस्कार आपको गुरु परम्परा से वंशानुगत रूप में प्राप्त हुए हैं। आपकी निश्रागत गुरु भगिनियों एवं शिष्याओं के अध्ययन, संयम पालन तथा आत्मोकर्ष के प्रति

आप सदैव सचेष्ट रहती हैं। आपश्री एक सफल अनुशास्ता हैं यही वजह है कि आपकी देखरेख में सज्जन मण्डल की फुलवारी उन्नति एवं उत्कर्ष को प्राप्त कर रही हैं।

तप और जप आपके जीवन का अभिन्न अंग है। 'ॐ ह्रीं अर्हं' पद की रटना प्रतिपल आपके रोम-रोम में गुंजायमान रहती है। जीवन की कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी आप तदनुकूल मन:स्थिति बना लेती हैं। आप हमेशा कहती हैं कि

जो-जो देखा वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

आपकी परमात्म भक्ति एवं गुरुदेव के प्रति प्रवर्धमान श्रद्धा दर्शनीय है। आपका आगमानुरूप वर्तन आपको निसन्देह महान पुरुषों की कोटी में उपस्थित करता है। आपश्री एक जन प्रभावी वक्ता एवं सफल शासन सेविका हैं।

आपश्री की प्रेरणा से जिनशासन की शाश्वत परम्परा को अक्षुण्ण रखने में सहयोगी अनेकश: जिनमंदिरों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार हुआ है। श्रुत साहित्य के संवर्धन में आपश्री के साथ आपकी निश्रारत साध्वी मंडल का भी विशिष्ट योगदान रहा है। अब तक 25-30 पुस्तकों का लेखन-संपादन आपकी प्रेरणा से साध्वी मंडल द्वारा हो चुका है एवं अनेक विषयों पर कार्य अभी भी गतिमान है।

भारत के विविध क्षेत्रों का पद भ्रमण करते हुए आपने अनेक क्षेत्रों में धर्म एवं ज्ञान की ज्योति जागृत की है। राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, छ.ग., यू.पी., बिहार, बंगाल, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र, झारखंड, आन्ध्रप्रदेश आदि अनेक प्रान्तों की यात्रा कर आपने उन्हें अपनी पदरज से पवित्र किया है। इन क्षेत्रों में हुए आपके ऐतिहासिक चातुर्मासों की चिरस्मृति सभी के मानस पटल पर सदैव अंकित रहेगी। अन्त में यही कहूँगी-

चिन्तन में जिसके हो क्षमता, वाणी में सहज मधुरता हो।
आचरण में संयम झलके, वह श्रद्धास्पद बन जाता है।
जो अन्तर में ही रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।
जो भीतर में ही भ्रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।।

ऐसी विरल साधिका आर्यारत्न पूज्याश्री के चरण सरोजों में मेरा जीवन सदा भ्रमरवत् गुंजन करता रहे, यही अन्तरकामना।

कैसे पाई सौम्याजी ने अपनी मंजिल

साध्वी प्रियदर्शनाश्री

आज सौम्यगुणाजी को सफलता के इस उत्तुंग शिखर पर देखकर ऐसा लग रहा है मानो चिर रात्रि के बाद अब यह मनभावन अरुणिम वेला उदित हुई हो। आज इस सफलता के पीछे रहा उनका अथक परिश्रम, अनेकशः बाधाएँ, विषय की दुरूहता एवं दीर्घ प्रयास के विषय में सोचकर ही मन अभिभूत हो जाता है। जिस प्रकार किसान बीज बोने से लेकर फल प्राप्ति तक अनेक प्रकार से स्वयं को तपाता एवं खपाता है और तब जाकर उसे फल की प्राप्ति होती है या फिर जब कोई माता नौ महीने तक गर्भ में बालक को धारण करती है तब उसे मातृत्व सुख की प्राप्ति होती है ठीक उसी प्रकार सौम्यगुणाजी ने भी इस कार्य की सिद्धि हेतु मात्र एक या दो वर्ष नहीं अपितु सत्रह वर्ष तक निरन्तर कठिन साधना की है। इसी साधना की आँच में तपकर आज 23 Volumes के बृहद् रूप में इनका स्वर्णिम कार्य जन ग्राह्य बन रहा है।

आज भी एक-एक घटना मेरे मानस पटल पर फिल्म के रूप में उभर रही है। ऐसा लगता है मानो अभी की ही बात हो, सौम्याजी को हमारे साथ रहते हुए 28 वर्ष होने जा रहे हैं और इन वर्षों में इन्हें एक सुन्दर सलोनी गुड़िया से एक विदुषी शासन प्रभाविका, गूढ़ान्वेषी साधिका बनते देखा है। एक पाँचवीं पढ़ी हुई लड़की आज D.LIt की पदवी से विभूषित होने वाली है। वह भी कोई सामान्य D.Lit. नहीं, 22-23 भागों में किया गया एक बृहद् कार्य और जिसका एक-एक भाग एक शोध प्रबन्ध (Thesis) के समान है। अब तक शायद ही किसी भी शोधार्थी ने डी.लिट् कार्य इतने अधिक Volumes में सम्पन्न किया होगा। लाडनूं विश्वविद्यालय की प्रथम डी.लिट्. शोधार्थी सौम्याजी के इस कार्य ने विश्वविद्यालय के ऐतिहासिक कार्यों में स्वर्णिम पृष्ठ जोड़ते हुए श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत किया है।

सत्रह वर्ष पहले हम लोग पूज्या गुरुवर्य्याश्री के साथ पूर्वी क्षेत्र की स्पर्शना कर रहे थे। बनारस में डॉ. सागरमलजी द्वारा आगम ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को जानने

का यह एक स्वर्णिम अवसर था अतः सन् 1995 में गुर्वाज्ञा से मैं, सौम्याजी एवं नूतन दीक्षित साध्वीजी ने भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी की ओर अपने कदम बढ़ाए। शिखरजी आदि तीर्थों की यात्रा करते हुए हम लोग धर्म नगरी काशी पहुँचे।

वाराणसी स्थित पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वहाँ के मन्दिरों एवं पंडितों के मंत्रनाद से दूर नीरव वातावरण में अद्भुत शांति का अनुभव करवा रहा था। अध्ययन हेतु मनोज्ञ एवं अनुकूल स्थान था। संयोगवश मरूधर ज्योति पूज्या मणिप्रभा श्रीजी म.सा. की निश्रावर्ती, मेरी बचपन की सखी पूज्या विद्युतप्रभा श्रीजी आदि भी अध्ययनार्थ वहाँ पधारी थी।

डॉ. सागरमलजी से विचार विमर्श करने के पश्चात आचार्य जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा पर शोध करने का निर्णय लिया गया। सन् 1973 में पूज्य गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. बंगाल की भूमि पर पधारी थी। स्वाध्याय रसिक आगमज्ञ श्री अगरचन्दजी नाहटा, श्री भँवलालजी नाहटा से पूज्याश्री की पारस्परिक स्वाध्याय चर्चा चलती रहती थी। एकदा पूज्याश्री ने कहा कि मेरी हार्दिक इच्छा है जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों का अनुवाद हो। पूज्याश्री योग-संयोग वश उसका अनुवाद नहीं कर पाई। विषय का चयन करते समय मुझे गुरुवर्य्या श्री की वही इच्छा याद आई या फिर यह कहूं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सौम्याजी की योग्यता देखते हुए शायद पूज्याश्री ने ही मुझे इसकी अन्तस् प्रेरणा दी।

यद्यपि यह ग्रंथ विधि-विधान के क्षेत्र में बहु उपयोगी था परन्तु प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में आबद्ध होने के कारण उसका हिन्दी अनुवाद करना आवश्यक हो गया। सौम्याजी के शोध की कठिन परीक्षाएँ यहीं से प्रारम्भ हो गई। उन्होंने सर्वप्रथम प्राकृत व्याकरण का ज्ञान किया। तत्पश्चात दिन-रात एक कर पाँच महीनों में ही इस कठिन ग्रंथ का अनुवाद अपनी क्षमता अनुसार कर डाला। लेकिन यहीं पर समस्याएँ समाप्त नहीं हुई। सौम्यगुणाजी जो कि राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर से दर्शनाचार्य (एम.ए.) थीं, बनारस में पी-एच.डी. हेतु आवेदन नहीं कर सकती थी। जिस लक्ष्य को लेकर आए थे वह कार्य पूर्ण नहीं होने से मन थोड़ा विचलित हुआ परन्तु विश्वविद्यालय के नियमों के कारण हम कुछ भी करने में असमर्थ थे अतः पूज्य गुरुवर्य्याश्री के चरणों में पहुँचने हेतु पुनः कलकत्ता की ओर प्रयाण किया। हमारा वह चातुर्मास संघ आग्रह के कारण पुनः कलकत्ता नगरी

में हुआ। वहाँ से चातुर्मास पूर्णकर धर्मानुरागी जनों को शीघ्र आने का आश्वासन देते हुए पूज्याश्री के साथ जयपुर की ओर विहार किया। जयपुर में आगम ज्योति, पूज्या गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की समाधि स्थली मोहनबाड़ी में मूर्ति प्रतिष्ठा का आयोजन था अत: उग्र विहार कर हम लोग जयपुर पहुँचें। बहुत ही सुन्दर और भव्य रूप में कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। जयपुर संघ के अति आग्रह से पूज्याश्री एवं सौम्यगुणाजी का चातुर्मास जयपुर ही हुआ। जयपुर का स्वाध्यायी श्रावक वर्ग सौम्याजी से काफी प्रभावित था। यद्यपि बनारस में पी-एच.डी. नहीं हो पाई थी किन्तु सौम्याजी का अध्ययन आंशिक रूप में चालू था। उसी बीच डॉ. सागरमलजी के निर्देशानुसार जयपुर संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रो. डॉ. शीतलप्रसाद जैन के मार्गदर्शन में धर्मानुरागी श्री नवरतनमलजी श्रीमाल के डेढ़ वर्ष के अथक प्रयास से उनका रजिस्ट्रेशन हुआ। सामाजिक जिम्मेदारियों को संभालते हुए उन्होंने अपने कार्य को गति दी।

पी-एच.डी. का कार्य प्रारम्भ तो कर लिया परन्तु साधु जीवन की मर्यादा, विषय की दुरूहता एवं शोध आदि के विषय में अनुभवहीनता से कई बाधाएँ उत्पन्न होती रही। निर्देशक महोदय दिगम्बर परम्परा के होने से श्वेताम्बर विधि-विधानों के विषय में उनसे भी विशेष सहयोग मिलना मुश्किल था अत: सौम्याजी को जो करना था अपने बलबूते पर ही करना था। यह सौम्याजी ही थी जिन्होंने इतनी बाधाओं और रूकावटों को पार कर इस शोध कार्य को अंजाम दिया।

जयपुर के पश्चात कुशल गुरुदेव की प्रत्यक्ष स्थली मालपुरा में चातुर्मास हुआ। वहाँ पर लाइब्रेरी आदि की असुविधाओं के बीच भी उन्होंने अपने कार्य को पूर्ण करने का प्रयास किया। तदनन्तर जयपुर में एक महीना रहकर महोपाध्याय विनयसागरजी से इसका करेक्शन करवाया तथा कुछ सामग्री संशोधन हेतु डॉ. सागरमलजी को भेजी। यहाँ तक तो उनकी कार्य गति अच्छी रही किन्तु इसके बाद लम्बे विहार होने से उनका कार्य प्राय: अवरूद्ध हो गया। फिर अगला चातुर्मास पालीताणा हुआ। वहाँ पर आने वाले यात्रीगणों की भीड़ और तप साधना-आराधना में अध्ययन नहींवत ही हो पाया। पुन: साधु जीवन के नियमानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर कदम बढ़ाए। रायपुर (छ.ग.) जाने हेतु लम्बे विहारों के चलते वे अपने कार्य को किंचित भी संपादित नहीं कर पा रही थी। रायपुर पहुँचते-पहुँचते Registration की अवधि अन्तिम चरण तक पहुँच चुकी थी अत: चातुर्मास के पश्चात मुदितप्रज्ञा श्रीजी और इन्हें रायपुर छोड़कर शेष लोगों ने अन्य आसपास

के क्षेत्रों की स्पर्शना की। रायपुर निवासी सुनीलजी बोथरा के सहयोग से दो-तीन मास में पूरे काम को शोध प्रबन्ध का रूप देकर उसे सन् 2001 में राजस्थान विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया। येन केन प्रकारेण इस शोध कार्य को इन्होंने स्वयं की हिम्मत से पूर्ण कर ही दिया।

तदनन्तर 2002 का बैंगलोर चातुर्मास सम्पन्न कर मालेगाँव पहुँचे। वहाँ पर संघ के प्रयासों से चातुर्मास के अन्तिम दिन उनका शोध वायवा संपन्न हुआ और उन्हें कुछ ही समय में पी-एच.डी. की पदवी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की गई। सन् 1995 बनारस में प्रारम्भ हुआ कार्य सन् 2003 मालेगाँव में पूर्ण हुआ। इस कालावधि के दौरान समस्त संघों को उनकी पी-एच.डी. के विषय में ज्ञात हो चुका था और विषय भी रुचिकर था अत: उसे प्रकाशित करने हेतु विविध संघों से आग्रह होने लगा। इसी आग्रह ने उनके शोध को एक नया मोड़ दिया। सौम्याजी कहती 'मेरे पास बताने को बहुत कुछ है, परन्तु वह प्रकाशन योग्य नहीं है' और सही मायने में शोध प्रबन्ध सामान्य जनता के लिए उतना सुगम नहीं होता अत: गुरुवर्य्या श्री के पालीताना चातुर्मास के दौरान विधिमार्गप्रपा के अर्थ का संशोधन एवं अवान्तर विधियों पर ठोस कार्य करने हेतु वे अहमदाबाद पहुँची। इसी दौरान पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. ने भी इस कार्य का पूर्ण सर्वेक्षण कर उसमें अपेक्षित सुधार करवाए। तदनन्तर L.D. Institute के प्रोफेसर जितेन्द्र भाई, फिर कोबा लाइब्रेरी से मनोज भाई सभी के सहयोग से विधिमार्गप्रपा के अर्थ में रही त्रुटियों को सुधारते हुए उसे नवीन रूप दिया।

इसी अध्ययन काल के दौरान जब वे कोबा में विधि ग्रन्थों का आलोडन कर रही थी तब डॉ. सागरमलजी का बायपास सर्जरी हेतु वहाँ पदार्पण हुआ। सौम्याजी को वहाँ अध्ययनरत देखकर बोले– "आप तो हमारी विद्यार्थी हो, यहाँ क्या कर रही हो? शाजापुर पधारिए मैं यथासंभव हर सहयोग देने का प्रयास करूँगा।" यद्यपि विधि विधान डॉ. सागरमलजी का विषय नहीं था परन्तु उनकी ज्ञान प्रौढ़ता एवं अनुभव शीलता सौम्याजी को सही दिशा देने हेतु पर्याप्त थी। वहाँ से विधिमार्गप्रपा का नवीनीकरण कर वे गुरुवर्य्याश्री के साथ मुम्बई चातुर्मासार्थ गईं। महावीर स्वामी देरासर पायधुनी से विधिप्रपा का प्रकाशन बहुत ही सुन्दर रूप में हुआ।

किसी भी कार्य में बार-बार बाधाएँ आए तो उत्साह एवं प्रवाह स्वत: मन्द हो जाता है, परन्तु सौम्याजी का उत्साह विपरीत परिस्थितियों में भी वृद्धिंगत रहा।

मुम्बई का चातुर्मास पूर्णकर वे शाजापुर गईं। वहाँ जाकर डॉ. साहब ने डी.लिट करने का सुझाव दिया और लाडनूं विश्वविद्यालय के अन्तर्गत उन्हीं के निर्देशन में रजिस्ट्रेशन भी हो गया। यह लाडनूं विश्व भारती का प्रथम डी.लिट. रजिस्ट्रेशन था। सौम्याजी से सब कुछ ज्ञात होने के बाद मैंने उनसे कहा– प्रत्येक विधि पर अलग-अलग कार्य हो तो अच्छा है और उन्होंने वैसा ही किया। परन्तु जब कार्य प्रारम्भ किया था तब वह इतना विराट रूप ले लेगा यह अनुमान भी नहीं था। शाजापुर में रहते हुए इन्होंने छ:सात विधियों पर अपना कार्य पूर्ण किया। फिर गुर्वाज्ञा से कार्य को बीच में छोड़ पुनः गुरुवर्य्या श्री के पास पहुँची। जयपुर एवं टाटा चातुर्मास के सम्पूर्ण सामाजिक दायित्वों को संभालते हुए पूज्याश्री के साथ रही।

शोध कार्य पूर्ण रूप से रूका हुआ था। डॉ.साहब ने सचेत किया कि समयावधि पूर्णता की ओर है अत: कार्य शीघ्र पूर्ण करें तो अच्छा रहेगा वरना रजिस्ट्रेशन रद्द भी हो सकता है। अब एक बार फिर से उन्हें अध्ययन कार्य को गति देनी थी। उन्होंने लघु भगिनी मण्डल के साथ लाइब्रेरी युक्त शान्त-नीरव स्थान हेतु वाराणसी की ओर प्रस्थान किया। इस बार लक्ष्य था कि कार्य को किसी भी प्रकार से पूर्ण करना है। उनकी योग्यता देखते हुए श्री संघ एवं गुरुवर्य्या श्री उन्हें अब समाज के कार्यों से जोड़े रखना चाहते थे परंतु कठोर परिश्रम युक्त उनके विशाल शोध कार्य को भी सम्पन्न करवाना आवश्यक था। बनारस पहुँचकर इन्होंने मुद्रा विधि को छोटा कार्य जानकर उसे पहले करने के विचार से उससे ही कार्य को प्रारम्भ किया। देखते ही देखते उस कार्य ने भी एक विराट रूप ले लिया। उनका यह मुद्रा कार्य विश्वस्तरीय कार्य था जिसमें उन्होंने जैन, हिन्दू, बौद्ध, योग एवं नाट्य परम्परा की सहस्राधिक हस्त मुद्राओं पर विशेष शोध किया। यद्यपि उन्होंने दिन-रात परिश्रम कर इस कार्य को 6-7 महीने में एक बार पूर्ण कर लिया, किन्तु उसके विभिन्न कार्य तो अन्त तक चलते रहे। तत्पश्चात उन्होंने अन्य कुछ विषयों पर और भी कार्य किया। उनकी कार्यनिष्ठा देख वहाँ के लोग हतप्रभ रह जाते थे। संघ-समाज के बीच स्वयं बड़े होने के कारण नहीं चाहते हुए भी सामाजिक दायित्व निभाने ही पड़ते थे।

सिर्फ बनारस में ही नहीं रायपुर के बाद जब भी वे अध्ययन हेतु कहीं गई तो उन्हें ही बड़े होकर जाना पड़ा। सभी गुरु बहिनों का विचरण शासन कार्यों हेतु भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में होने से इस समस्या का सामना भी उन्हें करना ही था।

साधु जीवन में बड़े होकर रहना अर्थात संघ-समाज-समुदाय की समस्त गतिविधियों पर ध्यान रखना, जो कि अध्ययन करने वालों के लिए संभव नहीं होता परंतु साधु जीवन यानी विपरीत परिस्थितियों का स्वीकार और जो इन्हें पार कर आगे बढ़ जाता है वह जीवन जीने की कला का मास्टर बन जाता है। इस शोधकार्य ने सौम्याजी को विधि-विधान के साथ जीवन के क्षेत्र में भी मात्र मास्टर नहीं अपितु विशेषज्ञ बना दिया।

पूज्य बड़े म.सा. बंगाल के क्षेत्र में विचरण कर रहे थे। कोलकाता वालों की हार्दिक इच्छा सौम्याजी को बुलाने की थी। वैसे जौहरी संघ के पदाधिकारी श्री प्रेमचन्दजी मोघा एवं मंत्री मणिलालजी दुसाज शाजापुर से ही उनके चातुर्मास हेतु आग्रह कर रहे थे। अत: न चाहते हुए भी कार्य को अर्ध विराम दे उन्हें कलकत्ता आना पड़ा। शाजापुर एवं बनारस प्रवास के दौरान किए गए शोध कार्य का कम्पोज करवाना बाकी था और एक-दो विषयों पर शोध भी। परंतु "जिसकी खाओ बाजरी उसकी बजाओ हाजरी" अत: एक और अवरोध शोध कार्य में आ चुका था। गुरुवर्य्या श्री ने सोचा था कि चातुर्मास के प्रारम्भिक दो महीने के पश्चात इन्हें प्रवचन आदि दायित्वों से निवृत्त कर देंगे परंतु समाज में रहकर यह सब संभव नहीं होता।

चातुर्मास के बाद गुरुवर्य्या श्री तो शेष क्षेत्रों की स्पर्शना हेतु निकल पड़ी किन्तु उन्हें शेष कार्य को पूर्णकर अन्तिम स्वरूप देने हेतु कोलकाता ही रखा। कोलकाता जैसी महानगरी एवं चिर-परिचित समुदाय के बीच तीव्र गति से अध्ययन असंभव था अत: उन्होंने मौन धारण कर लिया और सप्ताह में मात्र एक घंटा लोगों से धर्म चर्चा हेतु खुला रखा। फिर भी सामाजिक दायित्वों से पूर्ण मुक्ति संभव नहीं थी। इसी बीच कोलकाता संघ के आग्रह से एवं अध्ययन हेतु अन्य सुविधाओं को देखते हुए पूज्याश्री ने इनका चातुर्मास कलकत्ता घोषित कर दिया। पूज्याश्री से अलग हुए सौम्याजी को करीब सात महीने हो चुके थे। चातुर्मास सम्मुख था और वे अपनी जिम्मेदारी पर प्रथम बार स्वतंत्र चातुर्मास करने वाली थी।

जेठ महीने की भीषण गर्मी में उन्होंने गुरुवर्य्याश्री के दर्शनार्थ जाने का मानस बनाया और ऊपर से मानसून सिना ताने खड़ा था। अध्ययन कार्य पूर्ण करने हेतु समयावधि की तलवार तो उनके ऊपर लटक ही रही थी। इन परिस्थितियों में उन्होंने 35-40 कि.मी. प्रतिदिन की रफ्तार से दुर्गापुर की तरफ कदम बढ़ाए। कलकत्ता से दुर्गापुर और फिर पुन: कोलकाता की यात्रा में लगभग एक महीना

पढ़ाई नहींवत हुई। यद्यपि गुरुवर्य्याश्री के साथ चातुर्मासिक कार्यक्रमों की जिम्मेदारियाँ इन्हीं की होती है फिर भी अध्ययन आदि के कारण इनकी मानसिकता चातुर्मास संभालने की नहीं थी और किसी दृष्टि से उचित भी था। क्योंकि सबसे बड़े होने के कारण प्रत्येक कार्यभार का वहन इन्हीं को करना था अत: दो माह तक अध्ययन की गति पर पुन: ब्रेक लग गया। पूज्या श्री हमेशा फरमाती है कि-

जो जो देखा वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे ।।

सौम्याजी ने भी गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर संघ-समाज को समय ही नहीं अपितु भौतिकता में भटकते हुए मानव को धर्म की सही दिशा भी दिखाई। वर्तमान परिस्थितियों पर उनकी आम चर्चा से लोगों में धर्म को देखने का एक नया नजरिया विकसित हुआ। गुरुवर्य्याश्री एवं हम सभी को आन्तरिक आनंद की अनुभूति हो रही थी किन्तु सौम्याजी को वापस दुगुनी गति से अध्ययन में जुड़ना था। इधर कोलकाता संघ ने पूर्ण प्रयास किए फिर भी हिन्दी भाषा का कोई अच्छा कम्पोजर न मिलने से कम्पोजिंग कार्य बनारस में करवाया गया। दूरस्थ रहकर यह सब कार्य करवाना उनके लिए एक विषम समस्या थी। परंतु अब शायद वे इन सबके लिए सध गई थी, क्योंकि उनका यह कार्य ऐसी ही अनेक बाधाओं का सामना कर चुका था।

उधर सैंथिया चातुर्मास में पूज्याश्री का स्वास्थ्य अचानक दो-तीन बार बिगड़ गया। अत: वर्षावास पूर्णकर पूज्य गुरूवर्य्या श्री पुन: कोलकाता की ओर पधारी। सौम्याजी प्रसन्न थी क्योंकि गुरूवर्य्या श्री स्वयं उनके पास पधार रही थी। गुरुजनों की निश्रा प्राप्त करना हर विनीत शिष्य का मनेच्छित होता है। पूज्या श्री के आगमन से वे सामाजिक दायित्वों से मुक्त हो गई थी। अध्ययन के अन्तिम पड़ाव में गुरूवर्य्या श्री का साथ उनके लिए सुवर्ण संयोग था क्योंकि प्राय: शोध कार्य के दौरान पूज्याश्री उनसे दूर रही थी।

शोध समय पूर्णाहुति पर था। परंतु इस बृहद कार्य को इतनी विषमताओं के भंवर में फँसकर पूर्णता तक पहुँचाना एक कठिन कार्य था। कार्य अपनी गति से चल रहा था और समय अपनी धुरी पर। सबमिशन डेट आने वाली थी किन्तु कम्पोजिंग एवं प्रूफ रीडिंग आदि का काफी कार्य शेष था।

पूज्याश्री के प्रति अनन्य समर्पित श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा को जब इस स्थिति के बारे में ज्ञात हुआ तो उन्होंने युनिवर्सिटी द्वारा समयावधि बढ़ाने हेतु

अर्जी पत्र देने का सुझाव दिया। उनके हार्दिक प्रयासों से 6 महीने का एक्सटेंशन प्राप्त हुआ। इधर पूज्या श्री तो शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा सम्पन्न कर अन्य क्षेत्रों की ओर बढ़ने की इच्छुक थी। परंतु भविष्य के गर्भ में क्या छुपा है यह कोई नहीं जानता। कुछ विशिष्ट कारणों के चलते कोलकाता भवानीपुर स्थित शंखेश्वर मन्दिर की प्रतिष्ठा चातुर्मास के बाद होना निश्चित हुआ। अत: अब आठ-दस महीने तक बंगाल विचरण निश्चित था। सौम्याजी को अप्रतिम संयोग मिला था कार्य पूर्णता के लिए।

शासन देव उनकी कठिन से कठिन परीक्षा ले रहा था। शायद विषमताओं की अग्नि में तपकर वे सौम्याजी को खरा सोना बना रहे थे। कार्य अपनी पूर्णता की ओर पहुँचता इसी से पूर्व उनके द्वारा लिखित 23 खण्डों में से एक खण्ड की मूल कॉपी गुम हो गई। पुन: एक खण्ड का लेखन और समयावधि की अल्पता ने समस्याओं का चक्रव्यूह सा बना दिया। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। जिनपूजा क्रिया विधानों का एक मुख्य अंग है अत: उसे गौण करना या छोड़ देना भी संभव नहीं था। चांस लेते हुए एक बार पुन: Extension हेतु निवेदन पत्र भेजा गया। मुनि जीवन की कठिनता एवं शोध कार्य की विशालता के मद्देनजर एक बार पुन: चार महीने की अवधि युनिवर्सिटी के द्वारा प्राप्त हुई।

शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा निमित्त सम्पूर्ण साध्वी मंडल का चातुर्मास बकुल बगान स्थित लीलीजी मणिलालजी सुखानी के नूतन बंगले में होना निश्चित हुआ।

पूज्याश्री ने खडगपुर, टाटानगर आदि क्षेत्रों की ओर विहार किया। पाँच-छह साध्वीजी अध्ययन हेतु पौशाल में ही रूके थे। श्री जिनरंगसूरि पौशाल कोलकाता बड़ा बाजार में स्थित है। साधु-साध्वियों के लिए यह अत्यंत शाताकारी स्थान है। सौम्याजी को बनारस से कोलकाता लाने एवं अध्ययन पूर्ण करवाने में पौशाल के ट्रस्टियों की विशेष भूमिका रही है। सौम्याजी ने अपना अधिकांश अध्ययन काल वहाँ व्यतीत किया।

ट्रस्टीगण श्री कान्तिलालजी, कमलचंदजी, विमलचंदजी, मणिलालजी आदि ने भी हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की। संघ-समाज के सामान्य दायित्वों से बचाए रखा। इसी अध्ययन काल में बीकानेर हाल कोलकाता निवासी श्री खेमचंदजी बांठिया ने आत्मीयता पूर्वक सेवाएँ प्रदान कर इन लोगों को निश्चिन्त रखा। इसी तरह अनन्य सेवाभावी श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत (लालाबाबू) जो सौम्याजी को बहनवत मानते हैं उन्होंने एक भाई के समान उनकी हर आवश्यकता

का ध्यान रखा। कलकत्ता संघ सौम्याजी के लिए परिवारवत ही हो गया था। सम्पूर्ण संघ की एक ही भावना थी कि उनका अध्ययन कोलकाता में ही पूर्ण हो।

पूज्याश्री टाटानगर से कोलकाता की ओर पधार रही थी। सुयोग्या साध्वी सम्यग्दर्शनाजी उग्र विहार कर गुरुवर्य्याश्री के पास पहुँची थी। सौम्याजी निश्चिंत थी कि इस बार चातुर्मासिक दायित्व सुयोग्या सम्यग दर्शनाजी महाराज संभालेंगे। वे अपना अध्ययन उचित समयावधि में पूर्ण कर लेंगे। परंतु परिस्थिति विशेष से सम्यगजी महाराज का चातुर्मास खडगपुर ही हो गया।

सौम्याजी की शोधयात्रा में संघर्षों की समाप्ति ही नहीं हो रही थी। पुस्तक लेखन, चातुर्मासिक जिम्मेदारियाँ और प्रतिष्ठा की तैयारियाँ कोई समाधान दूर-दूर तक नजर नहीं आ रहा था। अध्ययन की महत्ता को समझते हुए पूज्याश्री एवं अमिताजी सुखानी ने उन्हें चातुर्मासिक दायित्वों से निवृत्त रहने का अनुनय किया किन्तु गुरु की शासन सेवा में सहयोगी बनने के लिए इन्होंने दो महीने गुरुवर्य्या श्री के साथ चातुर्मासिक दायित्वों का निर्वाह किया। फिर वह अपने अध्ययन में जुट गई।

कई बार मन में प्रश्न उठता कि हमारी प्यारी सौम्या इतना साहस कहाँ से लाती है। किसी कवि की पंक्तियाँ याद आ रही है–

सूरज से कह दो बेशक वह, अपने घर आराम करें।
चाँद सितारे जी भर सोएं, नहीं किसी का काम करें।
अगर अमावस से लड़ने की जिद कोई कर लेता है।
तो सौम्य गुणा सा जुगनु सारा, अंधकार हर लेता है।।

जिन पूजा एक विस्तृत विषय है। इसका पुनर्लेखन तो नियत अवधि में हो गया परंतु कम्पोजिंग आदि नहीं होने से शोध प्रबंध के तीसरे एवं चौथे भाग को तैयार करने के लिए समय की आवश्यकता थी। अब तीसरी बार लाडनूं *विश्वविद्यालय से Extension मिलना असंभव प्रतीत हो रहा था।*

श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा समस्त परिस्थितियों से अवगत थे। उन्होंने पूज्य गुरूवर्य्या श्री से निवेदन किया कि सौम्याजी को पूर्णत: निवृत्ति देकर कार्य शीघ्रातिशीघ्र करवाया जाए। विश्वविद्यालय के तत्सम्बन्धी नियमों के बारे में पता करके डेढ़ महीने की अन्तिम एवं विशिष्ट मौहलत दिलवाई। अब देरी होने का मतलब था Rejection of Work by University अत: त्वरा गति से कार्य चला।

सौम्याजी पर गुरुजनों की कृपा अनवरत रही है। पूज्य गुरूवर्य्या सज्जन श्रीजी म.सा. के प्रति वह विशेष श्रद्धा प्रणत हैं। अपने हर शुभ कर्म का निमित्त एवं उपादान उन्हें ही मानती हैं। इसे साक्षात गुरु कृपा की अनुश्रुति ही कहना होगा कि उनके समस्त कार्य स्वत: ग्यारस के दिन सम्पन्न होते गए। सौम्याजी की आन्तरिक इच्छा थी कि पूज्याश्री को समर्पित उनकी कृति पूज्याश्री की पुण्यतिथि के दिन विश्वविद्यालय में Submit की जाए और निमित्त भी ऐसे ही बने कि Extension लेते-लेते संयोगवशात पुन: वही तिथि और महीना आ गया।

23 दिसम्बर 2012 मौन ग्यारस के दिन लाडनूं विश्वविद्यालय में 4 भागों में वर्गीकृत 23 खण्डीय Thesis जमा की गई। इतने विराट शोध कार्य को देखकर सभी हतप्रभ थे। 5556 पृष्ठों में गुम्फित यह शोध कार्य यदि शोध नियम के अनुसार तैयार किया होता तो 11000 पृष्ठों से अधिक हो जाते। यह सब गुरूवर्य्या श्री की ही असीम कृपा थी।

पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. की हार्दिक इच्छा थी कि सौम्याजी के इस ज्ञानयज्ञ का सम्मान किया जाए जिससे जिन शासन की प्रभावना हो और जैन संघ गौरवान्वित बने।

भवानीपुर-शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा का पावन सुयोग था। श्रुतज्ञान के बहुमान रूप 23 ग्रन्थों का भी जुलूस निकाला गया। सम्पूर्ण कोलकाता संघ द्वारा उनकी वधामणी की गई। यह एक अनुमोदनीय एवं अविस्मरणीय प्रसंग था।

बस मन में एक ही कसक रह गई कि मैं इस पूर्णाहुति का हिस्सा नहीं बन पाई।

आज सौम्याजी की दीर्घ शोध यात्रा को पूर्णता के शिखर पर देखकर नि:सन्देह कहा जा सकता है कि पूज्या प्रवर्त्तिनी म.सा. जहाँ भी आत्म साधना में लीन है वहाँ से उनकी अनवरत कृपा दृष्टि बरस रही है। शोध कार्य पूर्ण होने के बाद भी सौम्याजी को विराम कहाँ था? उनके शोध विषय की त्रैकालिक प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। पुस्तक प्रकाशन सम्बन्धी सभी कार्य शेष थे तथा पुस्तकों का प्रकाशन कोलकाता से ही हो रहा था। अत: कलकत्ता संघ के प्रमुख श्री कान्तिलालजी मुकीम, विमलचंदजी महमवाल, श्राविका श्रेष्ठा प्रमिलाजी महमवाल, विजयेन्द्रजी संखलेचा आदि ने पूज्याश्री के सम्मुख सौम्याजी को रोकने का निवेदन किया। श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत, श्री मणिलालजी दूसाज आदि भी निवेदन कर चुके थे। यद्यपि अजीमगंज दादाबाड़ी प्रतिष्ठा के कारण रोकना असंभव था परंतु मुकिमजी

के अत्याग्रह के कारण पूज्याश्री ने उन्हें कुछ समय के लिए वहाँ रहने की आज्ञा प्रदान की।

गुरूवर्य्या श्री के साथ विहार करते हुए सौम्यागुणाजी को तीन Stop जाने के बाद वापस आना पड़ा। दादाबाड़ी के समीपस्थ शीतलनाथ भवन में रहकर उन्होंने अपना कार्य पूर्ण किया। इस तरह इनकी सम्पूर्ण शोध यात्रा में कलकत्ता एक अविस्मरणीय स्थान बनकर रहा।

क्षणै: क्षणै: बढ़ रहे उनके कदम अब मंजिल पर पहुँच चुके हैं। आज जो सफलता की बहुमंजिला इमारत इस पुस्तक श्रृंखला के रूप में देख रहे हैं वह मजबूत नींव इन्होंने अपने उत्साह, मेहनत और लगन के आधार पर रखी है। सौम्यगुणाजी का यह विशद् कार्य युग-युगों तक एक कीर्तिस्तम्भ के रूप में स्मरणीय रहेगा। श्रुत की अमूल्य निधि में विधि-विधान के रहस्यों को उजागर करते हुए उन्होंने जो कार्य किया है वह आने वाली भावी पीढ़ी के लिए आदर्श रूप रहेगा। लोक परिचय एवं लोकप्रसिद्धि से दूर रहने के कारण ही आज वे इस बृहद् कार्य को सम्पन्न कर पाई हैं। मैं परमात्मा से यही प्रार्थना करती हूँ कि वे सदा इसी तरह श्रुत संवर्धन के कल्याण पथ पर गतिशील रहे। अंतत: उनके अडिग मनोबल की अनुमोदना करते हुए यही कहूँगी–

प्रगति शिला पर चढ़ने वाले बहुत मिलेंगे,
कीर्तिमान करने वाला तो विरला होता है।
आंदोलन करने वाले तो बहुत मिलेंगे,
दिशा बदलने वाला कोई निराला होता है।
तारों की तरह टिम-टिमाने वाले अनेक होते हैं,
पर सूरज बन रोशन करने वाला कोई एक ही होता है।
समय गंवाने वालों से यह दुनिया भरी है,
पर इतिहास बनाने वाला कोई सौम्य सा ही होता है।
प्रशंसा पाने वाले जग में अनेक मिलेंगे,
प्रिय बने सभी का ऐसा कोई सज्जन ही होता है ।।

●

हार्दिक बधाई

किसी कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है–

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सो घड़ा, ऋतु आवत फल होय।।

हर कार्य में सफलता समय आने पर ही प्राप्त होती है। एक किसान बीज बोकर साल भर तक मेहनत करता है तब जाकर उसे फसल प्राप्त होती है। चार साल तक College में मेहनत करने के बाद विद्यार्थी Doctor, Engineer या MBA होता है।

साध्वी सौम्यगुणाजी आज सफलता के जिस शिखर पर पहुँची है उसके पीछे उनकी वर्षों की मेहनत एवं धैर्य नींव रूप में रहे हुए हैं। लगभग 30 वर्ष पूर्व सौम्याजी का आगमन हमारे मण्डल में एक छोटी सी गुड़िया के रूप में हुआ था। व्यवहार में लघुता, विचारों में सरलता एवं बुद्धि की श्रेष्ठता उनके प्रत्येक कार्य में तभी से परिलक्षित होती थी। ग्यारह वर्ष की निशा जब पहली बार पूज्याश्री के पास वैराग्यवासित अवस्था में आई तब मात्र चार माह की अवधि में प्रतिक्रमण, प्रकरण, भाष्य,कर्मग्रन्थ, प्रात:कालीन पाठ आदि कंठस्थ कर लिए थे। उनकी तीव्र बुद्धि एवं स्मरण शक्ति की प्रखरता के कारण पूज्य छोटे म.सा. (पूज्य शशिप्रभा श्रीजी म.सा.) उन्हें अधिक से अधिक चीजें सिखाने की इच्छा रखते थे।

निशा का बाल मन जब अध्ययन से उक्ता जाता और बाल सुलभ चेष्टाओं के लिए मन उत्कंठित होने लगता, तो कई बार वह घंटों उपाश्रय की छत पर तो कभी सीढ़ियों में जाकर छुप जाती ताकि उसे अध्ययन न करना पड़े। परंतु यह उसकी बाल क्रीड़ाएँ थी। 15-20 गाथाएँ याद करना उसके लिए एक सहज बात थी। उनके अध्ययन की लगन एवं सीखने की कला आदि के अनुकरण की प्रेरणा आज भी छोटे म.सा. आने वाली नई मंडली को देते हैं। सूत्रागम अध्ययन, ज्ञानार्जन, लेखन, शोध आदि के कार्य में उन्होंने जो श्रृंखला प्रारम्भ की है आज सज्जनमंडल में उसमें कई कड़ियाँ जुड़ गई हैं परन्तु मुख्य कड़ी तो

मुख्य ही होती है। ये सभी के लिए प्रेरणा बन रही हैं किन्तु इनके भीतर जो प्रेरणा आई वह कहीं न कहीं पूज्य गुरुवर्य्या श्री की असीम कृपा है।

उच्च उड़ान नहीं भर सकते
तुच्छ बाहरी चमकीले पर
महत कर्म के लिए चाहिए
महत प्रेरणा बल भी भीतर

यह महत प्रेरणा गुरु कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। विनय, सरलता, शालीनता, ऋजुता आदि गुण गुरुकृपा की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

सौम्याजी का मन शुरू से सीधा एवं सरल रहा है। सांसारिक कपट-माया या व्यवहारिक औपचारिकता निभाना इनके स्वभाव में नहीं है। पूज्य प्रवर्तिनीजी म.सा. को कई बार ये सहज में कहती **'महाराज श्री!' मैं तो आपकी कोई सेवा नहीं करती, न ही मुझमें विनय है, फिर मेरा उद्धार कैसे होगा, मुझे गुरु कृपा कैसे प्राप्त होगी?' तब पूज्याश्री फरमाती– 'सौम्या! तेरे ऊपर तो मेरी अनायास कृपा है, तूं चिंता क्यों करती है? तूं तो महान साध्वी बनेगी।'** आज पूज्याश्री की ही अन्तस शक्ति एवं आशीर्वाद का प्रस्फोटन है कि लोकैषणा, लोक प्रशंसा एवं लोक प्रसिद्धि के मोह से दूर वे श्रुत सेवा में सर्वात्मना समर्पित हैं। जितनी समर्पित वे पूज्या श्री के प्रति थी उतनी ही विनम्र अन्य गुरुजनों के प्रति भी। गुरु भगिनी मंडल के कार्यों के लिए भी वे सदा तत्पर रहती हैं। चाहे बड़ों का कार्य हो, चाहे छोटों का उन्होंने कभी किसी को टालने की कोशिश नहीं की। चाहे प्रियदर्शना श्रीजी हो, चाहे दिव्यदर्शना श्रीजी, चाहे शुभदर्शनाश्रीजी हो, चाहे शीलगुणा जी आज तक सभी के साथ इन्होंने लघु बनकर ही व्यवहार किया है। कनकप्रभाजी, संयमप्रज्ञाजी आदि लघु भगिनी मंडल के साथ भी इनका व्यवहार सदैव सम्मान, माधुर्य एवं अपनेपन से युक्त रहा है। ये जिनके भी साथ चातुर्मास करने गई हैं उन्हें गुरुवत सम्मान दिया तथा उनकी विशिष्ट आन्तरिक मंगल कामनाओं को प्राप्त किया है। पूज्या विनीता श्रीजी म.सा., पूज्या मणिप्रभाश्रीजी म.सा., पूज्या हेमप्रभा श्रीजी म.सा., पूज्या सुलोचना श्रीजी म.सा., पूज्या विद्युतप्रभाश्रीजी म.सा. आदि की इन पर विशेष कृपा रही है। पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा., आचार्य श्री पद्मसागरसूरिजी म.सा., आचार्य श्री कीर्तियशसूरिजी आदि ने इन्हें अपना

स्नेहाशीष एवं मार्गदर्शन दिया है। आचार्य श्री राजयशसूरिजी म.सा., पूज्य भ्राता श्री विमलसागरजी म.सा. एवं पूज्य वाचंयमा श्रीजी (बहन) म.सा. इनका Ph.D. एवं D.Litt. का विषय विधि-विधानों से सम्बन्धित होने के कारण इन्हें 'विधिप्रभा' नाम से ही बुलाते हैं।

पूज्या शशिप्रभाजी म.सा. ने अध्ययन काल के अतिरिक्त इन्हें कभी भी अपने से अलग नहीं किया और आज भी हम सभी गुरु बहनों की अपेक्षा गुरु निश्रा प्राप्ति का लाभ इन्हें ही सर्वाधिक मिलता है। पूज्याश्री के चातुर्मास में अपने विविध प्रयासों के द्वारा चार चाँद लगाकर ये उन्हें और भी अधिक जानदार बना देती हैं।

तप-त्याग के क्षेत्र में तो बचपन से ही इनकी विशेष रुचि थी। नवपद की ओली का प्रारम्भ इन्होंने गृहस्थ अवस्था में ही कर दिया था। इनकी छोटी उम्र को देखकर छोटे म.सा. ने कहा– देखो! तुम्हें तपस्या के साथ उतनी ही पढ़ाई करनी होगी तब तो ओलीजी करना अन्यथा नहीं। ये बोली– मैं रोज पन्द्रह नहीं बीस गाथा करूंगी आप मुझे ओलीजी करने दीजिए और उस समय ओलीजी करके सम्पूर्ण प्रात:कालीन पाठ कंठाग्र किये। बीसस्थानक, वर्धमान, नवपद, मासक्षमण, श्रेणी तप, चत्तारि अट्ठ दस दोय, पैंतालीस आगम, ग्यारह गणधर, चौदह पूर्व, अट्ठाईस लब्धि, धर्मचक्र, पखवासा आदि कई छोटे-बड़े तप करते हुए इन्होंने अध्ययन एवं तपस्या दोनों में ही अपने आपको सदा अग्रसर रखा।

आज उनके वर्षों की मेहनत की फलश्रुति हुई है। जिस शोध कार्य के लिए वे गत 18 वर्षों से जुटी हुई थी उस संकल्पना को आज एक मूर्त्त स्वरूप प्राप्त हुआ है। अब तक सौम्याजी ने जिस धैर्य, लगन, एकाग्रता, श्रुत समर्पण एवं दृढ़निष्ठा के साथ कार्य किया है वे उनमें सदा वृद्धिंगत रहे। पूज्य गुरुवर्य्या श्री के नक्शे कदम पर आगे बढ़ते हुए वे उनके कार्यों को और नया आयाम दें तथा श्रुत के क्षेत्र में एक नया अवदान प्रस्तुत करें। इन्हीं शुभ भावों के साथ–

गुरु भगिनी मण्डल

अनुभूति का दर्पण

जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक आत्मा की स्वतंत्र सत्ता है। वह अपनी ही शक्ति द्वारा चालित होती है। उसकी व्यवस्था अपने आप में निहित है। प्रत्येक आत्मा स्वयं परमात्मा है।

स्वतंत्रता का यथार्थ मूल्यांकन धार्मिक जगत में ही सम्भव है क्योंकि धर्म-आराधना स्वतन्त्र मन से (स्वेच्छापूर्वक) होती है। यहाँ मन की स्वतन्त्रता का अभिप्राय बाहरी बन्धन से मुक्त और नैसर्गिक मर्यादा से बंधा हुआ है। कानून बाहरी बन्धन है। धार्मिक नियम कानून नहीं है, कारण कि वे बलपूर्वक लादे नहीं जाते। आराधक उन्हें स्वयं अंगीकार करते हैं।

इस भारत देश में गणतन्त्र एवं जनतन्त्र की व्यवस्था है वह विवक्षा भेद से बन्धन रूप है। अनेक शासकों द्वारा संचालित राज्य गणतन्त्र है तथा जनता का शासन जनतंत्र कहलाता है। स्वतन्त्र दृष्टिकोण से गणतन्त्र की अपेक्षा जनतन्त्र अधिक विकासशील है। अतः स्वतन्त्रता का मूल्य सर्वोपरि है क्योंकि इसके गर्भ में ही आध्यात्मिक चेतना का उद्भव होता है।

राज्य संचालन का मूल मन्त्र शक्ति है जबकि धर्मवहन का मूल मंत्र पवित्रता है। जहाँ शक्ति है, वहाँ संघर्ष होगा और जहाँ पवित्रता है, वहाँ हृदय की शुद्धि होगी।

हृदय की निर्मलता के साथ जिस व्यवस्था को स्वीकार किया जाता है वह धर्मानुशासन है, आत्मानुशासन है। जिन व्यवस्थाओं या मर्यादाओं को विवशतापूर्वक स्वीकार किया जाता है, वह राज्यानुशासन है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि जैन संघ में आचार्य, उपाध्याय, स्थविर आदि पदस्थ मुनियों द्वारा निर्दिष्ट तथ्यों को मानने के लिए किसी को तैयार नहीं किया जाता अपितु संघीय सदस्य स्वयं उन्हें मूल्य देते हैं, जबकि राज्यानुशासन की व्यवस्था इसके विपरीत होती है। आचार्य महाप्रज्ञजी ने अनुशासन के मूलभूत दो प्रयोजन स्वीकार किये हैं। पहला आत्मशुद्धि और दूसरा सामुदायिक व्यवस्था। इनमें एक नैश्चयिक पक्ष है और दूसरा व्यावहारिक। जीवन पर्यन्त के लिए पंच

महाव्रतों को स्वीकार करना नैश्चयिक अनुशासन है तथा संघीय आत्मोत्कर्ष के लिए आचारमूलक नियमों का प्रतिष्ठापन करना एवं उन्हें प्रायोगिक बनाना व्यावहारिक अनुशासन है।

पद-व्यवस्था के माध्यम से अनुशासकीय प्रणाली निरन्तर ऊर्ध्वगामी बनती है अतः पदव्यवस्था का अपना स्वतंत्र मूल्य है। प्रस्तुत शोध खण्ड में पदस्थापना के गवेषणात्मक एवं समीक्षात्मक पहलुओं को ग्यारह अध्यायों में विभाजित किया गया है जो इस प्रकार है–

प्रथम अध्याय में पदव्यवस्था के उद्भव एवं विकास की चर्चा करते हुए मुनिपद की दृष्टि से आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर, गणि,गणधर, गणावच्छेदक आदि तथा साध्वी पद की दृष्टि से श्रमणी, भिक्षुणी, निर्ग्रन्थिनी, आर्यिका, क्षुल्लिका, गणिनी, महत्तरा, अभिषेका, प्रतिहारी, स्थविरा आदि की सामान्य परिभाषाएँ बताई गई है।

द्वितीय अध्याय में वाचना दान एवं वाचना ग्रहण विधि का मौलिक स्वरूप प्रस्तुत करते हुए वाचना दान के योग्य कौन? वाचना देने का अधिकारी कौन? योग्य शिष्य को वाचना देने के लाभ, अयोग्य शिष्य को वाचना देने-लेने के दोष, सूत्र सीखने के नियम, श्रुत अध्ययन के उद्देश्य आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय में पद व्यवस्था की क्रमिकता को ध्यान में रखते हुए प्रवर्त्तक पद स्थापना विधि का मार्मिक स्वरूप बताया गया है।

चतुर्थ अध्याय में स्थविर पद की उपयोगिता को पुष्ट करते हुए इस पद विधि का पारम्परिक स्वरूप कहा गया है।

पंचम अध्याय में गणावच्छेदक पद का प्राचीन स्वरूप व्याख्यायित करते हुए जैन संघ के लिए इस पद की मूल्यवत्ता का अंकन किया गया है।

षष्ठम अध्याय गणिपद स्थापना विधि से सम्बन्धित है। इसमें गणिपद शब्द की समीक्षा करते हुए गणधारण योग्य शिष्य की परीक्षा विधि, गणिपदस्थ के लिए आवश्यक योग्यताएँ, गणिपद की परम्परा का मौलिक इतिहास आदि विशिष्ट तथ्यों पर विचार किया गया है।

सप्तम अध्याय में उपाध्याय पद स्थापना विधि का विस्तृत निरूपण करते हुए इस पद व्यवस्था का वैज्ञानिक मूल्य उजागर किया गया है।

अष्टम अध्याय आचार्य पद स्थापना विधि के रूप में संयोजित है। इसमें आचार्य के गुण, आचार्य के प्रकार, आचार्य की महिमा, आचार्य पद की उपयोगिता, आचार्य पद का अधिकारी कौन? आचार्य की आशातना के दुष्परिणाम? इस तरह के अनछुए विषयों का अन्वेषण शास्त्रीय आधार पर किया गया है।

नवम अध्याय में महत्तरा पद के अलौकिक स्वरूप का दिग्दर्शन करते हुए जिनशासन के लिए यह पद किस रूप में सार्थक है? इसका प्रामाणिक एवं ऐतिहासिक उल्लेख किया गया है।

दशम अध्याय में प्रवर्त्तिनी पद से सम्बन्धित अनेक पक्षों का सहेतुक निरूपण किया गया है।

एकादश अध्याय में पदारोहण के अनछुए एवं अद्भुत रहस्यों की जानकारी दी गई है।

इस तरह खण्ड-7 का प्रत्येक अध्याय अपने-आप में मूल्यवान सिद्ध होता है।

प्रस्तुत शोध के माध्यम से यह कहना चाहूँगी कि इस नवनीत के द्वारा पारिवारिक व्यवस्था एवं अनुशासन का मुख्य उद्देश्य समझकर हम स्वयं को तथा सामाजिक व्यवस्था को सही दिशा दे पाएं और एक संगठित समन्वयात्मक समाज की रचना कर सकें तो इस प्रयास की सार्थकता होगी।

●

वन्दना की झंकार

जैन विधि-विधानों से सम्बन्धित एक बृहद्स्तरीय अन्वेषण आज पूर्णाहुति की प्रतीक्षित अरूणिम वेला पर है। जिनका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष संबल इस विराट् विषय के प्रतिपादन में आधार स्तंभ बना उन सभी उपकारी जनों की अभिवन्दना-अनुमोदना करने के लिए मन तरंगित हो रहा है। यद्यपि उन्हें पूर्णत: अभिव्यक्ति देना असंभव है फिर भी सामर्थ्य जुटाती हुई करबद्ध होकर सर्वप्रथम, जिनके दिव्य ज्ञान के आलोक ने भव्य जीवों के हृदयान्धकार को दूर किया, जिनकी पैंतीस गुणयुक्त वाणी ने जीव जगत का उद्धार किया, जिनके रोम-रोम से निर्झरित करूणा भाव ने समस्त जीवराशि को अभयदान दिया तथा मोक्ष मार्ग पर आरोहण करने हेतु सम्यक चारित्र का महादान दिया, ऐसे भवो भव उपकारी सर्वज्ञ अरिहंत परमात्मा के चरण सरोजों में अनन्त-अनन्त वंदना करती हूँ।

जिनके स्मरण मात्र से दु:साध्य कार्य सरल हो जाता है ऐसे साधना सहायक, सिद्धि प्रदायक श्री सिद्धचक्र को आत्मस्थ वंदन।

चिन्तामणि रत्न की भाँति हर चिन्तित स्वप्न को साकार करने वाले, कामधेनु की भाँति हर अभिलाषा को पूर्ण करने वाले एवं जिनकी वरद छाँह में जिनशासन देदीप्यमान हो रहा है ऐसे क्रान्ति और शान्ति के प्रतीक चारों दादा गुरूदेव तथा सकल श्रुतधर आचार्यों के चरणारविन्द में भावभीनी वन्दना।

प्रबल पुण्य के स्वामी, सरलहृदयी, शासन उद्धारक, खरतरगच्छाचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागर सूरीश्वरजी म.सा. के पवित्र चरणों में श्रद्धा भरी वंदना। जिन्होंने सदा अपनी कृपावृष्टि एवं प्रेरणादृष्टि से इस शोध यात्रा को लक्ष्य तक पहुँचाने हेतु प्रोत्साहित किया।

जिनके प्रज्ञाशील व्यक्तित्व एवं सृजनशील कर्तृत्व ने जैन समाज में अभिनव चेतना का पल्लवन किया, जिनकी अन्तस् भावना ने मेरी अध्ययन रुचि को जीवन्त रखा ऐसे उपाध्याय भगवन्त पूज्य गुरुदेव श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. के चरण नलिनों में कोटिश: वन्दन।

मैं हृदयावनत हूँ प्रभुत्वशील एवं स्नेहिल व्यक्तित्व के धनी, गुण गरिमा से मंडित प.पू. आचार्य पद्मसागरसूरीश्वरजी म.सा. की, जिन्होंने कोबा लाइब्रेरी के माध्यम से दुष्प्राप्य ग्रन्थों को उपलब्ध करवाया तथा सहृदयता एवं उदारता के साथ मेरी शंकाओं का समाधान कर प्रगति पाथेय प्रदान किया। उन्हीं के निश्रावर्ती मनोज्ञ स्वभावी, गणिवर्य्य श्री प्रशांतसागरजी म.सा. की भी मैं ऋणी हूँ जिन्होंने निस्वार्थ भाव से सदा सहयोग करते हुए मुझे उत्साहित रखा।

मैं कृतज्ञ हूँ सरस्वती साधना पथ प्रदीप, प.पू. ज्येष्ठ भ्राता श्री विमलसागरजी म.सा. के प्रति, जिन्होंने इस शोध कार्य की मूल्यवत्ता का आकलन करते हुए मेरी अंतश्चेतना को जागृत रखा।

मैं सदैव उपकृत रहूंगी प्रवचन प्रभावक, शास्त्र वेत्ता, सन्मार्ग प्रणेता प.पू. आचार्य श्री कीर्तियश सूरीश्वरजी म.सा एवं आगम मर्मज्ञ, संयमोत्कर्षी प.पू. रत्नयश विजयजी म.सा के प्रति, जिन्होंने नवीन ग्रन्थों की जानकारी देने के साथ-साथ शोध कार्य का प्रणयन करते हुए इसे विबुध जन ग्राह्य बनाकर पूर्णता प्रदान की।

मैं आस्था प्रणत हूँ जगवल्लभ प.पू. आचार्य श्री राजयश सूरीश्वरजी म.सा एवं वात्सल्य मूर्ति प.पू. बहन महाराज वाचंयमा श्रीजी म.सा के प्रति, जिन्होंने समय-समय पर अपने अनुभव ज्ञान द्वारा मेरी दुविधाओं का निवारण कर इस कार्य को भव्यता प्रदान की।

मैं नतमस्तक हूँ समन्वय साधक, भक्त सम्मोहक, साहित्य उद्धारक, अचल गच्छाधिपति प.पू. आचार्य श्री गुणरत्नसागर सूरीश्वरजी म.सा. के चरणों में, जिन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से मेरी जिज्ञासाओं का समाधान करके मेरे कार्य को आगे बढ़ाया।

मैं आस्था प्रणत हूँ लाडनूं विश्व भारती के प्रेरणा पुरुष, अनेक ग्रन्थों के सृजनहार, कुशल अनुशास्ता, साहित्य मनीषी आचार्य श्री तुलसी एवं आचार्य श्री महाप्रज्ञजी के चरणों में, जिनके सृजनात्मक कार्यों ने इस साफल्य में आधार भूमि प्रदान की।

इसी श्रृंखला में श्रद्धानत हूँ त्रिस्तुतिक गच्छाधिपति, पुण्यपुंज प.पू. आचार्य श्री जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा. के प्रति, जिन्होंने हर संभव स्व सामाचारी विषयक तथ्यों से अवगत करवाते हुए इस शोध को सुलभ बनाया।

मैं श्रद्धावनत हूँ विश्व प्रसिद्ध, प्रवचन प्रभावक, क्रान्तिकारी सन्त प्रवर श्री तरुणसागरजी म.सा के प्रति, जिन्होंने यथोचित सुझाव देकर रहस्य अन्वेषण में सहायता प्रदान की।

मैं आभारी हूँ मृदुल स्वभावी प.पू. पीयूषसागरजी म.सा. एवं गूढ़ स्वाध्यायी प. पू. सम्यक्रत्नसागरजी म.सा. की जिन्होंने सदैव मेरा उत्साह वर्धन किया।

उपकार स्मरण की इस कड़ी में अन्तर्हृदय से उपकृत हूँ महत्तरा पद विभूषिता पू. विनीता श्रीजी म.सा., प्रवर्त्तिनी प्रवरा पू. चन्द्रप्रभा श्रीजी म.सा., सरलमना पू. चन्द्रकला श्रीजी म.सा., मरूधर ज्योति पू. मणिप्रभा श्रीजी म.सा., स्नेह गंगोत्री पू. हेमप्रभा श्रीजी म.सा. एवं अन्य सभी समादृत साध्वी मंडल के प्रति, जिनके अन्तर मन की मंगल कामनाओं ने मेरे मार्ग को निष्कंटक बनाया तथा आत्मीयता प्रदान कर सम्यक् ज्ञान के अर्जन को प्रवर्द्धमान रखा।

जिनकी मृदुता, दृढ़ता, गंभीरता, क्रियानिष्ठता एवं अनुभव प्रौढ़ता ने सुज्ञजनों को सन्मार्ग प्रदान किया, जिनका निश्छल व्यवहार **'जहा अंतो तहा बहिं'** का जीवन्त उदाहरण था, जो पंचम आरे में चौथे आरे की साक्षात प्रतिमूर्ति थी, ऐसी श्रद्धालोक की देवता, वात्सल्य वारिधि, प्रवर्त्तिनी महोदया, गुरूवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा के पावन पद्मों में सर्वात्मना वंदन करती हूँ।

मैं उऋण भावों से कृतज्ञ हूँ जप एवं ध्यान की निर्मल ज्योति से प्रकाशमान तथा चारित्र एवं तप की साधना से दीप्तिमान सज्जनमणि प.पू. गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा के प्रति, जिन्होंने मुझ जैसे अनघड़ पत्थर को साकार रूप प्रदान किया।

मैं अन्तर्हृदय से आभारी हूँ मेरे शोध कार्य की प्रारंभकर्त्ता, अनन्य गुरू समर्पिता, ज्येष्ठ गुरू भगिनी पू. प्रियदर्शना श्रीजी म.सा. तथा सेवाभावी पू. दिव्य दर्शना श्रीजी म.सा., स्वनिमग्ना पू. तत्त्वदर्शना श्रीजी म.सा., दृढ़ मनोबली पू. सम्यग्दर्शना श्रीजी म.सा., स्मित वदना पू. शुभदर्शना श्रीजी म.सा., मितभाषी पू. मुदितप्रज्ञा श्रीजी म.सा., समन्वय स्वभावी पू. शीलगुणाजी मृदु भाषिणी साध्वी कनकप्रभाजी, कोमल हृदयी श्रुतदर्शनाजी, प्रसन्न स्वभावी साध्वी संयमप्रज्ञाजी आदि समस्त गुरु भगिनि मण्डल की, जिन्होंने सामाजिक दायित्वों से निवृत्त रखते हुए सद्भावों की सुगन्ध से मेरे मन को तरोताजा रखा।

मेरी शोध यात्रा को पूर्णता के शिखर पर पहुँचाने में अनन्य सहयोगिनी, सहज स्वभावी **स्थितप्रज्ञा जी** एवं विनम्रशीला **संवेगप्रज्ञा जी** तथा इसी के साथ अल्प भाषिणी **सुश्री मोनिका बैराठी** एवं शान्त स्वभावी **सुश्री सीमा छाजेड़** को साधुवाद देती हुई उनके उज्ज्वल भविष्य की तहेदिल से कामना करती हूँ।

मैं अन्तस्थ भावों से उपकृत हूँ श्रुत समाज के गौरव पुरुष, ज्ञान पिपासुओं के लिए सद्ज्ञान प्रपा के समान, आदरणीय डॉ. सागरमलजी के प्रति, जिनका सफल निर्देशन इस शोध कार्य का मूलाधार है।

इस बृहद् शोध के कार्य काल में हर तरह की सेवाओं के लिए तत्पर, उदारहृदयी श्रीमती मंजुजी सुनीलजी बोथरा (रायपुर) के भक्तिभाव की अनुशंसा करती हूँ।

जिन्होंने दूरस्थ रहकर भी इस ज्ञान यज्ञ को निर्बाध रूप से प्रवाहमान बनाए रखने में यथोचित सेवाएँ प्रदान की, ऐसी श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख (जगदलपुर) भी साधुवाद के पात्र हैं।

सेवा स्मरण की इस श्रृंखला में मैं ऋणी हूँ कोलकाता निवासी, अनन्य सेवाभावी श्री चन्द्रकुमारजी शकुंतलाजी मुणोत की, जिन्होंने ढ़ाई साल के कोलकाता प्रवास में भ्रातातुल्य स्नेह एवं सहयोग प्रदान करते हुए अपनी सेवाएँ अनवरत प्रदान की। श्री खेमचंदजी किरणजी बांठिया की अविस्मरणीय सेवाएँ भी इस शोध यात्रा की पूर्णता में अनन्य सहयोगी बनी।

सहयोग की इस श्रृंखला में मैं आभारी हूँ, टाटा निवासी श्री जिनेन्द्रजी नीलमजी बैद की, जिनके अथक प्रयासों से मुद्राओं का रेखांकन संभव हो पाया।

अनुमोदना की इस कड़ी में कोलकाता निवासी श्री कान्तिलालजी मुकीम, मणिलालजी दूसाज, कमलचंदजी धांधिया, विमलचन्दजी महमवाल, विजयेन्द्रजी संखलेचा, अजयजी बोथरा, महेन्द्रजी नाहटा, पन्नालाल दूगड़, निर्मलजी कोचर आदि की सेवाओं को विस्मृत नहीं कर सकती हूँ।

बनारस निवासी श्री अश्विनभाई शाह, ललितजी भंसाली, कीर्ति भाई ध्रुव दिव्येशजी शाह, राहुलजी गांधी आदि भी साधुवाद के अधिकारी हैं जिन्होंने अपनी आत्मियता एवं नि:स्वार्थ सेवाएँ बनारस प्रवास के बाद भी बनाए रखी।

इसी कड़ी में बनारस सेन्ट्रल लाइब्रेरी के मुख्य लाइब्रेरियन श्री संजयजी सर्राफ एवं श्री विवेकानन्दजी जैन की भी मैं अत्यंत आभारी हूँ कि उन्होंने

पुस्तकें उपलब्ध करवाने में अपना अनन्य सहयोग दिया।

इसी श्रृंखला में श्री कोलकाता संघ, मुंबई संघ, जयपुर संघ, मालेगाँव संघ, अहमदाबाद संघ, बनारस संघ, शाजापुर संघ, टाटा संघ के पदाधिकारियों एवं धर्म समर्पित सदस्यों ने स्थानीय सेवाएँ प्रदान कर इस शोध यात्रा को सरल एवं सुगम बनाया अत: उन सभी को साधुवाद देती हूँ।

इस शोध कार्य को प्रामाणिक बनाने में कोबा लाइब्रेरी (अहमदाबाद) एवं वहाँ के सदस्यगण मनोज भाई, केतन भाई, अरूणजी आदि, एल. डी. इन्स्टीट्यूट (अहमदाबाद), प्राच्य विद्यापीठ (शाजापुर), पार्श्वनाथ शोध संस्थान (वाराणसी) एवं लाइब्रेरियन ओमप्रकाश सिंह तथा संस्थान अधिकारियों ने यथेच्छित पुस्तकों के आदान-प्रदान में जो सहयोग दिया, उसके लिए मैं उनकी सदैव आभारी रहूंगी।

प्रस्तुत कार्य को जन समुदाय के लिए उपयोगी बनाने में जिनकी पुण्यराशि संबल बनी है उन समस्त श्रुतप्रेमी लाभार्थी परिवार की उन्मुक्त कण्ठ से अनुमोदना करती हूँ।

इन शोध कृतियों को कम्प्यूटराईज्ड, संशोधन एवं सेटिंग करने में अनन्य सहयोगी विमलचन्द्र मिश्रा (वाराणसी) का अत्यन्त आभार मानती हूँ। आपके विनम्र, सुशील एवं सज्जन स्वभाव ने मुझे अनेक बार के प्रूफ संशोधन की चिन्ताओं से सदैव मुक्त रखा। स्वयं के कारोबार को संभालते हुए आपने इस बृहद् कार्य को जिस निष्ठा के साथ पूर्ण किया है यह सामान्य व्यक्ति के लिए नामुमकिन है।

इसी श्रृंखला में शांत स्वभावी श्री रंजनजी, रोहितजी कोठारी (कोलकाता) भी धन्यवाद के पात्र हैं। सम्पूर्ण पुस्तकों के प्रकाशन एवं कॅवर डिजाइनिंग में अप्रमत्त होकर अंतरमन से सहयोग दिया। शोध प्रबंध की सम्पूर्ण कॉपी बनाने का लाभ लेकर आप श्रुत संवर्धन में भी परम हेतुभूत बने हैं।

23 खण्डों को आकर्षक एवं चित्तरंजक कॅवर से नयनरम्य बनाने के लिए कॅवर डिजाईनर शंभु भट्टाचार्य की भी मैं तहेदिल से आभारी हूँ।

इसे संयोग कहूँ या विधि की विचित्रता? मेरी प्रथम शोध यात्रा की संकल्पना लगभग 17 वर्ष पूर्व जहाँ से प्रारम्भ हुई वहीं पर उसकी चरम पूर्णाहुति भी हो रही है। श्री जिनरंगसूरि पौशाल (कोलकाता) अध्ययन योग्य सर्वश्रेष्ठ

स्थान है। यहाँ के शान्त-प्रशान्त परमाणु मनोयोग को अध्ययन के प्रति जोड़ने में अत्यन्त सहायक बने हैं। इसी के साथ मैं साधुवाद देती हूँ श्रीजिनरंगसूरि पौशाल, कोलकाता के ट्रस्टी श्री कमलचंदजी धांधिया, कान्तिलालजी मुकीम, विमलचंदजी महमवाल, मणिलालजी दूसाज आदि समस्त भूतपूर्व एवं वर्तमान ट्रस्टियों को, जिन्होंने अध्ययन एवं स्थान की महत्त्वपूर्ण सुविधा के साथ कम्पोजिंग में भी पूर्ण रूप से अर्थ सहयोग दिया। इन्हीं की पितृवत छत्र-छाया में यह शोध कार्य शिखर तक पहुँच पाया है। इस अवधि के दौरान ग्रन्थ आदि की आवश्यक सुविधाओं हेतु शाजापुर, बनारस आदि शोध संस्थानों में प्रवास रहा। उन दिनों से ही जौहरी संघ के पदाधिकारी गण कान्तिलालजी मुकीम, मणिलालजी दूसाज, विमलचन्दजी महमवाल आदि बार-बार निवेदन करते रहे कि आप पूर्वी क्षेत्र की तरफ एक बार फिर से पधारिए। हम आपके अध्ययन की पूर्ण व्यवस्था करेंगे। उन्हीं की सद्भावनाओं के फलस्वरूप शायद इस कार्य का अंतिम प्रणयन यहाँ हो रहा है। इसी के साथ शोध प्रतियों के मुद्रण कार्य में भी श्री जिनरंगसूरि पौशाल ट्रस्टियों का हार्दिक सहयोग रहा है।

अन्ततः यही कहूँगी–

प्रभु वीर वाणी उद्यान की, सौरभ से महकी जो कृति ।
जड़ वक्र बुद्धि से जो मैंने, की हो इसकी विकृति ।
अविनय, अवज्ञा, आशातना, यदि हुई हो श्रुत की वंचना ।
मिच्छामि दुक्कडम् देती हूँ, स्वीकार हो मुझ प्रार्थना ।।

●

मिच्छामि दुक्कडं

आगम मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, जैन जगत की अनुपम साधिका, प्रवर्त्तिनी पद सुशोभिता, खरतरगच्छ दीपिका पू. गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की अन्तरंग कृपा से आज छोटे से लक्ष्य को पूर्ण कर पाई हूँ।

यहाँ शोध कार्य के प्रणयन के दौरान उपस्थित हुए कुछ संशय युक्त तथ्यों का समाधान करना चाहूँगी-

सर्वप्रथम तो मुनि जीवन की औत्सर्गिक मर्यादाओं के कारण जानते-अजानते कई विषय अनछुए रह गए हैं। उपलब्ध सामग्री के अनुसार ही विषय का स्पष्टीकरण हो पाया है अतः कहीं-कहीं सन्दर्भित विषय में अपूर्णता भी प्रतीत हो सकती है।

दूसरा जैन संप्रदाय में साध्वी वर्ग के लिए कुछ नियत मर्यादाएँ हैं जैसे प्रतिष्ठा, अंजनशलाका, उपस्थापना, पदस्थापना आदि करवाने एवं आगम शास्त्रों को पढ़ाने का अधिकार साध्वी समुदाय को नहीं है। योगोद्वहन, उपधान आदि क्रियाओं का अधिकार मात्र पदस्थापना योग्य मुनि भगवंतों को ही है। इन परिस्थितियों में प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या एक साध्वी अनधिकृत एवं अननुभूत विषयों पर अपना चिन्तन प्रस्तुत कर सकती है?

इसके जवाब में यही कहा जा सकता है कि 'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' यह शोध का विषय होने से यत्किंचित लिखना आवश्यक था अतः गुरु आज्ञा पूर्वक विद्वद्वर आचार्य भगवंतों से दिशा निर्देश एवं सम्यक जानकारी प्राप्तकर प्रामाणिक उल्लेख करने का प्रयास किया है।

तीसरा प्रायश्चित्त देने का अधिकार यद्यपि गीतार्थ मुनि भगवंतों को है किन्तु प्रायश्चित्त विधि अधिकार में जीत (प्रचलित) व्यवहार के अनुसार प्रायश्चित्त योग्य तप का वर्णन किया है। इसका उद्देश्य मात्र यही है कि भव्य जीव पाप भीरू बनें एवं दोषकारी क्रियाओं से परिचित होवें। कोई भी आत्मार्थी इसे देखकर स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण न करें।

lii...पदारोहण सम्बन्धी विधि रहस्यों की मौलिकता आधुनिक परिप्रेक्ष्य में

इस शोध के अन्तर्गत कई विषय ऐसे हैं जिनके लिए क्षेत्र की दूरी के कारण यथोचित जानकारी एवं समाधान प्राप्त नहीं हो पाए, अतः तद्विषयक पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं कर पाई हूँ।

कुछ लोगों के मन में यह शंका भी उत्पन्न हो सकती है कि मुद्रा विधि के अधिकार में हिन्दू, बौद्ध, नाट्य आदि मुद्राओं पर इतना गूढ़ अध्ययन क्यों?

मुद्रा एक यौगिक प्रयोग है। इसका सामान्य हेतु जो भी हो परंतु इसकी अनुभूति आध्यात्मिक एवं शारीरिक स्वस्थता के रूप में ही होती है।

प्रायः मुद्राएँ मानव के दैनिक चर्या से सम्बन्धित है। इतर परम्पराओं का जैन परम्परा के साथ पारस्परिक साम्य-वैषम्य भी रहा है अतः इनके सद्पक्षों को उजागर करने हेतु अन्य मुद्राओं पर भी गूढ़ अन्वेषण किया है।

यहाँ यह भी कहना चाहूँगी कि शोध विषय की विराटता, समय की प्रतिबद्धता, समुचित साधनों की अल्पता, साधु जीवन की मर्यादा, अनुभव की न्यूनता, व्यावहारिक एवं सामान्य ज्ञान की कमी के कारण सभी विषयों का यथायोग्य विश्लेषण नहीं भी हो पाया है। हाँ, विधि-विधानों के अब तक अस्पृष्ट पन्नों को खोलने का प्रयत्न अवश्य किया है। प्रज्ञा सम्पन्न मुनि वर्ग इसके अनेक रहस्य पटलों को उद्घाटित कर सकेंगे। यह एक प्रारंभ मात्र है।

अन्ततः जिनवाणी का विस्तार करते हुए एवं शोध विषय का अन्वेषण करते हुए अल्पमति के कारण शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा की हो, आचार्यों के गूढ़ार्थ को यथारूप न समझा हो, अपने मत को रखते हुए जाने-अनजाने अर्हतवाणी का कटाक्ष किया हो, जिनवाणी का अपलाप किया हो, भाषा रूप में उसे सम्यक अभिव्यक्ति न दी हो, अन्य किसी के मत को लिखते हुए उसका संदर्भ न दिया हो अथवा अन्य कुछ भी जिनाज्ञा विरुद्ध किया हो या लिखा हो तो उसके लिए त्रिकरण-त्रियोगपूर्कक श्रुत रूप जिन धर्म से मिच्छामि दुक्कड़म् करती हूँ।

●

विषयानुक्रमणिका

अध्याय-1 : पद व्यवस्था का एक विमर्श 1-13

अध्याय-2 : वाचना दान एवं ग्रहण विधि का मौलिक स्वरूप 14-53

1. वाचना शब्द का अर्थ एवं परिभाषाएँ 2. वाचना ग्रहण के अयोग्य कौन? 3. वाचनाग्राही में अपेक्षित योग्यताएँ? 4. वाचना दान के योग्य कौन? 5. वाचना आदान-प्रदान के शास्त्रीय लाभ 6. योग्य शिष्य को वाचना देने के फायदे 7. अयोग्य को वाचना देने के दोष 8. वाचना निषेध की आपवादिक स्थितियाँ 9. वाचना देने-लेने के प्रयोजन 10. सूत्र पाठ सीखने के प्रयोजन 11. शिक्षा (वाचना) के प्रकार 12. वाचना श्रवण की आगमोक्त विधि 13. श्रुत ग्रहण के आवश्यक चरण 14. सूत्र सीखने के नियम 15. सूत्रार्थ व्याख्यान विधि 16. श्रुत अध्ययन के उद्देश्य 17. शिक्षा (वाचना) ग्रहण हेतु आवश्यक गुण 18. शिक्षा के बाधक तत्त्व 19. वाचना भंग के स्थान 20. श्रुतदाता एवं श्रुतग्राहीता के अनुपालनीय नियम 21. अविधिपूर्वक सूत्र दान में लगने वाले दोष 22. वाचना में महत्त्वपूर्ण सामग्री 23. वाचना विधि का ऐतिहासिक परिशीलन 24. वाचना दान एवं ग्रहण विधि 25. वाचनाचार्य पदस्थापना विधि 26. तुलनात्मक विवेचन 27. उपसंहार।

अध्याय-3 : प्रवर्त्तक पदस्थापना विधि का मार्मिक स्वरूप 54-62

1. प्रवर्त्तक शब्द का अर्थ एवं परिभाषाएँ 2. प्रवर्त्तक मुनि की योग्यताएँ एवं मुहूर्त्त विचार 3. प्रवर्त्तक पदस्थापना विधि का ऐतिहासिक विकास क्रम 4. प्रवर्त्तक पदस्थापना विधि 5. तुलनात्मक विवेचन 6. उपसंहार।

अध्याय-4 : स्थविर पदस्थापना विधि का पारम्परिक स्वरूप 63-73

1. स्थविर शब्द का अर्थ एवं परिभाषाएँ 2. स्थविर के प्रकार 3. स्थविरों के प्रति करणीय कृत्य 4. स्थविर, स्थविरकल्प और स्थविरकल्पी का स्वरूप

5. स्थविर पद के लिए आवश्यक योग्यताएँ 6. स्थविर पदस्थापना विधि का ऐतिहासिक अनुशीलन 7. स्थविर पदस्थापना विधि 8. तुलनात्मक विवेचन 9. उपसंहार।

अध्याय-5 : गणावच्छेदक पदस्थापना विधि का प्राचीन स्वरूप 74-82

1. गणावच्छेदक शब्द का अर्थ एवं परिभाषाएँ 2. गणावच्छेदक पदग्राही के लिए आवश्यक योग्यताएँ 3. गणावच्छेदक पद स्थापना हेतु शुभ दिन 4. गणावच्छेदकपद विधि की ऐतिहासिक विकास यात्रा 5. गणावच्छेदक पदस्थापना विधि 6. तुलनात्मक अध्ययन 7. उपसंहार।

अध्याय-6 : गणि पदस्थापना विधि का रहस्यमयी स्वरूप 83-104

1. गणि शब्द का अर्थ एवं परिभाषाएँ 2. गणि-गणधर पद की उपादेयता 3. वर्तमान परिप्रेक्ष्य में गणिपद की प्रासंगिकता 4. अयोग्य को गणानुज्ञा पद पर स्थापित करने से होने वाले दोष 5. गणिपदस्थ के लिए आवश्यक योग्यताएँ 6. गणिपद हेतु शुभ मुहूर्त्त विचार 7. गणधारण के योग्य शिष्य की परीक्षा विधि 8. गणधारण से पूर्व की सामाचारी 9. गणधारण के बाद की सामाचारी 10. गणिपद की परम्परा का मौलिक इतिहास 11. गणिपद की स्थापना विधि 12. नूतन गच्छाचार्य को हितशिक्षा दान 13. गच्छ के अन्य मुनियों को हितशिक्षा दान 14. तुलनात्मक विवेचन 15. उपसंहार।

अध्याय-7 : उपाध्याय पदस्थापना विधि का वैज्ञानिक स्वरूप 105-142

1. उपाध्याय शब्द के विभिन्न अर्थ 2. उपाध्याय की ग्रन्थ निर्दिष्ट परिभाषाएँ 3. उपाध्याय के अन्य नाम 4. उपाध्याय के मौलिक गुण 5. उपाध्याय (बहुश्रुत) की उपमाएँ 6. उपाध्याय ही सूत्र वाचना के अधिकारी क्यों? 7. उपाध्याय पद धारक में आवश्यक योग्यताएँ 8. उपाध्याय पद दान का अधिकारी कौन? 9. उपाध्याय के अतिशय 10. उपाध्याय की विहार-वर्षावास सम्बन्धी सामाचारी 11. उपाध्याय पदस्थापना हेतु शुभ मुहूर्त्त विचार

12. उपाध्याय पद की आराधना से होने वाले लाभ 13. उपाध्याय पद का वर्ण हरा क्यों? 14. उपाध्याय पद का वैशिष्ट्य 15. विविध सन्दर्भों में उपाध्याय पद की उपयोगिता 16. उपाध्यायपद-विधि का ऐतिहासिक अनुशीलन 17. उपाध्याय पदस्थापना विधि 18. तुलनात्मक विवेचन 19. उपसंहार।

अध्याय-8 : आचार्य पदस्थापना का शास्त्रीय स्वरूप 143-224

1. आचार्य शब्द का अर्थ एवं विभिन्न परिभाषाएँ 2. जैन साहित्य में आचार्य के लक्षण 3. आचार्य के शास्त्रोक्त गुण 4. जैन वाङ्मय में आचार्य के प्रकार 5. पद स्थापना के अनुसार आचार्य के दो भेद 6. आचार्य का महिमा मंडन 7. आचार्यपद की उपादेयता 8. वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आचार्यपद की प्रासंगिकता 9. आचार्य के विशेष अधिकार 10. आचार्य और उपाध्याय के गण निर्गमन के कारण 11. आचार्य के व्यावहारिक उत्तरदायित्व 12. आचार्य के प्रति शिष्य के कर्त्तव्य 13. आचार्य पद का अधिकारी कौन? 14. आचार्य पद के अयोग्य कौन? 15. अयोग्य को अनुज्ञा देने से होने वाले दोष 16. आचार्य की आशातना के दुष्परिणाम 17. आचार्य की चरण प्रमार्जन विधि 18. आचार्य द्वारा भिक्षार्थ न जाने के हेतु 19. आचार्यपद स्थापना हेतु मुहूर्त्त-विचार 20. अनुयोगाचार्य का स्वरूप 21. अनुयोग शब्द का अर्थ 22. अनुयोग की विभिन्न परिभाषाएँ 23. अनुयोग के एकार्थवाची 24. वार्तिक (अनुयोग) के अधिकारी 25. आगम ग्रन्थों में अनुयोग के प्रकार 26. अनुयोगाचार्य के लक्षण 27. आचार्य पद विधि की ऐतिहासिक अवधारणा 28. आचार्य पदस्थापना विधि 29. तुलनात्मक विवेचन 30.उपसंहार।

अध्याय-9 : महत्तरा पदस्थापना विधि का तात्त्विक स्वरूप 225-239

1. महत्तरा शब्द का अर्थ 2. आधुनिक सन्दर्भ में महत्तरा पद की उपयोगिता 3. महत्तरा पदग्राही के लिए आवश्यक योग्यताएँ? 4. महत्तरापद हेतु शुभाशुभ काल विचार 5. महत्तरापद विधि की अवधारणा का इतिहास 6. महत्तरा पदस्थापना विधि 7. तुलनात्मक विवेचन 8. उपसंहार।

अध्याय-10: प्रवर्त्तिनी पदस्थापना विधि का सर्वांगीण स्वरूप 240-257

1. प्रवर्त्तिनी शब्द का अर्थ एवं गूढ़ार्थ परिभाषाएँ 2. प्रवर्त्तिनी पद की उपादेयता 3. विविध दृष्टियों से प्रवर्त्तिनी पद की प्रासंगिकता 4. प्रवर्त्तिनी पद हेतु आवश्यक योग्यताएँ 5. अयोग्य को प्रवर्त्तिनी पद देने से लगने वाले दोष 6. प्रवर्त्तिनी पद हेतु शुभ मुहूर्त्त का विचार 7. प्रवर्त्तिनी द्वारा अनुपालनीय नियम 8. प्रवर्त्तिनी के अधिकार एवं उसके अपवाद 9. प्रवर्त्तिनी पदस्थापना-विधि का ऐतिहासिक अनुसंधान 10. प्रवर्त्तिनी पदस्थापना की मूल विधि 11. प्रवर्त्तिनी के आवश्यक कृत्य 12. प्रवर्त्तिनी के लिए निषिद्ध कृत्य 13. तुलनात्मक अध्ययन 14. उपसंहार।

अध्याय-11 : पदारोहण सम्बन्धी विधियों के रहस्य 258-264

1. पदस्थापित करने से पूर्व केशलोच की आवश्यकता क्यों? 2. पदग्राही मुनि पर वासनिक्षेप क्यों किया जाए? 3. पदस्थापना के समय प्रवर्त्तिनी एवं महत्तरा को स्कन्धकरणी एवं कम्बलयुक्त आसन क्यों दिया जाता है? 4. पदस्थापना, व्रतारोपण, योगवहन आदि क्रियानुष्ठानों में नन्दीसूत्र सुनाने की परम्परा कब से? 5. वर्तमान में पूर्ण नन्दीसूत्र न सुनाकर उसका अंश विशेष सुनाया जाता है ऐसा क्यों? 6. दाएँ कान में ही सूरिमन्त्र क्यों सुनाया जाता है? 7. आचार्य पदस्थापना विधि के दौरान पूर्व आचार्य नूतन आचार्य को वन्दन क्यों करते हैं? 8. सूरिमन्त्र एवं घनसार युक्त चन्दन से अक्षतों का अभिमन्त्रण क्यों? 9. नूतन पदधारी साधु-साध्वियों को अक्षतों से बधाने का अभिप्राय क्या है? 10. पदारोहण के दिन नूतन आचार्य के द्वारा दाहिने हाथ में स्वर्ण कंकण एवं मुद्रिका धारण करने का रहस्य 11. नूतन आचार्य को पीठफलक, चौकी एवं तीन कंबल परिमाण आसन क्यों प्रदान किए जाते हैं?

सहायक ग्रन्थ सूची 265-270

अध्याय-1
पदव्यवस्था एक विमर्श

भारतीय संस्कृति एक आध्यात्मिक संस्कृति है। पूर्वकाल से ही इसकी दो मुख्य धाराएँ रही हैं – 1. वैदिक संस्कृति और 2. श्रमण संस्कृति। वैदिक संस्कृति जहाँ प्रवृत्तिमूलक है वहीं श्रमण संस्कृति में निवृत्तिमार्ग को प्रधानता दी गई है।

किसी भी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए उसमें संगठनात्मक-व्यवस्था का होना अनिवार्य है। इसी के साथ उसके उन्नयन हेतु आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना भी अत्यावश्यक है।

वैदिक संस्कृति लौकिक एवं बाह्य कर्मकाण्ड प्रधान होने से उसमें एक सुगठित संघ-व्यवस्था का अभाव देखा जाता है। यहाँ इहलौकिक एवं पारलौकिक सुख प्राप्ति के उद्देश्य से ही यज्ञ, बलि, देवार्चन आदि किया जाता हैं। मूलतः त्याग, संन्यास, मोक्ष जैसी अवधारणाएँ उसके प्रारम्भिक रूप में नहीं मिलती है। औपनिषद्कि साहित्य में आत्मविद्या एवं संन्यास आदि के तत्त्व अवश्यमेव दृष्टिगत होते हैं, किन्तु विद्वानों के अनुसार वे परवर्तीकालीन है अतः वेदों में आध्यात्मिक संघ-व्यवस्था एवं उसके व्यवस्था पदों की कोई चर्चा प्राप्त नहीं होती है।

श्रमण संस्कृति तप- त्याग प्रधान संस्कृति है अतः इसका मूल लक्ष्य गृह त्याग कर संन्यास धर्म का पालन करना रहा है। इस संस्कृति की निर्वाहक जैन एवं बौद्ध दो परम्पराएँ हैं। इन दोनों परम्पराओं में धर्म संघ की समुचित व्यवस्था हेतु उसे चार भागों में विभाजित किया गया है। उनमें भी भिक्षु एवं भिक्षुणी संघ को श्रमण संस्कृति का आधार स्तम्भ माना गया। इसलिए इन दोनों में पद व्यवस्था का भी सूत्रपात हुआ।

जहाँ तक श्रमण संघ की पदव्यवस्था का प्रश्न है तो उसमें अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर के काल में गणधर पद की व्यवस्था ही देखी जाती है। उस युग में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक आदि के नामोल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं। भगवान

महावीर ने अपने श्रमण-समुदाय को नौ भागों में विभक्त किया था, जिसे गण कहा गया। परमात्मा के प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति, अग्निभूति, सुधर्मा स्वामी आदि इन गणों का संचालन करते थे, अत: वे गणधर के नाम से विश्रुत हुए।

भगवान महावीर उपदेश देना, अन्य परम्परा के अनुयायियों के प्रश्नों का उपयुक्त प्रत्युत्तर देना, शिष्यों की जिज्ञासाओं का समाधान करना आदि कार्य स्वयं करते थे। भगवतीसूत्र इस तथ्य का साक्षात प्रमाण है। इसमें प्रभु ने गौतमस्वामी एवं अन्यों के द्वारा पूछे गये छत्तीस हजार प्रश्नों का समाधान किया है। अवशिष्ट कार्य गणधरों के अधीन थे। गणधर श्रमण-श्रमणी व्यवस्था का सम्यक् नियोजन करते थे। जहाँ तक भिक्षुणी संघ की पदव्यवस्था का प्रश्न है, उसमें श्रमणी संघ का दायित्व प्रथम शिष्या चन्दनबाला को सौंपा गया था, किन्तु उसे प्रवर्त्तिनीपद पर नियुक्त किया गया हो, इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। चन्दना के नाम के साथ केवल आर्य्या (अज्ज) शब्द का प्रयोग दिखाई देता है। यद्यपि उसे प्रवर्त्तिनी के समकक्ष ही माना जाता था।

इस वर्णन से इतना निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि भगवान महावीर के संघ में 'गणधर' के अतिरिक्त किसी भी अन्य पद मर्यादा का सूत्रपात नहीं हुआ था।

इसके अनन्तर जैसे-जैसे साधु-साध्वी की संख्या में वृद्धि होने लगी तब प्रशासनिक-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए विभिन्न पदाधिकारियों की आवश्यकता महसूस की गयी और तदनुरूप अनेक पदों का सृजन भी हुआ।

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर श्वेताम्बर श्रमण संघ में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर, गणावच्छेदक, गणी आदि सात पदों का उद्भव हुआ। ये पद एक साथ अस्तित्व में आए या क्रमश: यह कहना असम्भव है, किन्तु आचारचूला में इन पदों का नाम निर्देश युगपद् रूप से प्राप्त होता है। इस दृष्टि से इनका प्रादुर्भाव एक ही समय में हुआ, ऐसा माना जा सकता है। हमें सर्वप्रथम आचार्य आदि सप्त पदों के नाम आचारचूला में उपलब्ध होते हैं।

तदनन्तर छेद सूत्रों एवं उनके व्याख्या ग्रन्थों में इन पदाधिकारियों के कार्य विभाजन, योग्यता, दायित्व आदि का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इनमें भी कहीं आचार्य- उपाध्याय का नाम निर्देश है तो कहीं आचार्य, उपाध्याय एवं गणावच्छेदक- इन तीन पदों का सूचन है और कहीं आचार्य आदि पाँच पदों का

उल्लेख है तो कहीं पर गणावच्छेदक के स्थान पर 'गीतार्थ' शब्द व्यवहृत हुआ है।

यह स्पष्ट है कि आचार्य के अतिरिक्त जो भी अन्य पद निर्धारित किये गये, वे आचार्य को सहयोग प्रदान करने के रूप में ही थे। उनका लक्ष्य श्रमण-श्रमणियों के अध्ययन, वर्षावास, विहार, वस्त्रादि उपकरण आदि की समुचित व्यवस्था करना था।

दिगम्बर संघ में आचार्य एवं उपाध्याय पद का ही उल्लेख मिलता है। वर्तमान की श्वेताम्बर-परम्परा में गणधर एवं गणावच्छेदक को छोड़कर आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर एवं गणि पद प्रवर्तित हैं और इसके अतिरिक्त पन्यास, पण्डित आदि पद अस्तित्व में भी आए हैं।

आचार्य आदि पदों का सामान्य स्वरूप निम्न प्रकार है –

आचार्य – जो स्वयं पंचाचार का पालन करते हैं और दूसरों से करवाते हैं वे आचार्य कहलाते हैं। आचार्य छत्तीस गुणों से समन्वित एवं संघ के नायक होते हैं। तीर्थङ्कर की अनुपस्थिति में आचार्य ही संघ का उत्तरदायित्व वहन करते हैं।

उपाध्याय – जैन संघ में उपाध्याय का दूसरा स्थान माना गया है। अध्यापक का अपर नाम उपाध्याय है। अतः उपाध्याय मुख्य रूप से पठन-पाठन में तल्लीन रहते हैं। आचार्य अर्थ की वाचना देते हैं और उपाध्याय सूत्र की वाचना देते हैं। ये पच्चीस गुणों से युक्त एवं श्रुतरूपी सागर के आलोडर्न में निमग्न रहते हैं।

प्रवर्त्तक – साधु-साध्वियों को सम्यक् रूप से सत्प्रवृत्तियों में जोड़ने वाले प्रवर्त्तक कहलाते हैं। यह पद, व्यवस्था और दायित्व की दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व रखता है। प्रवर्त्तक का प्रमुख दायित्व होता है कि जो श्रमण जिस साधना में रूचि रखता हो, उसे तदनुरूप साधना में नियुक्त करना।

स्थविर – जो मुनि स्वयं ज्ञान, दर्शन, चारित्र में स्थिर रहते हुए दूसरों को ज्ञानादि में सुस्थिर करता है, वह स्थविर कहलाता है। सामान्यतया जब कोई श्रमण समर्थ होते हुए भी प्रवर्त्तक द्वारा नियोजित कार्य में शिथिल हो जाता है, तब स्थविर मुनि उन्हें पुनः स्थिर करते हैं। इस प्रकार स्थविर शब्द स्थिरता का प्रतीक है।

गणि – श्रमण समुदाय का अधिपति गणि कहलाता है। इसका अपर नाम गच्छाधिपति भी है। वर्तमान में गणि और गच्छाधिपति दोनों भिन्न-भिन्न अर्थों में व्यवहृत हैं। आचारांग चूर्णि के अनुसार जिनके पास आचार्य स्वयं सूत्र और अर्थ का अभ्यास करते हैं वह गणि है।

गणधर – गण को धारण करने वाला गणधर कहलाता है। आचारचूला एवं व्यवहारभाष्य (1375) की टीकानुसार जो आचार्य के समान है, आचार्य के आदेश से साधु संघ को लेकर पृथक् विचरण करते हैं, साध्वियों की देखभाल करते हैं तथा ज्ञान आदि की विराधना न करते हुए गण का परिवर्धन करते हैं, वह गणधर है।

गणावच्छेदक – गच्छ के कार्य का चिन्तन करने वाला अर्थात साधु-साध्वियों के उपधि आदि की व्यवस्था करने वाला मुनि गणावच्छेदक कहलाता है। गणावच्छेदक, मुनि जीवन के आवश्यक सामग्रियों की अन्वेषणा करता हुआ आचार्यादि को इन बाह्य चिन्ताओं से मुक्त रखते हैं तथा संघ की प्रत्येक अपेक्षाओं को पूर्ण करने में सदैव तत्पर रहते हैं। संघीय दायित्व की अपेक्षा आचार्य से इनका तीसरा स्थान होता है।

पण्डितपद – जो सार-असार का विवेक करने में सक्षम हो, वह पण्डित कहलाता है। तदनुसार सूक्ष्म प्रज्ञावान एवं बुद्धि-कौशल्य युक्त मुनि को पण्डितपद पर स्थिर किया जाता है। यह पद तपागच्छ परम्परा के कुछ समुदायों में प्रचलित है। इसे पंन्यास पद भी कहते हैं।

आचार्य देवेन्द्रमुनि के मतानुसार कुछ विशिष्ट श्रमण, जो आगम-ज्ञाता, आचार-सम्पन्न, विवेक-सम्पन्न एवं गम्भीर प्रकृति के धनी होते हैं उन्हें रात्निक या रत्नाधिक भी कहा जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म में संघीय दायित्वों का सम्यक् निर्वहन करने हेतु अनेक पदों का सृजन किया गया है।

जहाँ तक श्रमणी संघ की पद-व्यवस्था का सवाल है, वहाँ भगवान महावीर के शासनकाल पर्यन्त किसी भी पद का नाम निर्देश प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि चन्दनबाला को साध्वी प्रमुखा के रूप में स्थापित किया गया था।

यदि हम चौबीस तीर्थङ्करों के साधु-साध्वी की संख्या का तुलनात्मक अध्ययन करें तो यह बात निःसन्देह स्पष्ट हो जाती है कि श्रमणों की अपेक्षा

श्रमणियों की संख्या अधिक थी। जैसे प्रभु आदिनाथ के चौरासी हजार श्रमण थे, वहीं तीन लाख साध्वियाँ थी। प्रभु महावीर के चौदह हजार श्रमण थे, जबकि साध्वियाँ छत्तीस हजार यानी ढाई गुना से भी अधिक थी, फिर भी किसी पद व्यवस्था का सूत्रपात हुआ हो ऐसा ज्ञात नहीं होता है।

इसके पश्चात आगम साहित्य के काल तक कहीं-कहीं 'प्रवर्त्तिनी' पद का नामांकन मिलता है, किन्तु इस सन्दर्भ में कुछ कहा गया हो, ऐसा पढ़ने में नहीं आया है।

प्राप्त जानकारी के अनुसार आगमिक व्याख्या साहित्य के पूर्वकाल तक साध्वियों को इन नामों से ही सम्बोधित किया जाता रहा है, जैसे श्रमणी, शमणी, समणी, निर्ग्रन्थी, भिक्षुणी, आर्य्या, वृतिनी, साध्वी आदि तथा परवर्तीकाल में क्षुल्लिका, महासती, स्वामी, माताजी आदि नाम भी प्रसिद्ध हुए हैं। अन्तकृतदशा[1] में 'सिस्सिणी' एवं ज्ञाताधर्मकथा[2] में 'गुरूइ' शब्द उपलब्ध होते हैं, जो सामान्यतया दीक्षा के लिए इच्छुक एवं दीक्षा दाता के सूचक हैं। दूसरे, उपर्युक्त शब्द पदव्यवस्था के वाचक हो, ऐसी सूचना भी प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि ये शब्द सामूहिक रूप से सभी श्रमणियों के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

इससे प्रतीत होता है कि तीर्थङ्करों की साक्षात उपस्थिति में उनकी आत्मानुशासित प्रणाली के कारण किसी पद व्यवस्था की अनिवार्यता महसूस नहीं हुई होगी अथवा आन्तरिक कुछ व्यवस्थाएं निर्मित हुई होंगी तो भी बाह्य स्तर पर उनका प्रगटीकरण करना आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ होगा।

हमें साध्वी-सम्बन्धी पदों के उल्लेख मूलतः छेद ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। बृहत्कल्पभाष्य में उनके पाँच पदों के नाम इस प्रकार हैं – प्रवर्त्तिनी, अभिषेका, भिक्षुणी, स्थविरा और क्षुल्लिका। इसके अतिरिक्त महत्तरा, गणिनी, गणावच्छेदिनी, प्रतिहारी आदि पदों का भी उल्लेख मिलता है। इन पदों का मूल उद्देश्य धर्म प्रभावना, संयम मार्ग की सुदृढ़ परिपालना एवं अनुशासनबद्धता ही रहा है।

दिगम्बर संघ में थेरी और गणिनी ये दो पद ही प्राप्त होते हैं। मूलाचार में दिगम्बर भिक्षुणियों के लिए संयती तथा तपस्विनी शब्द का भी प्रयोग किया गया है, परन्तु ये नाम पदव्यवस्था के द्योतक नहीं है।[3]

बौद्ध धर्म में सामान्य रूप से भिक्षुणी वर्ग के लिए सामणेरी (श्रामणेरी),

भिक्खुनी (भिक्षुणी) और सिक्खमाना (शैक्षमाणा) एवं पदस्थ भिक्षुणी के लिए थेरी और पवत्तिनी (प्रवर्त्तिनी) शब्द का प्रयोग हुआ है।

श्रमणी आदि शब्दों की संक्षिप्त परिभाषाएँ इस प्रकार है –

श्रमणी – श्रमणी शब्द 'श्रमु तपसि खेदे च' अर्थात तप और खेद अर्थ में प्रयुक्त श्रम् धातु एवं स्त्रीलिंग में 'णी' प्रत्यय से निष्पन्न है।[4] इस नियम के अनुसार जो श्रमशील और तपस्या में लीन है वह श्रमणी कहलाती है। व्यवहारभाष्य की टीकानुसार जो शारीरिक कृशता रूप बाह्य और स्वाध्याय-ध्यान आदि आभ्यन्तर तप में लीन है, वह श्रमणी है।[5]

शमनी – श्रमणी का ही एक संस्कृत रूप 'शमनी' है। मागधी भाषा में 'श्रमणी' के स्थान पर 'शमनी' प्रयोग मिलता है। शमनी शब्द 'शमु उपशमे' धातु से निर्मित है। इसका अर्थ है, जो अपनी वृत्तियों को शान्त रखती है अथवा समिति, गुप्ति, त्याग और चारित्र द्वारा पापों का शमन करती है, वह शमनी कहलाती है।[6]

समणी – यह 'श्रमणी' का प्राकृत रूप है। इसके विभिन्न अर्थ हैं- जो समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य समझकर किसी भी जीव का हनन नहीं करती, वह समणी है।[7] उत्तराध्ययनसूत्र में भी यही कहा गया है - समता से श्रमण होता है।[8] अत: हर स्थिति में समभाव धारण करने वाली समणी कहलाती है।

निर्ग्रन्थी – नि: + ग्रन्थ इन दो पदों के संयोग से निर्ग्रन्थ शब्द बना है। 'ग्रन्थ' का अर्थ है - गांठ, 'नि' निषेधार्थक उपसर्ग है। इस तरह निर्ग्रन्थ का अर्थ है - गांठ रहित। जो राग-द्वेष रूपी आन्तरिक एवं धन-धान्यादि परिग्रह रूप बाह्य ग्रन्थि को जीतने का प्रयास करता हो अथवा रहित हो, वह निर्ग्रन्थ कहलाता है। स्त्री लिंग में निर्ग्रन्थी रूप बनता है।

भिक्षुणी – भिक्षु संज्ञार्थक शब्द में 'णी' प्रत्यय जुड़कर 'भिक्षुणी' शब्द निष्पन्न हुआ है। आगमकारों के अनुसार जो मुनि वस्त्रादि उपधि में अनासक्त है, अगृद्ध है, अज्ञात कुलों में आहार की एषणा करता है, क्रय-विक्रय एवं संग्रहवृत्ति से रहित है, वह भिक्षु है।[9] टीकाकारों के अभिमत से जो शास्त्ररीति एवं मर्यादानुसार तप द्वारा कर्मों का भेदन करता है, वह भिक्षु है।[10] कहीं-कहीं पर जो अष्ट कर्मों का भेदन करता है, उसे भिक्षु कहा गया है।[11]

संस्कृत-हिन्दी कोश में 'श्रमणी' को 'भिक्षुकी' कहा है।[12] हमें 'भिक्षुणी'

शब्द सर्वप्रथम आचारांगसूत्र में प्राप्त होता है।[13]

संयतिनी – श्रमणी का एक पर्याय नाम 'संयतिनी' भी है। इसका शाब्दिक अर्थ है - संयत रहने वाली, इन्द्रियों का दमन करने वाली। अभिधानराजेन्द्रकोश के अनुसार चारित्र आदि अनुष्ठान में निष्ठ रहने वाला 'संयत' कहलाता है।[14] धवला के अनुसार जो बाह्य और आभ्यन्तर आस्रवों से विरत है, वह संयत है। संयत का स्त्रीवाची संयतिनी है।[15]

व्रतिनी – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह - इन पाँच महाव्रतों को धारण करने वाली व्रतिनी कहलाती है। बृहत्कल्पसूत्र में श्रमणी के अर्थ में व्रतिनी का बहुल प्रयोग हुआ है।[16]

साध्वी – वर्तमान में श्रमणी के स्थान पर 'साध्वी' शब्द का प्रयोग अधिक किया जाता है। प्राकृत में साध्वी के लिए 'साहुणी' 'साहुई' एवं 'साधुणी' ये तीन शब्द हैं। निशीथभाष्य में इसका उल्लेख मिलता है।[17] रत्नत्रय को धारण करने वाली अथवा तपस्विनी के अर्थ में भी साध्वी शब्द प्रयुक्त है।[18] अभिधानराजेन्द्रकोश में साधु शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ उल्लिखित है। उन सभी का तात्पर्य है, जो ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के द्वारा मोक्ष को साधते हैं अथवा अनन्त ज्ञानादि रूप शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त करने की साधना करते हैं वे साधु हैं।[19] साधु का स्त्रीलिंग पर्याय साध्वी होता है।

आर्यिका – भारतीय परम्परा में 'आर्य' शब्द आदरणीय एवं कुलीन व्यक्ति के लिए प्रयुक्त है। संस्कृत-हिन्दी कोश के अनुसार, जो अपने देश के नियम और धर्म के प्रति निष्ठावान है वह आर्य है। आर्य का स्त्रीलिंग आर्या है।[20] अर्धमागधी कोश में 'अज्जा' अर्थात आर्या शब्द साध्वी के अर्थ में प्रयुक्त है। आगम-साहित्य में भी अज्जा शब्द साध्वी के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। उसके अज्जिया, अज्जया आदि नामान्तर भी देखे जाते हैं।[21]

वर्तमान में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की श्रमणियों को 'साध्वी', अमूर्तिपूजक की श्रमणियों को 'महासती', 'आर्या' एवं 'स्वामी' तथा दिगम्बर परम्परा की श्रमणियों को 'आर्यिका' कहा जाता है। आर्यिका को 'माताजी' भी कहते हैं।

क्षुल्लिका (खुड्डी) – व्यवहारभाष्य के अनुसार तीन वर्ष तक की दीक्षित साध्वी 'क्षुल्लिका' कहलाती है। दिगम्बर-परम्परा में उत्कृष्ट श्राविका को 'क्षुल्लिका' कहा गया है तथा लंगोट धारण करने वाले मुनि को 'क्षुल्लक' कहते

हैं। इस आम्नायानुसार क्षुल्लिका एक पात्रधारी अथवा पाँच पात्रधारी होती है, थाली आदि में भोजन करती है, केशलोच का नियम नहीं है, धातु का कमण्डलु रखती है, दिन में एक बार आहार करती है और श्वेत शाटिका के सिवाय एक चादर भी रखती है।[22]

प्रवर्त्तिनी – साध्वी समुदाय को संयम आदि शुभ प्रवृत्तियों में संयोजित करने वाली श्रमणी प्रवर्त्तिनी कहलाती है। यह सकल साध्वियों की नायिका होती है। प्रवर्त्तिनी का मुख्य कर्त्तव्य निश्रावर्ती साध्वियों की सुरक्षा करना है। वह वाचना आदि उत्तरदायित्वों का भी वहन करती है।

महत्तरा – श्रमणी-संघ की प्रमुखा साध्वी 'महत्तरा' कहलाती है। प्रवर्त्तिनी की अपेक्षा यह पद उच्च होता है। सामान्य साधु-साध्वी की तुलना में भी इसका स्तर ऊँचा होता है किन्तु आचार्य से निम्न कोटि का होता है इसलिए महत्तमा न कहकर महत्तरा कहा गया है। आज भी यह पद व्यवस्था जीवित है।

गणिनी – गणिनी का शाब्दिक अर्थ है– साध्वी समुदाय का संचालन करने वाली। यह प्रवर्त्तिनी से निम्न होती है, किन्तु कभी-कभी प्रवर्त्तिनी के समकक्ष भी इसे स्थान दिया जाता है।[23] यद्यपि यह पद प्रवर्त्तिनी से किन अर्थों में भिन्न है, यह स्पष्ट नहीं हो पाया है। तदुपरान्त जैसे श्रमण-संघ में ग्यारह अंगों का ज्ञाता गणि कहलाता है[24] उसी प्रकार श्रमणी संघ में बहुश्रुता साध्वी गणिनी कहलाती होगी। संस्कृत व्याकरण में 'गण्' धातु गणनार्थक है। इससे ध्वनित होता है कि श्रेष्ठ, गणनीया, माननीया साध्वी गणिनी कहलाती है।

मूलाचार में प्रधान साध्वी या महत्तरा को गणिनी कहा गया है।[25] वस्तुतः संघ में गणिनी की क्या स्थिति थी एवं उसके मुख्य अधिकार क्या थे ? इसकी प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं हो पायी है, किन्तु भाष्यकार के मत से इतना स्पष्ट हो जाता है कि अपराध होने पर गणिनी एवं अभिषेका को निम्न तथा प्रवर्त्तिनी को कठोर दण्ड दिया जाता है। उदाहरणार्थ– भिक्षुणी को जलाशय के किनारे ठहरना एवं वहाँ स्वाध्याय आदि करने का निषेध है। इस नियम का अतिक्रमण करने पर गणिनी एवं अभिषेका को छेद तथा प्रवर्त्तिनी को मूल प्रायश्चित्त देने का विधान है।[26] इस व्यवस्था के आधार पर निर्विवादतः कहा जा सकता है कि गणिनी प्रवर्त्तिनी से निम्न तथा अभिषेका के समकक्ष होती है।

गच्छाचार के अनुसार गणिनी विदुषी, प्रशासनिक कार्यों में दक्ष, स्वाध्याय

एवं ध्यान में निमग्न, ज्ञान आदि का संग्रह करने में कुशल, मोक्षाभिलाषिणी, शिक्षा दान में अप्रमत्त और जिनशासन रक्षणार्थ उग्र रूप धारण करने वाली होती है।[27]

गणावच्छेदिका – आचारांग, स्थानांग आदि आगम साहित्य में गणावच्छेदक शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से देखा जाता है, किन्तु वह श्रमण के लिए व्यवहृत है। श्रमणियों के लिए इस पद का प्रयोग छेद सूत्रों एवं उनके व्याख्या साहित्य में ही उपलब्ध होता है। गणावच्छेदिका की वास्तविक स्थिति के बारे में इतना ही ज्ञात होता है कि यह प्रवर्त्तिनी की मुख्य सहयोगिनी होती है। इसका कार्य क्षेत्र गणावच्छेदक की भाँति विस्तृत होता है। प्रवर्त्तिनी की अनुमति से निश्रावर्ती साध्वियों की सेवा, शिक्षा आदि का ध्यान रखना, उनकी सम्यक् देख-रेख करना, उनके विहार आदि की समुचित व्यवस्था करना एवं वर्षावास योग्य क्षेत्र की गवेषणा करना आदि कार्य करती हुई प्रवर्त्तिनी को बहुत-सी चिन्ताओं से मुक्त रखती है।

अनेक स्थलों पर 'पवत्तिणी वा गणावच्छेइणी वा' शब्द का प्रयोग यह ध्वनित करता है कि प्रवर्त्तिनी के समान गणावच्छेदिका के लिए भी आचार प्रकल्प आदि का सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि गणावच्छेदिका पदस्थ साध्वी कुछ नियम प्रवर्त्तिनी के समान ही बताये गये हैं। जैसे – प्रवर्त्तिनी को हेमन्त व ग्रीष्म ॠतु में दो तथा वर्षाॠतु में तीन साध्वियों के साथ रहने का विधान है वहीं गणावच्छेदिनी के लिए इन्हीं ॠतुओं में क्रमश: तीन और चार साध्वियों के साथ यात्रा आदि करने का नियम है।[28] इस तरह गणावच्छेदिनी प्रवर्त्तिनी के समान होने पर भी कार्य क्षेत्र आदि की अपेक्षा भिन्न होती है। उसका कार्य क्षेत्र विस्तृत होता है, अत: उसके साथ रहने वाली साध्वियों की संख्या प्रवर्त्तिनी से अधिक रखी गयी है।

भाष्यकार के मतानुसार श्रमणी संघ में गणावच्छेदिनी का स्थान उपाध्याय के सदृश होता है।[29]

अभिषेका – सामान्यत: अभिषेक शब्द पदारोहण या प्रतिष्ठापन अर्थ में प्रयुक्त होता है। बृहत्कल्पभाष्य में अभिसेगपत्ता अर्थात "अभिषेक प्राप्ता प्रवर्त्तिनी पद योग्या" कहकर उसे प्रवर्त्तिनी पद के योग्य माना है।[30] इससे प्रतीत होता है कि प्रवर्त्तिनी के देहावसान के पश्चात जिस योग्य गीतार्था को प्रवर्त्तिनी पद पर अभिषिक्त किया जाता है, वह अभिषेका कहलाती है।

भाष्यकार ने गणावच्छेदिका को भी अभिषेका कहा है, किन्तु पद की दृष्टि से अभिषेका का स्थान गणावच्छेदिनी से भिन्न होता है। प्रवर्त्तिनी और गणावच्छेदिनी की अपेक्षा इसका दण्ड विधान भी न्यून होता है।[31] कहीं-कहीं अभिषेका और गणिनी को समकक्ष कहा गया है।[32] वस्तुतः स्थविरा, भिक्षुणी एवं क्षुल्लिका से अभिषेका का स्थान ऊँचा होता है तथा प्रवर्त्तिनी या गणिनी की वृद्धावस्था में उनके उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने हेतु इसे भावी गणिनी के रूप में स्वीकार किया जाता है।

किसी अपेक्षा से श्रमण संघ में जो स्थान स्थविर का है वही श्रमणी-संघ में अभिषेका का माना गया है।[33]

प्रतिहारी – द्वारपाल के समान श्रमणी संघ की सुरक्षा करने वाली साध्वी प्रतिहारी कही गयी है। प्रतिहारी साध्वी को प्रतिश्रयपाली, द्वारपाली अथवा पाली शब्द से भी सम्बोधित किया है। यह श्रमणियों के लिए Guard के रूप में कार्यरत रहती है। विहार यात्रा आदि जहाँ कहीं भी साध्वी वर्ग की सुरक्षा का प्रश्न होता है वहाँ उसे द्वारपाल के रूप में नियुक्त किया जाता है।[34]

बृहत्कल्पभाष्य के मतानुसार यह साध्वियों में प्रतिभावान, शरीर से बलिष्ठ, निर्भीक, उच्च कुलोत्पन्न, वय एवं बुद्धि से परिपक्व, गीतार्थ एवं भुक्तभोगिनी होती है।[35.]

यदि किसी साध्वी को आतापना आदि की इच्छा हो, तब भी सुरक्षा के रूप में प्रतिहारी का साथ होना आवश्यक है। इसे रात्निक या रत्नाधिक श्रमणी भी कहा जाता है।

स्थविरा – स्थविरा शब्द वृद्धत्व का सूचक है। यहाँ संयम पर्याय, आयु एवं ज्ञान तीनों की अपेक्षा वृद्धत्व समझना चाहिए। आगमिक व्याख्याकारों ने भुक्तभोगी एवं कुतूहल रहित निर्विकारी गीतार्थ को भी स्थविर कहा है।[36] श्रमणी संघ में वन्दन-व्यवहार आदि की दृष्टि से स्थविरा का तीसरा स्थान मान्य है। यह भिक्षुणी और क्षुल्लिका से उच्च स्थानीय होती है। स्थविर के समान यह स्वयं भी संयमनिष्ठ होती है और धर्म से खिन्न होने वाली साध्वियों को भी संयम में दृढ़ करती है। सामान्यतया संघीय समस्याओं को सुलझाने एवं प्रवर्त्तिनी आदि के अभाव में वस्त्रादि की याचना करने में स्थविरा का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।[37] साथ ही असुरक्षित या शून्य प्रदेशों में विहार करते समय बाल या तरूणी

साध्वियों के आगे-पीछे चलती हुई उनकी सुरक्षा करती है।

क्षुल्लिका – जैनाचार्यों ने सद्य: प्रव्रजिता साध्वी को 'क्षुल्लिका' या 'बाला' कहा है। सामान्यत: जिसकी दीक्षा पर्याय तीन वर्ष से न्यून है और जिसे मुनि जीवन के आचार-संहिता की पूर्ण जानकारी नहीं हो पायी है, वह क्षुल्लिका या खुड्डी कहलाती है। क्षुल्लिका को मात्र सामायिक चारित्र ही होता है। यह साध्वी जीवन की सामान्य अवस्था है अत: इसके शील एवं चारित्र के संरक्षणार्थ कई विशिष्ट नियम भी बनाये गये हैं जैसे क्षुल्लिका एकाकी विचरण नहीं कर सकती, उसे प्रवर्त्तिनी आदि गीतार्थ साध्वियों की निश्रा में ही रहना चाहिए आदि। आज इसका महत्त्व दिगम्बर-संघ में अधिक रह गया है।

उपर्युक्त वर्णन से फलित होता है कि श्रमणी संघ में विक्रम की दूसरी शती के पश्चात अनेक पदों की व्यवस्था का प्रवर्त्तन हुआ। किसी समय पूर्वोल्लेखित पदों का गरिमामय स्थान था, किन्तु वर्तमान में प्रवर्त्तिनी, महत्तरा एवं गणिनी ऐसे तीन पद ही जीवन्त रह गये हैं।

अग्रिम अध्यायों में प्रचलित पदों एवं पदाधिकारियों की विस्तृत विवेचना की जाएगी।

सन्दर्भ-सूची

1. *अन्तकृतदशासूत्र, 5वाँ वर्ग*
2. *ज्ञाताधर्मकथासूत्र, 1/9/10*
3. *मूलाचार, 4/184-185 की टीका*
4. *संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 1035*
5. *श्राम्यत्ति तपस्यतीति श्रमण:।*

   व्यवहारभाष्य 4/2 की टीका
6. *मूलाचार, 9/27*
7. *सूत्रकृतांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 1/16/635*
8. *समयाए समणो होइ। उत्तराध्ययनसूत्र, 25/32*
9. *दशवैकालिकसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 10/16*
10. *य: शास्त्रनीत्या तपसा कर्म भिनत्ति स भिक्षु:।*

    दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका, अध्ययन 10 की टीका, पृ. 261
11. *निरुक्तकोश, आचार्य तुलसी, पृ. 220*

12. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 1035
13. आचारांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/1/1/324
14. अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 7, पृ. 413
15. धवला, 1/1/3/123, पृ. 437
16. भास्कर पत्रिका, भा. 7, किरण 2, जून 1940, पृ.82
17. साधुणी विसहू, साहू वि सहू। निशीथभाष्य, 1745 की चूर्णि
18. अभिधानराजेन्द्रकोश, देखिए 'साहुणी' शब्द, भा. 7, पृ. 804
19. साधयति सम्यग्दर्शनादि, योगैरपवर्गमिति साधुः ।
अनन्तज्ञानादि शुद्धात्मस्वरूपं, साधयन्तीति साधवः ॥

अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 7, पृ. 802

20. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 159
21. (क) स्थानांग, संपा. मधुकरमुनि, 5/2/162
(ख) समवायांग, संपा. मधुकरमुनि, 36/238
22. सुत्तपाहुड- श्रुतसागरीयटीका, गा. 22
23. गणिनी प्रवर्त्तिनी सा भिक्षुसदृशी मन्तव्या। बृहत्कल्पभाष्य, 6111 की टीका
24. एकादशांगविद् गणी। जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भा. 2, पृ. 234
25. गणिनी महत्तरिका। मूलाचार, 192 की टीका
26. गणिनी अभिषेका सा छेदे, प्रवर्त्तिनी पुनर्मूले तिष्ठतीति ।

बृहत्कल्पभाष्य, 2410 की टीका

27. सभा सीसपडिच्छीणं, चोअणासु अणालसा।
गणिनी गुणसंपन्ना, पसत्थ सुरिसाणुगा॥
संविग्गा भीयपरिसाय, उग्गदंडाय कारणे।
सज्झायज्झाणजुत्ता य, संगहे अ विसारआ॥

गच्छाचारप्रकीर्णक, 127-128

28. व्यवहारसूत्र, सम्पा. मधुकरमुनि, 5/1-10
29. आचार्य स्थाने प्रवर्त्तिनी, वृषभस्थाने गणावच्छेदिनी वक्तव्या।
यहाँ वृषभ का अर्थ उपाध्याय है।

बृहत्कल्पभाष्य, गा. 1070

30. बृहत्कल्पभाष्य, 4339 की टीका

31. *प्रवर्त्तिनी यद्याचार्यणां कथयतां न शृणोति तदा चत्वारो गुरवः, प्रवर्त्तिन्याः पार्श्वे गणावच्छेदिनी न श्रृणोति चत्वारो लघवः, अभिषेका न शृणोति मासगुरु।*
बृहत्कल्पभाष्य, 1044

32. *गणिनी अभिषेका तस्याः सदृशः। वही, 2411 की टीका*

33. *थेर सरिच्छी तु होइ अभिसेगा। वही, 6111 की टीका*

34. *सा च प्रतिहारी द्वारमूले संस्तारयति। वही, 2333 की टीका*

35. *काएण उवचिया खलु*
पडिहारी संजईण गीयत्था।
परिणय भुत्त कुलीणा
अभीरू वायामिय सरीरा।।
वही, 2334

36. *उवभुत्तभोगी भुत्तभोगिणो विगतकौतुकाः निर्विकारा गीतार्था ते य थेरा।*
निशीथसूत्र, अमरमुनि, गा. 611 की चूर्णि

37. *असती पवत्तिणीए अभिसेगादी ......*
गेण्हंति थेरियापुण दुगमादी दोण्ह वी असती।
बृहत्कल्पभाष्य, 5963.

●

अध्याय-2

वाचना दान एवं ग्रहण विधि का मौलिक स्वरूप

वाचना जैन परम्परा का पारिभाषिक शब्द है। योगवाही अथवा योग्य शिष्य को आगम पढ़ाना अथवा सूत्रार्थ समझाना वाचना दान कहलाता है तथा शिष्य के द्वारा उन्हें गुरु मुख से विधिपूर्वक धारण करना वाचना ग्रहण कहलाता है। वाचना के माध्यम से आगम ग्रन्थों का बहुमान एवं उत्कीर्त्तन होता है।

जैन परम्परा में आगम सूत्रों का आदान-प्रदान वाचनापूर्वक होता है।

वाचना शब्द का अर्थ एवं परिभाषाएँ

वाचना शब्द 'वच्' धातु एवं णिच् + ल्युट् + टाप् इन प्रत्ययों के संयोग से निष्पन्न है।[1] वच् धातु वचनार्थक होने से वाचना का अर्थ 'कहना' होता है। यहाँ वाचना का अभिप्रेत आगम निहित तत्त्वों के रहस्यों को उद्घाटित करना और सूत्रार्थ का सम्यक बोध करवाना है।[2]

जैन साहित्य में वाचना के निम्नोक्त अर्थ प्राप्त होते हैं –

- शास्त्र का अध्ययन करवाना वाचना है।[3]
- गुरु या श्रुतधर से शास्त्र का अध्ययन करना वाचना है।
- स्थानांगटीका एवं विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार गुरु मुख से सुनकर ज्ञान प्राप्त करना वाचना है।[4]
- उत्तराध्ययनटीका में गुरु के समीप सूत्राक्षरों के ग्रहण करने को वाचना कहा गया है[5] तथा गुरु द्वारा दिया गया सूत्र ज्ञान वाचना है।[6]
- प्राकृतकोश के अनुसार गुरु के द्वारा, अध्ययन-अध्यापन, व्याख्यान, सूत्र-पाठ आदि की प्रवृत्ति करना वाचना कहलाता है।[7]

उक्त अर्थों के मूल रूप से द्विविध आशय हैं। प्रथम आशय के अनुसार गुरु के द्वारा आगम सूत्रों का अध्ययन करवाना तथा उनके रहस्यों को स्पष्ट करना वाचना है तथा दूसरे आशय के अनुसार गुरु मुख से सूत्र एवं अर्थ को ग्रहण कर उसका अवधारण करना वाचना है। इनमें प्रथम अर्थ वाचना दान से सम्बन्धित है और दूसरा वाचना ग्रहण से सम्बद्ध है।

वाचना ग्रहण के अयोग्य कौन ?

बृहत्कल्पसूत्र में तीन व्यक्तियों को वाचना देने-लेने के अयोग्य बतलाया गया है[8]–

1. अविनीत, 2. विकृति-प्रतिबद्ध और 3. अनुपशान्त।

1. अविनीत – जो विनय-रहित है, आचार्य या दीक्षा ज्येष्ठ साधु आदि के आने-जाने पर अभ्युत्थान, सत्कार, सम्मान आदि यथोचित विनय नहीं करता है, वह 'अविनीत' कहलाता है।

2. विकृति-प्रतिबद्ध – जो दूध, दही आदि रसों में गृद्ध है, उन रसों की प्राप्ति न होने पर सूत्रार्थ आदि के ग्रहण में मन्द उद्यमी रहता है उसे 'विकृति-प्रतिबद्ध' कहते हैं।

3. अनुपशान्त – जो अल्प अपराध के प्रति प्रचण्ड क्रोध करता है और क्षमायाचना कर लेने पर भी उस पर बार-बार क्रोध प्रकट करता रहता है वह 'अनुपशान्त' कहा गया है।

उक्त तीनों प्रकार के मुनियों को वाचना देने के अयोग्य मानने का मुख्य कारण यह है कि विनय से ही विद्या की प्राप्ति होती है, अविनयी शिष्य को विद्या पढ़ाना व्यर्थ या निष्फल होता है, प्रत्युत कभी-कभी दुष्फल भी देता है।

जो दूध-दही आदि विकृतियों में आसक्त है उसे दी गयी वाचना स्थिर नहीं रह सकती है अत: उसे भी वाचना देना व्यर्थ है।

जिसके स्वभाव में उग्रता है, ऐसें मुनि को भी वाचना देना निष्फल बताया गया है। इसलिए उक्त तीनों प्रकार के मुनि सूत्र, अर्थ या सूत्रार्थ की वाचना के अयोग्य कहे गये हैं।

बृहत्कल्पसूत्र में निम्न तीन प्रकार के साधु भी वाचना ग्रहण के अयोग्य माने गये हैं[9]– **1. दुष्ट** – तत्त्वोपदेष्टा एवं यथार्थ तत्त्व के प्रति द्वेष रखने वाला **2. मूढ़** – गुण और अवगुण के विवेक से रहित **3. व्युद्ग्राहित** – विपरीत (अन्ध) श्रद्धा रखने वाला, कदाग्रही।

इन तीनों ही प्रकार के साधु को समझाना बहुत कठिन है। इन्हें शिक्षा देने या समझाने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है अत: ये सूत्र वाचना के पूर्ण अयोग्य होते हैं।

निशीथसूत्र के अभिमतानुसार अप्राप्त एवं अव्यक्त मुनि वाचना लेने-देने के अयोग्य हैं।[10] निशीथभाष्यकार एवं निशीथचूर्णिकार ने इस पर सम्यक्

विवेचन किया है।[11] जिस श्रुताध्ययन का जो काल निश्चित है उस वय को प्राप्त नहीं हुआ मुनि अप्राप्त कहलाता है, जैसे तीन वर्ष से न्यून दीक्षा पर्याय वाला निशीथसूत्र पढ़ने की योग्यता को अप्राप्त है। आवश्यकसूत्र नहीं पढ़ा हुआ दशवैकालिक के लिए तथा दशवैकालिकसूत्र नहीं पढ़ा हुआ उत्तराध्ययन के लिए अप्राप्त है। जिस शिष्य के कांख, मूंछ आदि की जगह बालों की उत्पत्ति नहीं हुई है वह अव्यक्त कहलाता है, उसके बाद व्यक्त कहा जाता है अथवा सोलह वर्ष की उम्र तक अव्यक्त कहा जाता है, उसके बाद व्यक्त कहलाता है। अव्यक्त भिक्षु को कालिकश्रुत (अंगसूत्र एवं छेदसूत्र) की वाचना देने का निषेध है।

भाष्यकार ने अप्राप्त-अव्यक्त शिष्य को वाचना न देने का कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि अल्पवय में श्रुत को ग्रहण करने की एवं धारण करने की शक्ति भी अल्प होती है। जैसे कच्चे घड़े में डाला हुआ जल घड़े को ही नष्ट कर देता है वैसे ही जिसका आधार सुदृढ़ नहीं है, जिसमें धारणा सामर्थ्य नहीं है, उस अव्यक्त-अप्राप्त को बताये गये सिद्धान्त (छेदसूत्र आदि) एवं उनके रहस्य उसे नष्ट कर देते हैं। घट दृष्टान्त को अन्य तरह से भी समझा जा सकता है। जिस प्रकार कच्चे घड़े को अग्नि में रखकर पकाया जाता है किन्तु उसमें पानी नहीं डाला जाता उसी प्रकार अल्पवयी शिष्य को शिक्षा अध्ययन आदि से परिपक्व बनाया जाता है, किन्तु उक्त आगमों की वाचना वयस्क एवं अध्ययन के योग्य होने पर ही दी जाती है।

संक्षेप में कहें तो जिसने निशीथसूत्र का अध्ययन नहीं किया है, वह श्रुत से अव्यक्त है तथा जो सोलह वर्ष से कम है वह वय से अव्यक्त है। जो पर्याय से व्यक्त और श्रुत से प्राप्त हो, वही वाचनीय है।

वाचनाग्राही में अपेक्षित योग्यताएँ

आचार्य भद्रबाहु ने निम्न गुणों से युक्त मुनि को वाचना लेने एवं देने के योग्य कहा है[12]–

1. **विनीत** – सूत्रार्थदाता के प्रति वन्दना आदि विनय करने वाला।
2. **विकृति-अप्रतिबद्ध** – विकृतियों में आसक्त न रहने वाला।
3. **उपशान्त प्राभृत** – उपशान्त स्वभाव वाला।

इन तीन प्रकार के व्यक्तियों को दी गयी वाचना श्रुत का विस्तार करती है, ग्रहण करने वाले का इहलोक और परलोक सुधारती है और जिनशासन की प्रभावना करती है।

बृहत्कल्पसूत्र में इन तीन मुनियों को भी वाचना लेने के पूर्ण योग्य बतलाया है[13]–

1. **अदुष्ट** – तत्त्वोपदेष्टा के प्रति द्वेष नहीं रखने वाला।
2. **अमूढ़** – गुण और दोषों का भेद ज्ञाता।
3. **अव्युद्ग्राहित** – सम्यक् श्रद्धा वाला।

मूलार्थ यह है कि जो द्वेष भाव से रहित है, हित-अहित के विवेक से युक्त है और कदाग्रही नहीं है, ऐसे मुनि वाचना द्वारा प्रतिपादित तत्त्व को सरलता एवं सुगमता से ग्रहण करते हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र में शिक्षाशील (वाचनाग्राही) के आठ लक्षण बतलाते हुए कहा है कि निम्न गुणों से युक्त शिष्य श्रुत अध्ययन के योग्य होता है – 1. जो हास्य नहीं करता है 2. सदा इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण रखता है 3. मर्म (गुप्त बात) को प्रकट नहीं करता है 4. चरित्र से हीन नहीं है 5. चारित्र के दोषों से कलुषित नहीं है 6. रसों में गृद्ध नहीं है 7. क्रोध नहीं करता है और 8. सत्यनिष्ठ है।[14]

आचार्य हरिभद्र के मन्तव्यानुसार जो सामान्यत: राग-द्वेष से रहित, बुद्धिमान, धर्मार्थी, परलोक भीरू हो, विशेष रूप से अंगचूला आदि शास्त्रों का अध्ययन किया हुआ हो और अध्ययन निपुणता आदि गुणों से युक्त हो वह वाचना लेने के योग्य है।[15]

आचार्य वर्धमानसूरि ने वाचना देने-लेने योग्य शिष्य का लक्षण निरूपित करते हुए कहा है कि गुरु भक्त, क्षमावान, कृतयोगी, निरोग, प्रज्ञावान, बुद्धि के आठ प्रकार के गुणों से युक्त, विनीत, शास्त्र अनुरागी, निद्राजित, अप्रमत्त, विषय त्यागी, यति आचार को जानने वाला तथा ईर्ष्यादि से रहित मन वाला मुनि सिद्धान्त अध्ययन के लिए अति उत्तम है।[16]

वाचना दान के योग्य कौन ?

वाचना दान का सर्वाधिकारी कौन हो सकता है ? इस सम्बन्ध में स्पष्ट चर्चा मध्यकालीन ग्रन्थों में प्राप्त होती है। आचार्य जिनप्रभसूरि के अनुसार जो

मुनि कल्पत्रेपादि अनुष्ठान को विधिपूर्वक कर चुका हो और जिसके सभी सूत्रों के योग पूर्ण हो गए हो वही मूल ग्रन्थ, नन्दी, अनुयोगद्वार आदि सूत्रों की वाचना देने में योग्य है।[17] आचार्य वर्धमानसूरि ने योगोद्वहन करवाने वाले गुरु को ही वाचना दान के योग्य स्वीकार किया है। योगोद्वहन योग्य गुरु के लक्षण योगविधि अधिकार में कहेंगे।[18]

वाचना आदान-प्रदान के शास्त्रीय लाभ

भाष्यकार संघदासगणि ने वाचना देने-लेने के पाँच लाभ बतलाये हैं[19]–

1. **संग्रह** – वाचना दान-ग्रहण से श्रुत सम्पन्नता बढ़ती है तथा श्रुत सम्पन्नता से शिष्यों की वृद्धि भी सुगमतापूर्वक होती है।

2. **उपग्रह** – श्रुतज्ञान के दान से संघ का उपकार होता है।

3. **निर्जरा** – ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की निर्जरा होती है।

4. **श्रुतपर्यवजात** – श्रुत के विविध अर्थों का बोध होता है।

5. **अव्यवच्छित्ति** – जैन संघ की श्रुत परम्परा अविच्छिन्न रहती है।

वाचना देने-लेने से निम्न गुणों की भी प्राप्ति होती है –

1. आत्महित होता है 2. परहित होता है 3. गुरु और शिष्य दोनों का हित होता है 4. एकाग्रता में अभिवृद्धि होती है। यदि वाचक और श्रोता श्रुतसागर की गहराई में उतर जाए तो चैतसिक चंचलता का निरोध हो जाता है 5. श्रुत और अर्हत परमात्मा के प्रति बहुमान पैदा होता है तथा आर्य वज्र स्वामी की भांति विश्व में कीर्ति फैलती है। इसके अतिरिक्त गुरु-शिष्य में एक-दूसरे के प्रति किसी तरह की आशंका या सन्देह बना हुआ हो तो वह दूर हो जाता है। गुरु के प्रति शिष्य का समर्पण-भाव बढ़ता है। साथ ही शिष्य के प्रति गुरु के वात्सल्य भाव में भी अभिवृद्धि होती है। नये-नये सिद्धान्तों का श्रवण करने से विशिष्ट प्रकार का ज्ञानार्जन होता है। संयम निष्ठा बलवान बनती है। सहवर्ती मुनियों से मधुर सम्बन्ध स्थापित होता है तथा स्वाध्याय के विविध रूपों का अभ्यास होता है।

योग्य शिष्य को वाचना देने के फायदे

आचार्य हरिभद्र ने वाचना इच्छुक शिष्य के जो गुण बताये हैं उन गुणों से युक्त शिष्य को वाचना देने पर निम्न लाभ होते हैं[20] –

अल्प कषायी जीव को वाचना देने से वह माध्यस्थ गुण के कारण किसी भी विषय में कदाग्रह (दुराग्रह) नहीं रखता है। माध्यस्थ जीव प्राय: माया आदि दोषों से रहित और आसन्न भव्य ही होते हैं अत: ऐसे जीवों को समझाने के लिए किया गया प्रयत्न सफल बनता है।

दूसरे गुण के अनुसार बुद्धिमान शिष्य ही किसी विषय के सूक्ष्म एवं स्थूल गुणों तथा दोषों को जान सकता है। वह प्रत्येक सिद्धान्त का कष, छेद और ताप द्वारा परीक्षण कर जो परमार्थत: शुद्ध हो, उसे ही स्वीकार करता है।

तीसरे गुण के अनुसार धर्मार्थी शिष्य हड़ नामक वनस्पति की तरह स्वयं को मोहग्रसित जीवों से अलग रखता हुआ सूत्र पाठों का भलीभांति अभ्यास कर सकता है।

चौथे गुण के अनुसार अंगचूला यानी आवश्यकसूत्र से लेकर सूत्रकृतांगसूत्र पर्यन्त शास्त्रों का अध्ययन किए हुए मुनि को वाचना देने से ज्ञान वृद्धि आदि अनेक लाभ होते हैं। अंगचूला अध्येता को कल्पित कहा गया है।

पाँचवें गुण के निर्देशानुसार परिणत (शुभ अन्तःकरण वाला), धर्म रूचिवान और पापभीरू शिष्य उत्सर्ग और अपवाद मार्ग को देश-काल के अनुसार स्वीकार करता है अत: परिणत शिष्य को छेदसूत्र पढ़ाना योग्य है।

तत्त्वत: योग्य शिष्य को वाचना देने से परिश्रम सफल बनता है, श्रुत-परम्परा सम्यक् रूप से प्रवर्त्तमान रहती है और आगमिक सिद्धान्तों की विपरीत प्ररूपणा नहीं होती है।

अयोग्य को वाचना देने के दोष

गुरु मुख से सूत्रार्थ का अध्ययन करना वाचना कहलाता है। वाचना ग्रहण करने में विनय का प्राथमिक स्थान है। विनय पूर्वक ग्रहण की गई वाचना ही सुफलदायी होती है। अविनीत को श्रुत प्राप्त होने पर अहंकारी बन जाता है अत: अविनीत को वाचना देने का निषेध है।

अविनीत को वाचना देने से वह घाव पर नमक डालने की भांति स्वयं नष्ट होकर दूसरों को भी नष्ट कर देता है। बृहत्कल्पभाष्य में इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि जब ग्वाला गायों के आगे आकर पताका दिखाता है, तब उनकी गति में तीव्रता आ जाती है, यह श्रुति है। अत: जैसे पताका स्वयं प्रस्थित गोयूथ के वेग को बढ़ाती है वैसे ही अविनीत को दिया गया श्रुतज्ञान

उसके अहं को बढ़ाता है। दुर्विनीत के लिए श्रुत रूपी औषध अहितकर है।

विनीत का श्रुतज्ञान ही इहलोक और परलोक में फलदायी होता है वही अविनीत को दी गयी विद्या जल रहित धान्य के समान कभी फलवती नहीं होती है। श्रुत सम्पन्न गुरु वाचना देते समय इस बात का पूर्ण ख्याल रखते हैं कि जो शिष्य अपात्र हैं उन्हें सूत्रार्थ की वाचना नहीं दी जाए, क्योंकि अपात्र को वाचना देने से श्रुत की आशातना होती है और शिष्य का भी विनाश अर्थात संसार वर्द्धन होता है।

जो शिष्य शरीर से पुष्ट होने पर भी रस लोलुपता के कारण विकृति कारक द्रव्यों का परित्याग नहीं करता है और तप योग नहीं करता है उसे दिया गया श्रुत भी लाभदायी नहीं होता, क्योंकि योगोद्वहन के बिना वाचना ग्रहण (श्रुत के उद्देशन आदि रूप व्यवहार) करने का निषेध है। तप के बिना गृहीत ज्ञान वांछित फल प्रदान नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में साधनाहीन विद्या कभी भी फलित नहीं होती है।

आचार्य भद्रबाहु उक्त विषय को स्पष्ट करते हुए यह भी कहते हैं कि अयोग्य को अध्ययन के लिए प्रेरित करने पर वह कलह करता है। अपात्र को वाचना देने वाले प्रमत्त साधु को दुष्ट देव छल सकता है। अयोग्य को श्रुत दान देने वाले साधु की सद्गति नहीं होती तथा उसे बोधि लाभ भी प्राप्त नहीं होता। उसका सारा श्रम ऊसर भूमि में बोये बीज की भांति निष्फल होता है। अपात्र को वाचना देते हुए देखकर दूसरे वाचक सोचते हैं - अब तो हम भी अपात्र-प्रिय शिष्य को वाचना दे सकते हैं इस प्रकार अपात्र को वाचना दान करने वाले का इहलोक-परलोक दोनों बिगड़ते हैं तथा अनवस्था दोष उत्पन्न होता है, परिणामत: अविनय की परम्परा आगे बढ़ती है।[21]

निशीथभाष्य में कहा गया है कि जिस व्यक्ति के कान, हाथ आदि छिन्न हो, उसे आभूषण नहीं पहनाये जाते, उसी प्रकार अपात्र को वाचना भी नहीं दी जाती है। आयु पूर्ण होने पर विशिष्ट विद्याओं का विनाश होना निश्चित है, परन्तु अपात्र को वाचना देना अच्छा नहीं है।[22]

वाचना सुविहितों का परम आचार है अत: पात्र को ही वाचना देनी चाहिए। आगमकारों के अनुसार अयोग्य को वाचना देना और पात्र को वाचना न देना- दोनों ही प्रायश्चित्त योग्य है। अपात्र को वाचना देने पर दोष उत्पन्न होते

ही हैं, परन्तु पात्र को वाचना न देने से भी अपयश होता है इसी से सूत्र-अर्थ का विच्छेद और प्रवचन की हानि भी होती है। 'ये पक्षपातयुक्त हैं' इस रूप में गुरु की अपकीर्ति होती है अत: योग्य शिष्य को निश्चित रूप से वाचना देनी चाहिए।[23]

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी अयोग्य शिष्य को वाचना देना दोषकारी माना है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार शरीर में उत्पन्न होने वाले कफ आदि रोग पक न जाएं, उसके पूर्व ही उस रोग का उपचार प्रारम्भ कर देना अथवा रोग शमनार्थ औषध सेवन करना उस रोगी के लिए अहितकर बनता है उसी प्रकार अतिपरिणत (ज्ञान अहंकारयुक्त) और अपरिणत (अपरिपक्व बुद्धिमान) शिष्य को छेदसूत्रादि की वाचना देना, उसके विचित्र कर्मोदय रूप दोष के कारण अहितकारी होती है। कारण कि, विपरीत बुद्धिपूर्वक सुनने से हितकारी वाचना भी दुष्परिणाम वाली हो जाती है। जिस प्रकार कच्चे घड़े में डाला गया पानी घड़े का नाश करता है, उसी प्रकार अयोग्य को दिया हुआ सिद्धान्तों का रहस्य उसकी आत्मा का नाश करता है।

दूसरा दोष यह है कि अतिपरिणत और अपरिणत जीव स्वभावत: मिथ्याग्रही होते हैं अत: अयोग्य या अपरिपक्व जीवों को दी गयी वाचना विपरीत परिणाम वाली होती है ऐसे व्यक्ति मिथ्या बुद्धि के कारण मिथ्या प्ररूपणा भी करते हैं।[24]

विशेषावश्यक भाष्य में यह भी कहा गया है कि जो एक अर्थपद को भी यथार्थ रूप से ग्रहण नहीं कर पाता, ऐसे अयोग्य शिष्य को वाचना देने से आचार्य और श्रुत का अवर्णवाद होता है। जिसके परिणामस्वरूप कोई कहता है कि आचार्य कुशल नहीं है, उनमें प्रतिपादन की क्षमता नहीं है और कोई कहता है कि श्रुतग्रन्थ परिपूर्ण नहीं है।

अयोग्य शिष्य को वाचना देने में समय भी अधिक बीत जाता है, इससे आचार्य सूत्र और अर्थ का यथोचित परावर्तन नहीं कर सकते, अन्य योग्य शिष्यों को पूर्ण वाचना नहीं दे सकते। इस तरह सूत्र और अर्थ की परिहानि होती है।

जैसे वन्ध्या गाय स्नेह पूर्वक स्पर्श करने पर भी दूध नहीं देती, वैसे ही मूढ़ शिष्य कुशल गुरु से एक भी अक्षर ग्रहण नहीं कर पाता है। प्रत्युत अयोग्य

को वाचना देने वाला क्लेश का अनुभव करता है और प्रायश्चित्त का भागी होता है।[25] अतएव योग्य शिष्य को ही वाचना देनी चाहिए।

वाचना निषेध की आपवादिक स्थितियाँ

आगमिक व्याख्याओं में योग्य शिष्य को भी कुछ स्थितियों में वाचना देने का निषेध किया गया है। निशीथभाष्यकार के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पुरुष इनकी अनुकूलता न हों तो गुरु योग्य शिष्य को भी वाचना न दें।

द्रव्य – आहार आदि की समुचित व्यवस्था या उपलब्धि न हो तथा आयंबिल के लिए ओदन, कुल्माष और सत्तु- ये तीन वस्तुएँ प्राप्त न हो।

क्षेत्र – स्वाध्याय के अनुकूल क्षेत्र न हो।

काल – अशिव या दुर्भिक्ष हो अथवा अस्वाध्याय का काल हो।

भाव – स्वयं या शिष्य रोगी हो अथवा रूग्ण आदि की सेवा में संलग्न हो।

पुरुष – वाचनाभिलाषी योगोद्वहन करने में असमर्थ हो।[26]

उक्त स्थितियों में योग्य शिष्य को भी वाचना देने पर प्रायश्चित्त आता है।

वाचना देने एवं लेने के प्रयोजन

स्थानांगसूत्र में वाचनादान के पाँच कारण आख्यात है[27] –

1. **संग्रहार्थ** – शिष्यों को श्रुत-सम्पन्न बनाने के लिए।

2. **उपग्रहार्थ** – भक्त-पान और पात्रादि उपकरण प्राप्त करने की योग्यता प्रकट करने के लिए।

3. **निर्जरार्थ** – पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करने के लिए।

4. **पोषणार्थ** – वाचना देने से मेरा श्रुत परिपुष्ट होगा, इस प्रकार से श्रुतज्ञान को समृद्ध बनाने के लिए।

5. **अव्यवच्छित्ति** – श्रुत के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा अक्षुण्ण रखने के लिए।

मुख्यतया उक्त कारणों से श्रुतदान किया जाता है।

सूत्र पाठ सीखने के प्रयोजन

तृतीय अंग आगम स्थानांगसूत्र में सूत्र-पाठ सीखने के पाँच हेतु बतलाये गये है[28]–

1. **ज्ञानार्थ** – नये-नये तत्त्वों का परिज्ञान करने के लिए।

2. **दर्शनार्थ** – सम्यक् श्रद्धान के उत्तरोत्तर पोषण के लिए।

3. **चारित्रार्थ –** सम्यक् चारित्र की निर्मलता के लिए।

4. **व्युद्ग्रह-विमोचनार्थ –** दूसरों को दुराग्रह से विमुक्त करने के लिए।

5. **यथार्थभाव- ज्ञानार्थ –** सूत्र शिक्षण के द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए।

सामान्यतया उक्त कारणों को लक्ष्य में रखते हुए सूत्र-पाठ सीखना चाहिए।

शिक्षा (वाचना) के प्रकार

शिक्षा ग्रहण एवं शिक्षा दान की एक विशिष्ट प्रक्रिया है वाचना। दशवैकालिकचूर्णि में शिक्षा दो प्रकार की कही गयी है[29]–

1. **ग्रहण शिक्षा –** गुरु मुख से सूत्र और अर्थ को ग्रहण करना, ग्रहण शिक्षा कहलाती है।

2. **आसेवन शिक्षा –** जो करणीय अनुष्ठान हैं उनका सम्यक् आचरण करना और जो अकरणीय है उनका वर्जन करना, आसेवन शिक्षा है। इसमें ग्रहण शिक्षा मानसिक एवं वाचिक है तथा दूसरी आसेवन शिक्षा कायिक है, किन्तु भावत: दोनों ही शिक्षाएँ त्रियोग रूप हैं।

ओघ सामाचारी और पदविभाग सामाचारी के अनुसार आचरण करना आसेवन शिक्षा है तथा गुरु के माध्यम से श्रुत पाठों का ग्रहण करना, वह ग्रहण शिक्षा है। आगम पाठ के अनुसार स्थूलिभद्र मुनि ने आचार्य भद्रबाहु से ग्रहण शिक्षा प्राप्त की थी।[30]

संक्षेपत: सूत्रार्थ का अध्ययन करना ग्रहण शिक्षा है और तदनुरूप सम्यक् प्रवृत्ति करना आसेवन शिक्षा है।

वाचना श्रवण की आगमोक्त विधि

शिष्य अथवा जिज्ञासु को गुरु के समक्ष सूत्र एवं अर्थ किस प्रकार सुनना चाहिए? इस सम्बन्ध में नन्दीसूत्र में सात नियम बतलाये गये हैं जो इस प्रकार है[31]–

1. **मूक –** जब गुरु अथवा आचार्य सूत्र या अर्थ सुना रहे हों, उस समय शिष्य को मौन पूर्वक दत्तचित्त होकर सुनना चाहिए।

2. **हुंकार –** गुरु-वचन श्रवण करते हुए थोड़ी-थोड़ी देर में प्रसन्नता पूर्वक स्वीकृति रूप 'हुंकार' करते रहना चाहिए।

3. **बाढंकार –** गुरु से सूत्र व अर्थ सुनते हुए कहना - 'गुरुदेव! आपने

जो कुछ कहा है वह सत्य है, मिथ्या नहीं है अथवा 'तहत्ति' शब्द पूर्वक गुरु वचनों का समर्थन करना चाहिए।

4. **प्रतिपृच्छा** – कहीं सूत्र या अर्थ समझ में न आए अथवा सुनने से रह जाए तो आवश्यकता के अनुसार प्रतिपृच्छा करनी चाहिए, किन्तु निरर्थक तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए।

5. **मीमांसा** – गुरु के वचनों का आशय समझने के लिए उनसे पुनः विचार-विमर्श करते हुए सूत्र पाठ की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करनी चाहिए।

6. **प्रसंगपारायण** – सुने हुए श्रुत प्रसंग का पारायण करना चाहिए।

7. **परिनिष्ठा** – तत्त्व निरूपण में पारगामिता प्राप्त करना चाहिए।

इस श्रवण-विधि से श्रुतज्ञान की समीचीन प्राप्ति होती है अतः जिज्ञासु को आगम शास्त्र का अध्ययन विधिपूर्वक ही करना चाहिए।

श्रुत ग्रहण के आवश्यक चरण

बुद्धि के आठ गुणों से सम्पन्न व्यक्ति श्रुतज्ञान का अधिकारी बनता है क्योंकि आगम शास्त्र के अर्थ ग्रहण में ये आठ गुण हेतुभूत माने गये हैं। जो धीरपुरुष पूर्वों के ज्ञाता हैं वे इस आगम ज्ञान के ग्रहण को ही श्रुतज्ञान की उपलब्धि मानते हैं। श्रुतज्ञान आत्मा का ऐसा अनुपम धन है, जिसके सहयोग से शाश्वत सुख की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए प्रत्येक जिज्ञासु को बुद्धि के अष्ट गुणों से युक्त होकर श्रुत का ग्रहण करते हुए उसका अधिकारी बनना चाहिए।

नन्दीसूत्र में श्रुतग्रहण की निम्न विधि बताई गई है[32] –

1. **शुश्रुषा** – श्रुत को गुरु मुख से सविनय सुनने की इच्छा रखना। सर्वप्रथम शिष्य गुरु के चरणों में वन्दन करके उनके मुखारविन्द से कल्याणकारी सूत्र एवं अर्थ सुनने की जिज्ञासा अभिव्यक्त करें। जिज्ञासा के अभाव में ज्ञानप्राप्ति नहीं हो सकती।

2. **प्रतिपृच्छा** – सूत्र या अर्थ सुनने पर कहीं शंका हो तो गुरु से प्रतिपृच्छा (प्रतिप्रश्न) कर शंका का निवारण करें। प्रश्नों के उत्तर श्रद्धा पूर्वक प्राप्त करने से तर्क शक्ति पुष्ट होती है तथा ज्ञान निर्मल बनता है।

3. **श्रवण** – प्रश्न करने पर गुरु द्वारा जो उत्तर दिये जायें, उन्हें ध्यान पूर्वक सुनें।

4. **ग्रहण** – सूत्र, अर्थ एवं प्राप्त समाधान को चित्त की एकाग्रता पूर्वक

ग्रहण करें अन्यथा सुना हुआ ज्ञान विस्मृत हो जाता है।

5. ईहा – हृदयङ्गम किये हुए ज्ञान का बार-बार चिन्तन-मनन करें जिससे श्रुतज्ञान भविष्य में स्मृति का विषय बन सके। अधीत श्रुत को धारणा रूप बनाने के लिए पर्यालोचन आवश्यक है।

6. अपाय – प्राप्त किये हुए ज्ञान पर चिन्तन-मनन करके यह निश्चय करे कि 'जो गुरु ने कहा है वही यथार्थ है' ऐसा निर्णय करें।

7. धारणा – परिवर्तना और अनुप्रेक्षा के द्वारा निर्णीत ज्ञान का स्थिरीकरण करें।

8. करण – आगम विहित अनुष्ठान का सम्यक् आचरण करें।

ये सभी गुण क्रियारूप हैं और गुण क्रिया के द्वारा ही व्यक्त होते हैं अतः इन सभी की परिपालना करनी चाहिए।

श्रुत ग्रहण करते समय निम्न सात सूत्र भी ध्यातव्य हैं[33]–

1. शिक्षित – आवश्यक सूत्र-पाठों को कण्ठस्थ करना।

2. स्थित – कण्ठस्थ किये हुए सूत्रार्थ को हृदय में धारण करना।

3. चित्त – आगम के सूत्र-पाठों को इस तरह धारण करना कि वे स्मृति में शीघ्र उभर आए।

4. मित – सीखने योग्य सूत्रों के वर्ण आदि का परिमाण जानना।

5. परिचित – गृहीत सूत्रों का अनुलोम या प्रतिलोम पद्धति से पुनरावर्त्तन करना।

6. नामसम – अधीत सूत्रों को स्वयं के नाम के समान सदा स्मृति में अवस्थित रखना।

7. घोषसम – वाचनाचार्य द्वारा सूत्र-पाठों का उच्चारण जिस घोष (उदात्त- अनुदात्त- स्वरित) के साथ किया जाए, उसी के समान घोष ग्रहण करना।

उपर्युक्त अङ्गों का परिपालन करते हुए श्रुताध्ययन करना चाहिए।

सूत्र सीखने के नियम

विशेषावश्यकभाष्य में सूत्र सीखने के दस नियम बतलाए गये हैं जो निम्न हैं[34]–

1. अहीनाक्षर – सीखते समय सूत्र के अक्षर हीन (कम) न हो।

2. अनत्यक्षर – सूत्र के अक्षर अधिक न हो अर्थात सूत्र याद करते समय अनुपयोगवश अतिरिक्त अक्षर न बढ़ाये।

3. अव्याविद्धाक्षर – पद, अक्षर आदि को व्यवस्थित क्रम में रखना अर्थात सीखे जा रहे सूत्र का वर्ण विन्यास ग्रामीण अहीरन के द्वारा पिरोयी गयी माला के रत्नों के समान विपर्यस्त (विपरीत) न हो।

4. अस्खलित – सूत्र-पाठ विषम भूमि पर स्खलित गति से चलने वाले हल के समान न हो, अर्थात उच्चारण लयबद्ध हो।

5. अमीलित पद-वाक्य – सूत्र-पाठ का उच्चारण करते समय पद, वाक्य आदि विजातीय धान्य के समान आपस में मिले हुए न हों। अर्थात विरूद्ध या विजातीय पदों को आपस में न मिलाए।

6. अव्यात्याम्रेडित – सूत्र-पाठ सीखते समय उसमें विविध शास्त्रों के वाक्यों का मिश्रण न हो।

7. परिपूर्ण – सूत्र-पाठ ग्रहण करते समय वह निश्चित मात्रा आदि से युक्त हो तथा जिसमें आकांक्षा अर्थात क्रिया आदि किसी पद के अध्याहार की अपेक्षा न हो।

8. पूर्णघोष – सूत्रों के परावर्त्तन काल में उदात्त-अनुदात्त आदि स्वर-व्यञ्जनों का उच्चारण सम्यक् रूप से हो।

9. कण्ठौष्ठ-विप्रमुक्त – सूत्र का परावर्त्तन करते समय उनका कण्ठ्य ओष्ठ्य आदि से स्पष्ट उच्चारण हो। सूत्र उच्चारण बाल, मूक आदि के कथन के समान अव्यक्त न हो।

10. गुरुवाचनोपघात – सूत्र-पाठ गुरु के द्वारा साक्षात पढ़ाया हुआ हो, पुस्तक से पढ़ा हुआ न हो अथवा गुरु दूसरे को पढ़ा रहे हो, उसे सुनकर सीखा हुआ न हो।

इन नियमों का यथावत अनुसरण करने से श्रुतज्ञान की विशिष्ट प्राप्ति होती है।

सूत्रार्थ व्याख्यान विधि

नन्दीसूत्र के निर्देशानुसार सूत्रार्थ की वाचना देते समय वाचनाचार्य शिष्य को सर्वप्रथम सूत्र का शुद्ध उच्चारण और फिर अर्थ सिखाए। तत्पश्चात उस आगम के शब्दों की सूत्रस्पर्शी निर्युक्ति बताए। तदनन्तर उसी सूत्र को वृत्ति-

भाष्य, उत्सर्ग-अपवाद और निश्चय-व्यवहार की अपेक्षा नय, निक्षेप, प्रमाण और अनुयोगद्वार आदि विधि से व्याख्या सहित पढ़ाए। यह अनुयोग विधि है। इस क्रम से अध्यापन कार्य करने पर गुरु शिष्य को श्रुत पारंगत बना सकता है।[35]

श्रुत-अध्ययन के उद्देश्य

दशवैकालिकसूत्र में निम्न चार उद्देश्यों को लेकर श्रुत अध्ययन करने का निर्देश दिया गया है[36]–

1. मुझे श्रुत का लाभ होगा अर्थात मेरे श्रुत ज्ञान में अभिवृद्धि होगी।
2. मेरे चित्त की एकाग्रता में अभिवृद्धि होगी।
3. मैं स्वयं को धर्म में स्थापित कर पाऊँगा।
4. मैं स्वयं धर्म में स्थिर होकर दूसरों को उसमें स्थिर करूँगा।

फलितार्थ यह है कि साधु-साध्वी को इन चार कारणों से ही शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए अपितु प्रसिद्धि, पद-प्रतिष्ठा, प्रशंसा या अन्य किसी भौतिक स्वार्थ सिद्धि के उद्देश्य से श्रुत अध्ययन नहीं करना चाहिए।

उत्तराध्ययनसूत्र में श्रुत अध्ययन के निम्न तीन प्रयोजन बतलाए गये हैं[37]–

1. परम अर्थ (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए।
2. स्वयं में सिद्धि प्राप्त करने की योग्यता को प्रकट करने के लिए।
3. दूसरों को सिद्धि प्राप्त कराने की क्षमता विकसित करने के लिए इन तीन उद्देश्यों से श्रुत-अध्ययन करें।

अनुयोगद्वार में श्रुत-अध्ययन के निम्नोक्त तीन उद्देश्य कहे गये हैं[38]–

1. अध्यात्म की उपलब्धि।
2. उपचित (बंधे हुए) कर्मों का क्षय।
3. नये कर्मों के आस्रव का निरोध।

जिससे चित्त में शुभ भावों का संचार होता है, अध्यात्म की उपलब्धि होती है तथा बोधि-ज्ञान, संयम और यथार्थ तत्त्वों की प्राप्ति होती है वही अध्ययन है।[39] अध्ययन का मूलोद्देश्य परमतत्त्व की उपलब्धि करना ही है।

शिक्षा (वाचना) ग्रहण हेतु आवश्यक गुण

शिक्षा को कौन हृदयङ्गम कर सकता है ? इस सम्बन्ध में उत्तराध्ययनसूत्र का कहना है कि जो सदा गुरुकुल में वास करता है, एकाग्र चित्त वाला होता

है, उपधान तप करता है, प्रिय व्यवहार करता है और प्रिय बोलता है वह शिक्षा प्राप्त कर सकता है।[40]

दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि जो मुनि, आचार्य और उपाध्याय की शुश्रुषा और आज्ञा पालन करते हैं उनकी शिक्षा जल से सींचे हुए वृक्ष की भांति बढ़ती है।[41]

आवश्यकनिर्युक्तिकार का अभिमत है कि जो शिष्य विनीत है, अञ्जलियुक्त मस्तक झुकाकर गुरु के समक्ष उपस्थित रहता है, गुरु के अभिप्राय का अनुवर्त्तन करता है, गुरुजनों की आराधना करता है, उसे गुरु अनेक प्रकार का ज्ञान शीघ्र करवा देते हैं।[42]

विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि गुरु का अतिशय विनय करने वाला, देश और काल के अनुकूल भोजन, वस्त्र, पात्र, औषध आदि उपलब्ध कराने वाला, गुरु के अभिप्राय को जानने वाला शिष्य सम्यक् श्रुत को प्राप्त करता है।[43]

इस विषय में अन्य ग्रन्थकारों ने भी सकारात्मक पक्ष रखे हैं।

सार रूप में कहा जाए तो विनीत, सेवापरायण, गुर्वाज्ञानुसारी एवं संयमनिष्ठ शिष्य शिक्षा को पूर्ण रूप से आत्मस्थ कर सकता है।

शिक्षा के बाधक तत्त्व

शिक्षाभ्यासी को निम्न पाँच दुर्गुणों का सर्वथा परिहार करना चाहिए क्योंकि ये शिक्षा में बाधा पहुँचाते हैं – 1. अहंकार 2. क्रोध 3. प्रमाद 4. रोग और 5. आलस्य।

वाचनाभंग के स्थान

व्यवहारभाष्य के अनुसार जो शिष्य वाचनाचार्य से दूर खड़े होकर, आसनस्थ होकर, गुरु के अतिनिकट बैठकर या अतिनिकट खड़े होकर कुछ पूछता है अथवा सुनता है, जो बद्धांजलि युक्त होकर नहीं सुनता है, पाठ समाप्ति पर वन्दन नहीं करता है, इधर-उधर देखता हुआ सुनता है, गुरु के अभिमुख न होकर अधोमुख या ऊर्ध्वमुख हो सुनता है, जिस किसी के साथ बातें करता हुआ या अनुपयुक्त हो सुनता है, हँसता हुआ पूछता है तो उसकी वाचना दूषित होती है, खण्डित होती है तथा इस अविधि से सूत्र और अर्थ ग्रहण करने वाला क्रमशः लघुमास और गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त करता है।

इसमें यह भी कहा गया है कि जो श्रोता नाभि के ऊपर के अवयवों को खुजलाता हुआ सूत्र और अर्थ को सुनता है, उसे क्रमशः चतुर्लघु और चतुर्गुरु का प्रायश्चित आता है। नाभि के नीचे के अवयवों को खुजलाता हुआ सूत्र श्रवण करता है तो उसे चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है अतः बुद्धिमान शिष्य को अविनय- अविधि के इन सभी स्थानों का वर्जन कर बद्धांजलियुक्त, उत्कटिक आसन में बैठकर आदर पूर्वक सूत्र श्रवण करना चाहिए।[44]

बृहत्कल्पभाष्य के निर्देशानुसार गुरु को आते हुए देखकर खड़ा होना, गुरु का संस्तारक सम एवं सुन्दर स्थान पर करना, बैठने योग्य निषद्या करना, गुरु की शय्या और आसन से स्वयं की शय्या एवं आसन नीचा रखना आदि विनयोचित व्यवहार का भी श्रुत ग्रहण काल में पालन करना चाहिए। विनय से एकाग्रचित्तता बढ़ती है, एकाग्रता से वाचना अस्खलित होती है और अस्खलित वाचना श्रुत समृद्धि को निरन्तर अभिवृद्ध करती है।[45]

श्रुतदाता एवं श्रुतग्राहीता के अनुपालनीय नियम

वाचनाचार्य एवं वाचनाग्राही शिष्य के लिए अग्रलिखित नियम अनुपालनीय है –

- सूत्र मण्डली में वाचना देने वाले आचार्य प्राघूर्णक (अतिथि साधु) आदि के आने पर नियमतः अपने आसन से खड़े होकर विनय आदि शिष्टाचार का पालन करे।
- अर्थ मण्डली में उपविष्ट आचार्य अपने वाचनाचार्य को छोड़कर शेष दीक्षा गुरु आदि कोई भी आए, तब भी खड़े न होवें। व्यवहारभाष्य में कहा गया है कि गणधर गौतम अनुयोग काल में केवल भगवान महावीर को छोड़कर अन्य किसी के आने पर खड़े नहीं होते थे, आज भी उसी पूर्व परिपाटी का आचरण होता है।[46]

यह नियम अनुयोग (वाचना) आरम्भ के निमित्त कायोत्सर्ग करने के पश्चात आचरणीय है, क्योंकि अनुयोग की शुरूआत करने के बाद अभ्युत्थान आदि करने से निम्न दोष लगते हैं – जैसे बार-बार वन्दनादि के निमित्त उठने पर मण्डली में व्याक्षेप होता है, व्याक्षेप से विकथा, विकथा से इन्द्रिय-मन की चंचलता बढ़ती है। चंचलता के कारण नवगृहीत नय, निक्षेप, दृष्टान्त आदि नष्ट हो जाते हैं, प्रारम्भ की हुई पृच्छा विस्मृत हो जाती है इसलिए बीच-बीच में

बार-बार नहीं उठना चाहिए अपितु प्रयत्न पूर्वक सूत्रार्थ को धारण करना चाहिए। वाचना का निरन्तर श्रवण करने से शुभ परिणामों की तीव्रतर धारा बहती है परिणामत: अवधि आदि अतिशय ज्ञान उत्पन्न होने की सम्भावना भी बनती हैं।[47]

भाष्यकार ने वाचनादान के समय अभ्युत्थान आदि से होने वाले विपरीत फल का वर्णन करते हुए यह भी कहा है कि जैसे आरोपणा प्रायश्चित्त के प्ररूपणा काल में विक्षेप होने पर उसका सम्यक् अवधारण नहीं हो पाता, वैसे ही वाचना दान के बीच में से अभ्युत्थान करने पर श्रुतोपयोग की विच्छिन्नता के कारण ज्ञानावरणीय कर्म की यथेच्छित निर्जरा नहीं हो पाती, अत: वाचना दान के मध्य ज्येष्ठ मुनि आदि के आने पर वन्दनादि कर्म नहीं करना चाहिए।

किन्तु निम्न कारणों से अनुयोग काल में वन्दनादि कर्म किया जा सकता है– 1. अतिथि साधु के आने पर 2. प्रकरण विषय की समाप्ति पर 3. स्वाध्याय काल की सम्पन्नता पर 4. अध्ययन- उद्देशक- अंगश्रुतस्कन्ध की सम्पन्नता पर।

• अर्थ की वाचना देते समय केवली, अवधिज्ञानी या मनःपर्यवज्ञानी आ जाए तो वाचनाचार्य को उनका अभ्युत्थान करना चाहिए। अर्थवाचक को अपने से अधिक ज्ञानी के आने पर वाचना करते हुए भी उठना चाहिए, जैसे दसपूर्वी को चौदहपूर्वी के आने पर, नवपूर्वी को दसपूर्वी के आने पर, कालिक-श्रुतधर को पूर्वधर के आने पर उठना चाहिए। यदि आगन्तुक समान श्रुत वाला हो और गुरु पद पर न हो तो नहीं उठना चाहिए।[48]

• सूत्र मण्डली में वाचनाचार्य युवा और स्वस्थ हो तो उनके बैठने हेतु आसन नहीं बिछाये और पट्टा आदि भी नहीं रखे। यदि वाचनाचार्य स्थविर, रोगी या आसन इच्छुक हो तो वैसा करें। इस प्रकार आसन बिछाने के सम्बन्ध में विकल्प है। आसन के परिमाण के विषय में भी विकल्प है जैसे– वाचनाचार्य एक, दो, तीन अथवा अधिकतम जितने कंबल परिमाण आसन पर बैठकर सुखपूर्वक वाचना दे सकते हो, उतने कंबल परिमाण का आसन बिछाए।

• अर्थ मण्डली की विधि यह है कि जितने साधु अर्थ श्रवण करने वाले हों, वे सभी अपना-अपना आसन निषद्याकारक साधु को दें और वह बड़े छोटे के क्रम से या मण्डली क्रम से वाचनाग्राहियों के आसन बिछाये।[49]

• व्यवहारभाष्य के कथनानुसार जो प्रवर्त्तिनी शिष्याओं और प्रातीच्छिकों

के प्रति समान व्यवहार करती हो, शिक्षण-प्रशिक्षण और सारणा-वारणा में उद्यमशील हो,सामाचारी कुशल हो, स्वाध्याय-ध्यान में संलग्न हो, उसकी निश्रावर्ती साध्वियाँ उसके भय से अकरणीय कार्य नहीं करती हो, स्खलना होने पर उग्रदण्ड देती हो, उपधि आदि के संग्रह में विशारद हो तथा विकथाओं का सदा वर्जन करती हो - इन गुणों से सम्पन्न साध्वी के पास वाचना ली जा सकती है। यद्यपि वाचना का मूलाधिकारी वाचनाचार्य साधु ही होता है फिर भी कुछ आवश्यक गुणों से युक्त प्रवर्त्तिनी (साध्वी) को भी वाचना का अधिकार दिया गया है।[50]

• निशीथसूत्र के अनुसार वाचना पाठ उत्क्रम-विधि से दिए-लिए जाये, व्युत्क्रम से आगम वाचना का निषेध किया गया है। जो मुनि पूर्ववर्ती आगम ग्रन्थों की वाचना दिए बिना अग्रिम ग्रन्थों की वाचना देता है, आचारांग से पूर्व छेदसूत्र और दृष्टिवाद की वाचना देता है उसे लघु चातुर्मास का प्रायश्चित आता है।[51] आवश्यकसूत्र से बिन्दुसार पूर्व पर्यन्त श्रुत की व्युत्क्रम से वाचना देने पर आज्ञाभंग आदि दोष लगते हैं। निशीथचूर्णि में वर्णित श्रुत वाचना का क्रम इस प्रकार है[52]–

अंग – आचारांग के पश्चात सूत्रकृतांग, सूत्रकृतांग के पश्चात स्थानांग आदि।

श्रुतस्कन्ध – आवश्यक के पश्चात दशवैकालिक अथवा आचारांग श्रुतस्कन्ध के पश्चात आचारचूला श्रुतस्कन्ध आदि।

अध्ययन – सामायिक अध्ययन के पश्चात चतुर्विंशतिस्तव अध्ययन अथवा शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन के पश्चात लोकविचय अध्ययन आदि।

उद्देशक – प्रथम उद्देशक के पश्चात द्वितीय उद्देशक आदि। इसी प्रकार दशवैकालिक के पश्चात उत्तराध्ययन, आचारांग आदि चरणानुयोग के पश्चात छेदसूत्र, धर्मानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग पठनीय है।

पूर्वोक्त क्रमपूर्वक श्रुतवाचना देने-लेने का कारण यह है कि जिसकी मति पूर्ववर्ती उत्सर्ग सूत्रों से भावित नहीं है वह अग्रिम अपवाद सूत्रों में श्रद्धा नहीं कर सकता, प्रत्युत अति परिणामिक बन जाता है। पूर्ववर्ती श्रुत पढ़ने में भी उसकी रूचि नहीं रहती, इससे आदि सूत्रों की हानि होती है। वह आद्य सूत्रों का ग्रहण किये बिना अग्रिम सूत्रों को पढ़कर बहुश्रुती तो बन जाता है पर पूर्ण

जानकारी के अभाव में सब प्रश्नों का सही समाधान नहीं दे पाता है इससे लोक में अवर्णवाद अर्थात जिनमत के विपरीत मिथ्या प्ररूपण होता है। अपवादत: कालिक श्रुत और पूर्वों का कहीं विच्छेद न हो जाए- इस अपेक्षा से व्युत्क्रम से भी वाचना दी जा सकती है, किन्तु वाचनाग्राही शिष्य प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, संविग्नस्वभावी, स्वभावत: परिणामक, विनीत और परम मेधावी होना चाहिए। इन गुणों से रिक्त शिष्य व्युत्क्रम वाचनादान के अनधिकारी होते हैं।

• वाचना दान को अप्रमत्त होकर ग्रहण करें क्योंकि एकाग्रचित्त पूर्वक ग्रहण की गयी वाचना ही शुभ परिणामी होती है।

• वाचना श्रवण के समय मुनियों को निद्रा, विकथा, वार्त्तालाप, हँसी-मश्करी आदि नहीं करना चाहिए।

अविधिपूर्वक सूत्र दान में लगने वाले दोष

आचार्य हरिभद्र ने आगमिक सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए यह निर्देश दिया है कि जिन सूत्रों को पढ़ने के लिए आयंबिल आदि जो तप कहे गये हैं उन आगम सूत्रों का अध्यापन यथोक्त तप पूर्वक ही करवाना चाहिए। यदि निर्दिष्ट तप का उल्लंघन कर हीन तप पूर्वक सूत्र का अध्ययन करवाते हैं, तो आज्ञाभंग आदि चार दोष लगते हैं जो निम्न हैं[53]–

1. **आज्ञाभंग दोष** – तीर्थङ्कर परमात्मा ने आगम सूत्रों को जिस विधिपूर्वक करने का निर्देश किया है, उससे भिन्न करने पर जिनाज्ञा भंग रूप महापाप लगता है।

2. **अनवस्था दोष** – जिसकी परम्परा का अन्त सम्भव नहीं हो उसे अनवस्था कहते हैं। यहाँ अनवस्था दोष से यह अभिप्रेत है कि यदि एक भवाभिनन्दी जीव अकार्य करता है तो उसका आलम्बन लेकर अन्य भवाभिनन्दी जीव भी वैसा ही अकार्य करते हैं। इस प्रकार भौतिक सुखों के आकांक्षी जीवों द्वारा प्रमाद स्थानों का सेवन करने से शुद्ध संयम और तप का नाश होता है और यह परम्परा आगे से आगे चलती रहती है।

3. **मिथ्यात्व दोष** – साधु का असत आचरण देखकर जनसामान्य को यह शंका हो सकती है कि परमार्थत: तीर्थङ्करों का वचन लोक विरूद्ध है, अन्यथा ये साधुजन इस प्रकार का असत आचरण नहीं करते। असत आचरण करने वाला व्यक्ति नियमत: मिथ्यात्व का प्रगाढ़ बन्धन करता है, क्योंकि वह

असत आचरण करके लोगों के हृदय में जिनवचन के प्रति शंका उत्पन्न करने का निमित्त बनता है।

4. विराधना दोष – जिनाज्ञा भंग करने वाला साधु संयम विराधना और आत्म विराधना करता है। इससे अशुभ कर्म का बन्ध भी होता है।

पंचवस्तुक में विधिपूर्वक सूत्र पढ़ाने के महत्त्व को प्रकट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार लोक में अविधि से साधित मन्त्र, विद्या आदि सिद्ध नहीं होते उसी प्रकार अविधिपूर्वक प्रदान किया गया सूत्र ज्ञान भी फल प्रदाता नहीं होता है अपितु अशुभ फल देता है अत: विधिपूर्वक सूत्र प्रदान करना चाहिए। इससे जिनाज्ञा की आराधना एवं शुद्ध मार्ग की परम्परा अखण्ड रूप से चलती है।[54]

जैनाचार्य हरिभद्रसूरि ने इस बात पर बल दिया है कि योग्य गुरु को उपयोग और शुद्ध भावपूर्वक सूत्र प्रदान करना चाहिए क्योंकि प्राय: शुभ क्रिया से शुभ भाव उत्पन्न होते हैं। लोक में भी यह तथ्य मान्य है कि शुभ भाव से भावित वक्ता के वचनों को सुनकर शुभ भाव पैदा होते हैं। यदि गुरु विशुद्ध भाव से सूत्र प्रदान नहीं करते हैं, तो इसमें शिष्य को किसी भी प्रकार का दोष नहीं लगता है अपितु परिणाम विशुद्धि के कारण लाभ ही होता है। शुभ का आलम्बन होने से आत्मा के परिणाम भी उत्तम बनते हैं।[55]

वाचना में महत्त्वपूर्ण सामग्री

जैनाचार्य वर्धमानसूरि ने वाचना काल में अपेक्षित सामग्री एवं सहयोगी मुनि का निरूपण करते हुए कहा है कि वाचना ग्रहण करते समय योगवाहियों के सहायक मुनि (दण्डधर एवं कालग्राही) होने चाहिए। वाचना हेतु उपयुक्त काल होना चाहिए। प्रचुर मात्रा में ज्ञान भण्डार, आहार-पानी की सुलभता, विघ्न रहित क्षेत्र,लेखनी, दवात (स्याही पात्र), शुभ शय्या एवं योग्य आसन होना चाहिए। इन सामग्रियों के सद्भाव में वाचना देने-लेने का कार्य निर्विघ्नतया सफल होता है।[56]

वाचना विधि का ऐतिहासिक परिशीलन

जैन मुनियों के लिए अध्ययन (वाचना-ग्रहण) परम आवश्यक है। यह स्वाध्याय का पहला चरण है। मोक्ष प्राप्ति का हेतुभूत अनुष्ठान है। इस सत्क्रिया के माध्यम से शिष्य की ज्ञान सम्पदा को समुन्नत एवं चारित्र धर्म को परिपुष्ट

किया जाता है। मूलतः गुरु द्वारा स्वयं के कर्त्तव्यों का निर्वाह, ज्ञान शक्ति का सदुपयोग एवं आश्रित शिष्यों पर अनुग्रह करने के ध्येय से वाचना दी जाती है।

यदि प्रस्तुत विषय का ऐतिहासिक अनुशीलन किया जाए तो यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि लगभग किसी भी मूल आगम में वाचना विधि या वाचनाचार्य पदस्थापना विधि का वर्णन नहीं है, यद्यपि आचारांग आदि आगम सूत्रों में वाचना शब्द का उल्लेख हुआ है।

आचारांगसूत्र में वाचना शब्द का प्रयोग औद्देशिक आदि आहार न लेने के सन्दर्भ में किया गया है।[57] इसका पाठांश है कि साधु हो या साध्वी, उन्हें ऐसे स्थानों पर भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिए जहाँ ब्राह्मण, अतिथि, कृपण, वनीपक आदि आते हों क्योंकि वहाँ का आहार औद्देशिक होता है और औद्देशिक आहार अकल्पनीय एवं सदोष होने से अग्राह्य है। सदोष आहार के सेवन से निर्मल भावनाएँ घट जाती है तथा वाचना, अनुप्रेक्षा आदि स्वाध्याय सम्यक् रूप से नहीं हो सकता। इस रूप में वाचना शब्द उल्लेखित है।

स्थानांगसूत्र में पाँच प्रकार का स्वाध्याय बताया गया है, उसमें वाचना का प्रथम स्थान है।[58] इस तृतीय अंग आगम में चार प्रकार के आचार्य का भी निर्देश है उनमें से एक का नाम वाचनाचार्य है।[59]

चतुर्थ अंग आगम समवायांगसूत्र में 'द्वादशांगी की परिमित वाचनाएँ होती है' इस रूप में वाचना शब्द का प्रयोग हुआ है।[60]

भगवतीसूत्र में भी स्वाध्याय के पाँच प्रकार कहे गये हैं और उनमें प्रथम क्रम पर वाचना का उल्लेख है। इसी के साथ धर्मध्यान के चार आलम्बन बताते हुए वाचना को धर्मध्यान का प्रथम आलम्बन बतलाया गया है।[61] इस तरह अन्य विवरण भी यहाँ प्राप्त होता है।

ज्ञाताधर्मकथासूत्र में मुनि मेघकुमार के प्रसंग में वाचना शब्द का प्रयोग है।[62] इसमें वर्णन है कि मेघकुमार जिस दिन दीक्षित होते हैं उस दिन सबसे कनिष्ठ होने के कारण उनका संस्तारक अन्तिम क्रम पर लगाया गया। वहाँ अनेक मुनि प्रवासित थे, रात भर स्वाध्याय एवं लघु शंका निवारण हेतु मुनियों के आने-जाने का क्रम जारी रहा। उनकी पद आहट एवं पांवादि का स्वयं के शरीर से पुनः-पुनः स्पर्श होने के कारण मेघ मुनि को रात भर नींद नहीं आई। वे विचार करने लगे अहो! दीक्षा लेने के पहले दिन से ही मेरा कोई आदर नहीं

कर रहे हैं, वाचना, पृच्छना आदि के लिए आने-जाने वाले मुनि संस्तारक को लात दे रहे हैं, अत: कल सुबह में भगवान महावीर से अनुज्ञा लेकर पुन: गृहवास में चला जाऊंगा। इस प्रकार एक सामान्य प्रसंग में यहाँ वाचना शब्द उल्लिखित है।

प्रश्नव्याकरण आदि सूत्रों में भी इस तरह का वर्णन देखा जाता है। जैसे-बृहत्कल्पसूत्र में वाचना देने-लेने के योग्य-अयोग्य का निर्देश दिया गया है।[63] व्यवहारसूत्र में दीक्षा पर्याय के अनुसार आगमों के अध्ययन का क्रम बतलाया गया है।[64] निशीथसूत्र में अविधि पूर्वक वाचना दान के प्रायश्चित्त भी कहे गये हैं।[65] उत्तराध्ययनसूत्र में वाचना योग्य शिष्य के लक्षण[66], दशवैकालिकसूत्र[67] में श्रुत वाचना के उद्देश्य, नन्दीसूत्र[68] में श्रुत ग्रहण विधि आदि का निरूपण है। इस प्रकार आगम साहित्य में चर्चित विषय का सामान्य वर्णन ही प्राप्त होता है।

स्वरूपत: वाचना किस प्रकार दी जानी चाहिए ? वाचना की अनुज्ञा किस मुहूर्त्त में प्रदान करनी चाहिए ? वाचना के योग्य कौन ? आदि के सम्बन्ध में कोई भी निर्देश आगम साहित्य में प्राप्त नहीं होता है, केवल सामान्य वर्णन ही देखा जाता है।

यदि इस विवेच्य विधि के सम्बन्ध में आगमिक व्याख्या साहित्य का अवलोकन करते हैं तो व्यवहारभाष्य[69], बृहत्कल्पभाष्य[70], निशीथभाष्य[71] आदि में वाचना विधि का सामान्य वर्णन उपलब्ध हो जाता है। टीका साहित्य में वाचना किस प्रकार दी जाए ? किसको दी जाए ? अयोग्य को वाचना देने से होने वाली हानियाँ आदि का भी अपेक्षित विवरण प्राप्त होता है। इससे सिद्ध है कि विक्रम की प्रथम शती के अनन्तर वाचना-विधि में क्रमश: विकास हुआ है।

यदि मध्यकालीन साहित्य का आलोडन किया जाए तो उनमें सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्रकृत पंचवस्तुक में प्रतिपाद्य विषय का पूर्वापेक्षा विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। इसमें वाचना देने के योग्य कौन ? वाचना देने के अयोग्य कौन ? अयोग्य को वाचना देने से लगने वाले दोष ? अविधि पूर्वक वाचना देने के दोष, वाचना से होने वाले लाभ, वाचना विधि इत्यादि का सम्यक् वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में वाचना ग्रहण के लिए उपसम्पदा ग्रहण करने का भी निर्देश किया गया है। वाचना सम्बन्धी कुछ आवश्यक कृत्य भी बतलाये गये हैं। वाचना मण्डली में अभ्युत्थान विधि का व्यवहार कब, किस प्रकार किया जाना

चाहिए, इसका भी प्रतिपादन किया गया है।[72]

इस आलेख से स्पष्ट होता है कि मूल आगमों में वाचना का सामान्य उल्लेख मात्र ही है, व्याख्या साहित्य में तद्विषयक कुछ विस्तृत चर्चा की गई है और पूर्व-मध्यवर्ती साहित्य में यही स्वरूप किञ्चिद् विस्तार के साथ बतलाया गया है।

यदि इससे परवर्ती साहित्य का अध्ययन किया जाए तो इस विषयक प्राचीनसामाचारी[73] तिलकाचार्यसामाचारी[74] सुबोधासामाचारी[75] विधिमार्गप्रपा[76] आचारदिनकर[77] आदि अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनमें विवेच्य विधि के साथ-साथ अन्य चर्चाएँ भी मिलती हैं। प्रचलित परम्परा में इन्हीं ग्रन्थों के अनुसार यह विधि प्रवर्तित है। इस दृष्टि से पूर्व वर्णित सभी ग्रन्थ प्रामाणिक कहे जा सकते हैं।

यदि उत्तरकालीन (विक्रम की 15वीं शती से परवर्ती) साहित्य का पर्यवेक्षण किया जाए, तो इस विषय में सम्भवत: एक भी मौलिक ग्रन्थ नहीं मिलता है। इससे सम्बन्धित संकलित ग्रन्थ निश्चित रूप से देखे जाते हैं जो पूर्ववर्ती ग्रन्थों के आधार पर ही विनिर्मित हैं।

इस तरह हम पाते हैं कि आगमकाल से मध्यकाल तक वाचना विधि एवं तत्सम्बन्धी नियमों का परिस्थिति सापेक्ष क्रमिक विकास हुआ है।

वाचना दान एवं ग्रहण विधि

बृहत्कल्पभाष्य एवं विधिमार्गप्रपा में प्रतिपादित वाचना दान एवं ग्रहण विधि निम्न है[78]–

वाचना दान की प्रारम्भिक विधि – सर्वप्रथम वाचनाग्राही मुनि अनुयोग मण्डली (जहाँ आगम सूत्रार्थ का सामूहिक रूप में प्रतिपादन किया जाता हो उस भूमि) की प्रमार्जना करें। फिर दो आसन बिछाएं। एक आसन पर श्रुत दाता गुरु को बिठाएं और दूसरे आसन पर स्थापनाचार्य को स्थापित करें। स्थापनाचार्य वाचना दाता के दाहिने पार्श्व में हो।

अनुयोग अनुज्ञा – उसके पश्चात वाचना दाता गुरु स्थापनाचार्य के समक्ष मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना कर द्वादशावर्त्त वन्दन करें। फिर एक खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन कर निवेदन करें– **'इच्छा. संदि. भगवन् अणुओगं आढवेमि'** हे भगवन! आपकी इच्छा से अनुयोग (नन्दी आदि आगमों के सूत्र

एवं अर्थ अध्ययन) की विधि (अध्ययन का कार्य) शुरू करता हूँ। फिर दूसरा खमासमण देकर कहें – **'इच्छा. संदि. भगवन् अणुओगआढवणत्थं काउस्सग्गं करेमो'** हे भगवन्! आपकी आज्ञा पूर्वक अनुयोग स्थापना के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ। इतना कहकर **'अणुओगआढवणत्थं करेमि काउस्सग्गं'** अन्नत्थसूत्र बोलकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में नमस्कारमन्त्र बोलें।

वाचना अनुज्ञा – तदनन्तर वाचनादाता एक खमासमण देकर कहें – **'इच्छा. संदि. भगवन् वायणं संदिसावेमि'** हे भगवन्! मैं वाचनादान की आज्ञा ग्रहण करता हूँ।

फिर दूसरा खमासमण देकर कहें – **'इच्छा. संदि. भगवन् वायणं पडिगाहेमि'** - हे भगवन्! वाचनादान की आज्ञा को स्वीकार करता हूँ।

फिर तीसरा खमासमण देकर कहें – **'इच्छा संदि भगवन् बइसणं संदिसावेमि'** - हे भगवन्! वाचनादान के लिए आसन पर बैठने की आज्ञा लेता हूँ।

फिर चौथा खमासमण देकर कहें – **'इच्छ. संदि. भगवन् बइसणं ठामि'** – हे भगवन्! मैं आपकी आज्ञापूर्वक आसन पर बैठता हूँ।

- इस तरह अनुयोग प्रवर्त्तन, वाचना दान एवं आसन पर बैठने की अनुमति प्राप्त करें। फिर स्वयं के आसन पर उपविष्ट होकर एवं मुख के आगे मुखवस्त्रिका रखते हुए उचित स्वर से वाचना दें।

- आचारदिनकर के अनुसार सर्वप्रथम दशवैकालिकसूत्र की वाचना दें। फिर आवश्यक, उत्तराध्ययन, आचारांगसूत्र की वाचना दें। फिर शेष आगमों की वाचना अध्येता की रूचि के अनुसार यथायोग्य क्रम से या उत्क्रम से दें।[79] वाचना दान के समय वाचना ग्राहीता सभी साधु अप्रमत्त होकर वाचना ग्रहण करें।

वाचनादान की समापन विधि – यदि उद्देशक की वाचना पूर्ण हो तो वाचनाग्राही वाचनाचार्य को थोभवन्दन करें तथा अध्ययन आदि की वाचना पूर्ण हो तो द्वादशावर्त्तवन्दन करें। तदनन्तर वाचनादाता मुनि गुरु के समक्ष एक खमासमण देकर कहें – **'इच्छा. संदि. भगवन् अणुओगपडिक्कमहं'** हे भगवन्! आपकी अनुमति पूर्वक अनुयोग (नन्दी आदि आगमों के सूत्रार्थ) का

प्रतिपादन करते समय लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ।

फिर दूसरा खमासमण देकर कहें – **'इच्छ. संदि. भगवन् अणुओगपडिक्कमणत्थ काउस्सग्ग करहं'** हे भगवन्! आपकी इच्छा पूर्वक अनुयोग के प्रतिक्रमणार्थ कायोत्सर्ग करता हूँ। फिर **अणुओगपडिक्कमणत्थं करेमि काउस्सग्गं** अन्नत्थसूत्र बोलकर आठ श्वासोश्वास (एक नमस्कार मन्त्र) का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में नमस्कारमन्त्र बोलें। फिर गुरु को वन्दन करें।[80]

• आचारदिनकर के अनुसार वाचनाचार्य मुनि वाचना के दिनों में प्रतिदिन प्रभातकाल का ग्रहण करें और स्वाध्याय प्रस्थापना करें।

• यदि आगमिक व्याख्याओं (निर्युक्ति, चूर्णि, टीका आदि) की अर्थ वाचना देनी हो तो कालग्रहण एवं स्वाध्याय प्रस्थापना न करें।

• यदि वाचनाक्रम में वाचना दी-ली जा रही हो तो संघट्ट ग्रहण और आयंबिल आदि तप का प्रत्याख्यान न करें।[81]

वाचनाचार्य पदस्थापना विधि

जो मुनि आगम सूत्रों को विधि पूर्वक धारण किया हुआ हो, गीतार्थ हो, अनुवर्त्तक आदि गुणों से युक्त हो, वाचना देने में समर्थ हो और अध्यापक के सभी लक्षणों से सम्पन्न हो, उसे शुभ मुहूर्त्त में वाचनाचार्य पद पर स्थापित किया जाता है।[82]

विधिमार्गप्रपा में वाचनाचार्यपद पर स्थापित करने की निम्न विधि उल्लेखित है[83]–

देववन्दन – सर्वप्रथम सुयोग्य, स्वच्छ एवं पवित्र क्षेत्र में समवसरण (नन्दी) की रचना करवाएं। उसके बाद लूंचन किए हुए और एक कंबल परिमाण वाला आसन धारण किए हुए वाचनापद योग्य शिष्य को गुरु अपनी बायीं ओर बिठाएं। फिर आचारदिनकर के मतानुसार समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दिलवाएं। उसके बाद वाचना पदग्राही गुरु को द्वादशावर्त्तवन्दन करें।

तत्पश्चात एक खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन कर कहें – **'इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं वायणारियपय अणुजाणावणियं वासनिक्खेवं करेह'** हे भगवन्! आपकी इच्छा हो तो वाचनाचार्य पद की अनुमति देने हेतु वासचूर्ण का निक्षेप करिए। तब गुरु कहें– **'करेमो'** करता हूँ।

फिर शिष्य दूसरा खमासमण देकर कहे – **'तुब्भे अम्हं वायणारियपय अणुजाणावणियं चेइयाइं वंदावेह'** हे भगवन्! वाचनाचार्यपद स्थापन के अनुज्ञापनार्थ मुझे चैत्यादि का वन्दन करवाएं। तब गुरु **'वंदावेमो'** कहें। उसके बाद गुरु शिष्य के मस्तक पर वासचूर्ण का प्रक्षेपण करें। फिर शिष्य के साथ जिनमें उच्चारण एवं अक्षर क्रमश: बढ़ रहे हों, ऐसी चार स्तुतियों सहित जयवीयराय सूत्र पर्यन्त देववन्दन करें। यहाँ सम्यक्त्वव्रत आरोपण के समान 18 स्तुतियों से देववन्दन करना चाहिए तथा 'अरिहाणस्तोत्र' के स्थान पर 'पंचपरमेष्ठिस्तव' बोलना चाहिए।

कायोत्सर्ग – उसके बाद गुरु और शिष्य दोनों ही वाचनाचार्य पद के अनुज्ञापनार्थ एवं वाचनाचार्यपद के ग्रहणार्थ अन्नत्थसूत्र बोलकर एक लोगस्ससूत्र का (सागरवरगंभीरा तक) कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें।

नन्दीश्रवण – तदनन्तर आचार्य ऊर्ध्व स्थित होकर नन्दीपाठ सुनाने के लिए अन्नत्थसूत्र बोलकर स्वयं एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करें और शिष्य को भी नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करवायें। उसके बाद आचार्य तीन नमस्कारमन्त्र का उच्चारण कर लघुनन्दी का पाठ सुनाएं। वह इस प्रकार है – **'नाणं पंचविहं पण्णत्तं, तं जहा- आभिणिबोहियनाणं, सुयनाणं, ओहिनाणं, मणपज्जवनाणं, केवलनाणं'।**

लघुनन्दी बोलने के पश्चात गुरु विशिष्ट रूप से स्थापित करने की अपेक्षा कहें – **'एयस्स साहुस्सवायणारियपयअणुण्णा नंदी पवत्तइ'** अमुक साधु के लिए वाचनाचार्य पद की अनुज्ञा निमित्त नन्दी क्रिया होती है। यह बोलकर गुरु शिष्य के सिर पर वासचूर्ण डालें। तत्पश्चात आचार्य वर्धमान विद्या द्वारा वासचूर्ण और अक्षत को अभिमन्त्रित करके साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ में वितरित करवाएं। उसके पश्चात जिनप्रतिमा के चरण युगल पर वासचूर्ण का निक्षेप करें।

सप्तथोभवन्दन – 1. तत्पश्चात वाचनाचार्य पदग्राही शिष्य एक खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन देकर कहें – **'तुब्भे अम्हं वायणारियपयं अणुजाणह'** आप मुझे वाचनाचार्यपद पर स्थापित होने की अनुमति प्रदान करिए। गुरु **'अणुजाणेमो'** कहें।

2. फिर शिष्य कहें – **'संदिसह किं भणामो ?'** आज्ञा दीजिए, मैं क्या कहूँ ? गुरु कहें – **'वंदित्ता पवेयह'** वन्दन करके प्रवेदन करो।

3. शिष्य पुनः एक खमासमण देकर कहें – **'इच्छाकारेण तुब्भेहिं अम्हं वायणारियपय मणुन्नायं–3 खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं अत्थेणं तदुभएणं सम्मं धारणीयं चिरं पालणीयं अन्नेसिं पि पवेयणीयं'** हे भगवन्! आपके द्वारा इच्छापूर्वक मुझे वाचनाचार्य पद पर स्थापित होने की अनुमति दी गयी है? ऐसा निवेदन करने पर गुरु तीन बार **'अणुन्नायं'** शब्द कहें। इसका आशय है कि तुम्हें इच्छापूर्वक वाचनाचार्य पद पर स्थापित होने की अनुज्ञा दी गयी है। इसी के साथ पूर्व पुरुषों के द्वारा आचरित सूत्र के द्वारा, अर्थ के द्वारा, सूत्रार्थ के द्वारा इस पद को सम्यक् प्रकार से धारण करना, चिरकाल तक इस पद का पालन करना तथा अन्य मुनियों को भी इस पद पर स्थापित कर पूर्व परम्परा को अविच्छिन्न रखना।

4. उसके बाद शिष्य एक खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन कर कहें – **'इच्छामो अणुसट्ठिं'** मैं आपके वाचनाचार्य पद सम्बन्धी अनुशिक्षण की इच्छा करता हूँ।

5. शिष्य पुनः वन्दन पूर्वक कहें – **'तुम्हाणं पवेइयं संदिसह साहूणं पवेएमि'** – मैंने आपको इस पद के अनुज्ञापनार्थ प्रवेदन किया, अब आज्ञा दीजिए, मैं सभी साधुओं को इस विषय में बताना चाहता हूँ।

6. उसके पश्चात नमस्कारमन्त्र का उच्चारण करते हुए गुरु सहित समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दें। प्रदक्षिणा के समय **'नित्थारपारगो होहि, गुरुगुणेहिं वड्ढाहि'** कहते हुए गुरु एवं चतुर्विध संघ पदग्राही शिष्य पर वासचूर्ण एवं अक्षत का निक्षेपण करें।

7. उसके बाद शिष्य एक खमासमण देकर कहें – **'तुम्हाणं पवेइयं, साहूणं पवेइयं संदिसह काउसग्गं करेमि'** मैंने आपको प्रवेदित किया, साधुओं को प्रवेदित किया, अब आपकी अनुमति पूर्वक कायोत्सर्ग करता हूँ, इतना कहकर **'वायणायरियपय थिरीकरणत्थं करेमि काउस्सग्गं'** पूर्वक अन्नत्थसूत्र – बोलकर एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें।

आसनदान – तदनन्तर शिष्य एक खमासमण देकर कहें –

'इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं निसिज्जं समप्पेह' आपकी इच्छा हो तो मुझे आसन समर्पित करिए। उसके बाद गुरु आसन को अभिमन्त्रित कर एवं उसके ऊपर चन्दन का स्वस्तिक कर शिष्य को प्रदान करें। शिष्य आसन को मस्तक पर लगाते हुए ग्रहण करें। फिर शिष्य गृहीत आसन पूर्वक गुरु की तीन प्रदक्षिणा दें।

मन्त्रदान – तत्पश्चात शुभ लग्न के आने पर शिष्य के दाहिने कर्ण को चन्दन से पूजित करें और उस दाएँ कान में तीन बार वर्धमानविद्या मन्त्र सुनायें। वह मन्त्र निम्न है –

''ॐ नमो भगवओ अरहओ महइ महावीर वद्धमाण सामिस्स सिज्झउ मे भगवइ महइमहाविज्जा ॐ वीरे-वीरे, महावीरे जयवीरे सेणवीरे, वद्धमाणवीरे जये-विजये जयंते अपराजिए अणिहए ओं ह्रीं स्वाहा।''

वाचनाचार्य के द्वारा यह मन्त्र उपवास पूर्वक 1000 जाप द्वारा सिद्ध किया जाता है। आचार्य जिनप्रभसूरि कहते हैं कि प्रव्रज्या, उपस्थापना, गणियोग, प्रतिष्ठा आदि श्रेष्ठ कार्यों में इस मन्त्र से सात बार अभिमन्त्रित वासचूर्ण का क्षेपण करने पर शिष्य संसार सागर से पार होता है और पूजा-सत्कार के योग्य बनता है।

शेष विधि – उसके बाद गुरु भगवन्त शिष्य को वर्धमानविद्यामण्डल का पट्ट दें। फिर शिष्य का नया नामकरण करें। तत्पश्चात कनिष्ठ साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविकाएँ नूतन वाचनाचार्य को द्वादशावर्त्तवन्दन करें। फिर नूतन वाचनाचार्य स्वयं भी ज्येष्ठ साधुओं को वन्दन करें। उसके बाद गुरु नूतन वाचनाचार्य को एक कंबल एवं पीठफलक ग्रहण करने की अनुज्ञा देते हैं। इसी के साथ वाचनाचार्य को अनुशिक्षण देते हुए कहते हैं कि तुम गम्भीर, विनीत एवं इन्द्रियजयी होकर साधु-साध्वियों का अनुवर्त्तन करना।

फिर अन्त में नूतन वाचनाचार्य गुरु को वन्दन कर आयंबिल का प्रत्याख्यान करें। सामान्यतया इस अवसर पर उस देश के राजा, युवराज, मन्त्री एवं श्रावक वर्ग मिलकर महोत्सव करते हैं।

तुलनात्मक विवेचन

वाचना दान एवं वाचना ग्रहण की विधि मूलत: विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर में उपलब्ध होती है। तदनुसार तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है–

1. आचारदिनकर के अनुसार वाचनाकाल के समय प्राभातिक काल ग्रहण एवं स्वाध्याय प्रस्थापना अवश्य करनी चाहिए, किन्तु विधिमार्गप्रपा में इस

सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है।

2. आचारदिनकर में वाचना लेते-देते हुए संघट्टा ग्रहण एवं उन दिनों आयंबिल आदि तप करने का निषेध किया गया है, जबकि विधिमार्गप्रपा में तत्सम्बन्धी कोई निर्देश नहीं है।

3. आचारदिनकर में आगम सूत्रों का वाचना क्रम बतलाया गया है, परन्तु विधिमार्गप्रपा में इस विषयक कुछ भी नहीं कहा गया है।

4. विधिमार्गप्रपा में वाचना प्रारम्भ करने से पूर्व वाचना ग्रहण एवं आसन पर बैठने के आदेश लेने का उल्लेख है, किन्तु आचारदिनकर में इसका निर्देश नहीं है।[84] शेष विधि दोनों में समान है।

यदि परम्परा की दृष्टि से आकलन किया जाए तो जैन धर्म की श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों धाराओं में यह विधि परम्परागत रूप से आज भी मौजूद है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में पूर्वनिर्दिष्ट विधि के साथ वाचना दी-ली जाती है। अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय में वाचना प्रारम्भ करने से पूर्व सामान्यतया गुरु वन्दन का विधान ही होता है।

दिगम्बर साहित्य में इतना निर्देश है कि मुनियों को ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन बृहद् सिद्धभक्ति और बृहद् श्रुतभक्ति पूर्वक श्रुतस्कन्ध की वाचना (श्रुत के अवतरण का उपदेश) ग्रहण करनी चाहिए। उसके बाद श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति करके स्वाध्याय करना चाहिए और अन्त में श्रुतभक्ति पढ़कर स्वाध्याय को समाप्त करना चाहिए। समाप्ति पर शान्तिभक्ति भी करनी चाहिए।[85]

वैदिक या बौद्ध परम्परा में विशिष्ट ग्रन्थों का अध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व इष्ट का स्मरण एवं गुरु को प्रणाम करने के अतिरिक्त कोई विधि लगभग नहीं होती है।

वाचनाचार्य पदस्थापना-विधि के सम्बन्ध में तुलना की जाए तो यह विधि तिलकाचार्यसामाचारी, प्राचीनसामाचारी, विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर आदि ग्रन्थों में प्राप्त होती है। उनमें परस्पर रही हुई कुछ समरूपता एवं कुछ भिन्नताएँ निम्न प्रकार है –

मुहूर्त्त सम्बन्धी – तिलकाचार्यसामाचारी[86] एवं आचारदिनकर[87] के अन्तर्गत इस पदस्थापना को शुभ मुहूर्त्त में गुरु-शिष्य के चन्द्रबल के अनुसार करने का निर्देश किया गया है जबकि प्राचीनसामाचारी[88] एवं विधिमार्गप्रपा[89] में

इस सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं है, केवल लग्न वेला में वर्धमानविद्या मन्त्र सुनाने का उल्लेख है।

निषद्या सम्बन्धी – प्राचीनसामाचारी[90] एवं विधिमार्गप्रपा[91] में नूतन वाचनाचार्य को अभिमन्त्रित आसन विधिपूर्वक समर्पित करने का उल्लेख है। तिलकाचार्यसामाचारी[92] में 'निषद्या' के स्थान पर 'कम्बल' शब्द का प्रयोग है और उसे अंतरपट (उत्तरपट्ट) सहित प्रदान करने का निर्देश है। आचारदिनकर में 'आसन' समर्पित करने का उल्लेख तो नहीं है, किन्तु नवीन वाचनाचार्य द्वारा एक कम्बल परिमाण आसन के ऊपर बैठकर व्याख्यान करने का निर्देश जरूर है।[93] इससे सिद्ध होता है कि रूद्रपल्लीय वर्धमानसूरि की सामाचारी में भी अभिमन्त्रित आसन प्रदान किया जाता है। यहाँ आसन, निषद्या और कम्बल तीनों समानार्थक हैं तथा इनका तात्पर्य एक अखण्ड कम्बल है। प्राचीन परम्परा के अनुसार वाचनाचार्य मुनि एक कम्बल परिमाण आसन के ऊपर बैठकर ही व्याख्यान आदि करते हैं, अत: कम्बल परिमाण आसन दिया जाता है।

मन्त्र सम्बन्धी – तिलकाचार्यसामाचारी के अनुसार नूतन वाचनाचार्य को वर्धमानविद्या का निम्न मन्त्र सुनाया जाता है[94]–

"ॐ नमो भगवओ वद्धमाणसामिस्स जस्सेयं चक्कं जलंतं गच्छइ आयासं पायालं लोयाणं भूयाणं जूए वा रणे वा रायंगणे वा जाणे वा वाहणे वा बंधणे मोहणे थंभणेउं सव्वजीवसत्ताणं अपराजिओ भवामि स्वाहा।"

प्राचीनसामाचारी में वर्धमानविद्या का निम्न मन्त्र उल्लेखित है[95]–

"ॐ नमो अरिहंताणं, ॐ नमो सिद्धाणं, ॐ नमो आयरियाणं, ॐ नमो उवज्झायाणं, ॐ नमो सव्वसाहूणं, ॐ नमो ओहिजिणाणं, ॐ नमो परमोहि जिणाणं, ॐ नमो सव्वोहिजिणाणं, ॐ नमो अणंतोहिजिणाणं, ॐ नमो अरिहओ भगवओ महावीरस्स सिज्झउ मे भगवई महई महाविज्जा वीरे वीरे महावीरे जयवीरे सेणवीरे वद्धमाणवीरे जए विजए जयंते अपराजिए अणिहए ॐ ह्रीँ स्वाहा।"

आचारदिनकर में **'ॐ नमो ओहिजिणाणं'** से लेकर **'ॐ नमो अणंतोहिजिणाणं'** इन चार लब्धि पदों को छोड़कर शेष मन्त्र पूर्ववत ही सुनाने का निर्देश है।[96]

विधिमार्गप्रपा में इस सम्बन्ध में जो मन्त्र दिया गया है, वह प्राचीन सामाचारी में वर्णित मन्त्र के अन्तिम भाग से प्रायः समरूपता रखता है[97]–

"ॐ नमो भगवओ अरहओ महइ महावीर वद्धमाणसामिस्स सिज्झउ मे भगवई महई महाविज्जा ॐ वीरे वीरे महावीरे जयवीरे सेणवीरे वद्धमाणवीरे जए विजए जयंते अपराजिए अणिहए ओं ह्रीं स्वाहा।"

इस प्रकार वर्धमानविद्यामन्त्र को लेकर सामाचारी ग्रन्थों में सामान्यतया मत वैभिन्य है।

वर्धमानविद्यापट्ट सम्बन्धी – प्राचीनसामाचारी, विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर में नूतन वाचनाचार्य को वर्धमानविद्यामण्डलपट्ट देने का निर्देश मात्र है, किन्तु तिलकाचार्यसामाचारी में इस पट्टालेखन की विधि भी दी गयी है और बताया गया है कि यह पट्ट यन्त्र आठ वलय का होता है तथा प्रत्येक वलय में भिन्न-भिन्न मन्त्र एवं गाथाएँ लिखी जाती है।[98] इसमें निर्दिष्ट मन्त्रों का अमुक-अमुक संख्या में जाप कर उन्हें सिद्ध किया जाता है।

क्रम सम्बन्धी – तिलकाचार्यसामाचारी, विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर में प्रतिपादित इस विधि के क्रम में परस्पर अन्तर है जैसे - तिलकाचार्यसामाचारी में देववन्दन एवं नन्दी क्रिया के अनन्तर ही 'निषद्या' देने का उल्लेख है जबकि विधिमार्गप्रपा में वासदान, प्रदक्षिणा, कायोत्सर्ग, अनुज्ञापन आदि के पश्चात निषद्या देने का सूचन है। आचारदिनकर में निषद्यादान का उल्लेख ही नहीं है। इसी प्रकार क्रम सम्बन्धी और भी कुछ भिन्नताएँ देखी जाती हैं।

आलापक सम्बन्धी – पूर्व निर्दिष्ट ग्रन्थों में आलापक पाठ सम्बन्धी अन्तर भी दिखाई देता है, जैसे अनुयोग प्रारम्भ करने निमित्त तिलकाचार्यसामाचारी में यह पाठ है – **'इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं वाचनाचार्यपटु अणुजाणहं'**[99] विधिमार्गप्रपा में **'इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं वायणारियपय अणुजाणावणियं वासनिक्खेवं करेह'** यह पाठ है।[100] आचारदिनकर में **'इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं वायणा अनुज्ञापयारोवणियं नंदिकड्ढावणियं वासक्खेवं करेह चेइयाइं च वंदावेह'** ऐसा आलापक पाठ है।[101]

इस प्रकार चर्चित ग्रन्थों में वाचनाचार्य पद स्थापना के भिन्न-भिन्न आलापक पद मिलते हैं यद्यपि इनमें शब्द संरचना एवं भाषागत अंतर होते हुए भी अर्थ साम्य देखा जाता है। आचारदिनकर में वाचना, तप एवं दिशा सम्बन्धी अनुज्ञा देने के भी पाठ हैं।[102]

कृत्य सम्बन्धी – नूतन वाचनाचार्य के अधिकारों की चर्चा करते हुए प्राचीनसामाचारी में कहा गया है कि वह आचार्य के समान सभी कृत्यों को सम्पन्न कर सकता है, किन्तु उसके लिए अपने से ज्येष्ठ मुनियों को वन्दन एवं समयानुसार भिक्षाटन करने का विशेष निर्देश है।[103] आचारदिनकर के मन्तव्यानुसार नूतन वाचनाचार्य व्रतारोपण, नन्दी क्रिया, योगोद्वहन, वाचना, तपोविधान, विहार आदि की अनुज्ञा, श्रावक व्रतारोपण, अन्तिम आराधना, प्रतिष्ठा विधि इत्यादि अनुष्ठान सम्पन्न करवा सकता है।[104]

विधिमार्गप्रपा में इस विषयक कोई आलेख नहीं है। इसके अतिरिक्त वासनिक्षेप, देववन्दन, लघुनन्दीश्रवण, आसन दान, मन्त्र दान, प्रदक्षिणा आदि विधियों में लगभग समरूपता है।

यदि जैन, वैदिक एवं बौद्ध परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में इस विधि का समाकलन करें तो श्वेताम्बर ग्रन्थों में इसके स्पष्ट उल्लेख तो मिलते हैं किन्तु आजकल यह पदस्थापना विधि नहींवत ही देखी जाती है। वर्तमान में वाचना दान आचार्य, उपाध्याय अथवा आगम ज्ञाता सुयोग्य मुनि भी करते है।

दिगम्बर परम्परा के आदिपुराण में गर्भान्वय आदि तिरेपन क्रियाओं का वर्णन है, उसमें गणोपग्रहण नाम की अट्ठाईसवीं क्रिया की तुलना वाचनानुज्ञा से कर सकते हैं। आचार्य जिनसेन ने गणोपग्रहण विधि का वर्णन करते हुए कहा है कि वह मुनि आचार्य आर्यिका, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ को समीचीन मार्ग में लगाता हुआ उनका पोषण करें। शास्त्र अध्ययन की इच्छा करने वालों को दीक्षा दें और धर्मात्मा जीवों के लिए धर्म का प्रतिपादन करें। सदाचार धारण करने वालों को प्रेरित करें, दूराचारियों को दूर हटाएं और अपराध रूपी मल का शोधन करते हुए अपने आश्रित गण की रक्षा करें।[105]

इस प्रकार दिगम्बर आम्नाय में भी आंशिक भिन्नता के साथ प्रस्तुत विधि का स्वरूप प्राप्त हो जाता है यद्यपि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय की भांति इसमें एक निश्चित विधि का अभाव है।

बौद्ध परम्परा में त्रिपिटक के जानकार वरिष्ठ भिक्षु को आचार्य और उपाध्याय के समकक्ष माना जाता है, उसमें वाचनाचार्य पद का उल्लेख नहीं है। यद्यपि वही वरिष्ठ भिक्षुक अध्यापन का कार्य भी करता है। बुद्ध ने अपने

पश्चात संघ को ही नेता माना था। संघ में किसी विशिष्ट आचार्य आदि की व्यवस्था नहीं थी।[106]

उपसंहार

जैन वाङ्मय में वाचना का अत्यधिक महत्त्व है। वाचना दान एवं वाचनाचार्य पदस्थापना ये दो भिन्न प्रक्रियाएँ है। दीक्षित शिष्यों को सविधि पूर्वक ज्ञान देकर परिपक्व बनाना वाचना दान है और अध्यापन करवाने में निपुण शिष्य को वाचना दान की अनुज्ञा-अनुमति देना वाचनाचार्य स्थापना कहलाता है।

वाचनाचार्य पदस्थापना यह शब्द चार पदों के योग से निष्पन्न है। वाचना शब्द के दो अर्थ हैं – अध्ययन करना और अध्ययन करवाना। वाचना का सम्बन्ध वाचना दाता गुरु और वाचना ग्राही शिष्य दोनों से ही है। आचार्य अर्थात विशिष्ट योग्यता को धारण करने वाला पुरुष, पद अर्थात अधिकार सम्पन्नता, स्थापना अर्थात स्थापित करना। इस प्रकार विशिष्ट योग्यता धारक शिष्य को चतुर्विध संघ के समक्ष वाचना प्रदाता के रूप में उद्घोषित करना, नियुक्त करना, वाचनाचार्य पदस्थापना कहा जाता है। जिस विधि से यह प्रक्रिया पूर्ण की जाती है वह वाचनाचार्य पदस्थापना-विधि कहलाती है।

इस पदस्थापना के माध्यम से शिष्य की योग्यता को अनावृत्त किया जाता है, क्योंकि सम्यक् श्रुत के अध्ययन-अध्यापन से ही आत्मा का विशुद्ध ज्ञाता स्वरूप प्रकट होता है। वस्तुत: जिस प्रकार खदान में पड़े हुए स्वर्ण का मूल स्वरूप ताप के द्वारा प्रकट किया जाता है उसी प्रकार आगम शास्त्रों के अध्यापन से शिष्य को यथार्थ आत्म स्वरूप का बोध कराया जाता है। अध्ययन-अध्यापन की इस प्रक्रिया के द्वारा शिष्य का क्षेम तो होता ही है साथ ही गुरु के कर्त्तव्य का निर्वहन भी होता है। आचार्य हरिभद्र ने स्पष्ट रूप से कहा है कि यदि वाचना दाता गुरु वाचना शक्ति का गोपन करके अन्य आराधना करता है तो वह अनुचित है। कारण शक्ति का गोपन किये बिना जो यत्न करता है उसे ही यति कहते हैं।[107]

पंचवस्तुक में वाचना का महत्त्व बतलाते हुए यह भी कहा गया है कि प्राय: श्रुतधर्म से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। सम्यक्त्व मोक्ष का बीज है। वह जीवादि तत्त्वों के ज्ञान, आत्मा के शुभ परिणाम एवं सत्य श्रद्धान के रूप

में रहता है। जब सम्यक्त्व का प्रकटन होता है तब जीव को अपूर्व सुख की प्राप्ति होती है फलतः वह शुभाशय वाला व्यक्ति शुभ का अनुबन्ध करता है।[108]

इस प्रकार वाचनादान मोक्ष प्राप्ति का अनन्तर हेतु है। इससे आध्यात्मिक उत्कर्ष में इस पद स्थापना की उपादेयता एवं आवश्यकता भी सिद्ध हो जाती है।

यदि वाचनाचार्य पद की उपादेयता प्रबन्धन की दृष्टि से देखी जाए तो यह श्रुत प्रबन्धन, शिक्षा प्रबन्धन आदि की अपेक्षा से अधिक उपयोगी हो सकता है। वाचनाचार्य, वाचना दान के माध्यम से पूर्वश्रुत का संवर्धन करते हैं और वर्तमान परिस्थितियों में उसकी प्रासंगिकता समझाते हुए उसे जनोपयोगी बनाते हैं। उनके द्वारा प्राचीन ग्रन्थों एवं ग्रन्थ भण्डारों का अवलोकन एवं व्यवस्थापन होने से उनका प्रमार्जन एवं निरीक्षण हो जाता है तथा प्राचीन पुस्तकों को व्यवस्थित करने से उनकी उम्र भी बढ़ती है। शिक्षा किस प्रकार दी जाए, कैसी दी जाए, देने वाला कैसा हो, लेने वाला कैसा हो आदि से वर्तमान शिक्षा प्रणाली के एक सुव्यवस्थित रूप देने में सहयोग प्राप्त हो सकता है। इसी के साथ शिक्षक वर्ग एवं विद्यार्थी वर्ग को भी शिक्षा दान और शिक्षा ग्रहण हेतु सम्यक दिशा प्राप्त हो सकती है।

नव्य युग की समस्याओं के सन्दर्भ में यदि वाचनाचार्य पद का परिशीलन किया जाए तो सर्वप्रथम तो वाचनाचार्य वाचना प्रदान कर समाज में फैल रहे भौतिक अन्धकार में आध्यात्मिक ज्ञान का प्रकाश करते हैं। वर्तमान पीढ़ी में जिनवाणी एवं जिनधर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करते हैं, जिससे भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के बीच सन्तुलन स्थापित होता है। एकाग्रता बढ़ने से मानसिक स्थिरता बढ़ती है। मानसिक स्थिरता वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास की गति को द्विगुणित कर सकती है। इससे अहंकार, क्रोध, प्रमाद, आलस्य आदि का नाश होता है जिससे कि मानसिक तनाव, रोगादि में वृद्धि नहीं होती तथा सम्यक् ज्ञान के द्वारा आचरण पक्ष भी मजबूत बनता है। वर्तमान में शिक्षा के नाम पर हो रहा व्यवसायीकरण, गुरु-शिष्यों के बीच बढ़ती दूरियाँ, गुरुजनों के प्रति बढ़ती असम्मान भावना, अयोग्य लोगों को उच्च Degree प्रदान करने से हो रहा सामाजिक पतन आदि समस्याओं में वाचना दान का शास्त्रीय स्वरूप नवीन आलोक प्रदान कर सकता है।

इस प्रकार जैन परम्परा में वाचनाचार्य एक महत्त्वपूर्ण पद है, परन्तु वर्तमान की अधिकतम परम्पराओं में यह पद विलुप्त हो रहा है। वाचनाएँ आज भी दी जाती है, किन्तु वह आचार्य, योग्य मुनि या ज्येष्ठ मुनि द्वारा ही सम्पन्न होती है।

वाचनादान के सम्बन्ध में यह जान लेना भी जरूरी है कि वाचनाचार्य द्वारा सभी शिष्यों को समान रूप से वाचना दी जाती है, परन्तु वाचना लेने वाले सभी मुनि वाचना को तदनुरूप ग्रहण कर पाएं, यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के आधार पर आगम के सूत्रार्थ का बोध होता है। विशिष्ट क्षयोपशम वाला जीव वाचना को सर्वांश रूप से ग्रहण करता है जबकि मन्द क्षयोपशम वाला जीव पुरुषार्थ के बल पर न्यूनाधिक रूप से ग्रहण करता है तथा जो वाचना का सर्वांश या विशिष्ट प्रकार से अवधारण करता है वही वाचनाचार्य पद का योग्याधिकारी बनता है।

सन्दर्भ-सूची

1. *संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 9174*
2. *वाचनं वाचना। अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 6 पृ. 1088*
3. *वाचना पाठनम्। उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पृ. 583*
4. *गुरुभ्यः श्रवणे अधिगमे। अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 6, पृ. 1088*
5. *गुरु समीपे सूत्राक्षराणां ग्रहणे।*
   उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, अ. 29 की टीका
6. *गुरुप्रदत्तेनैव सूत्रस्य परिपाटीरूपे। अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 6, पृ. 1088*
7. *पाइयसद्दमहण्णवो, पृ. 759*
8. *तओ नो कप्पंति वाइत्तए, तं जहा -*
   1. अविणीए, 2. विगइपडिबद्धे, 3. अविओसविय पाहुडे।
   बृहत्कल्पसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 4/10
9. *तओ दुस्सन्नप्पा पण्णत्ता, तं जहा -*
   1. दुट्ठे, 2. मूढे, 3. वुग्गाहिए। बृहत्कल्पसूत्र, 4/12
10. *निशीथसूत्र, 19/20-21*
11. *निशीथभाष्य, 6240, 6243 की चूर्णि*

12. *तओ कप्पंति वाइत्तए, तं जहा-*
1. विणीए 2. नो विगइ पडिबद्धे 3. विओसविय पडिबद्धे।
बृहत्कल्पसूत्र, 4/11

13. *तओ सुसन्नप्पा पण्णत्ता, तं जहा-*
1. अदुट्ठे 2. अमूढे 3. अवुग्गाहिए।
बृहत्कल्पसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 4/13

14. *उत्तराध्ययनसूत्र, 11/4-5*
15. *पंचवस्तुक, 973*
16. *आचारदिनकर, पृ. 110*
17. *विधिमार्गप्रपा, पृ. 187*
18. *आचारदिनकर, भा.1, पृ. 110*
19. *संगहु वग्गह निज्जर, सुतपज्जव जायमव्ववच्छित्ती।*
पणगमिणं पुव्वुत्तं, जे चायहितोपलं भादी।।
व्यवहारभाष्य, मुनि दुलहराज, गा. 1785

20. *पंचवस्तुक, 974-979*
21. *बृहत्कल्पभाष्य, 5201-5203, 5204, 5206, 5208, 5209*
22. *निशीथभाष्य, 6221, 6230*
23. *वही, 3233*
24. *पंचवस्तुक, 981-983*
25. *विशेषावश्यकभाष्य, गा. 1457*
26. *निशीथभाष्य, 6234-6236*
27. *स्थानांगसूत्र, सं. मधुकरमुनि, 5/3/223*
28. *वही, 5/3/224*
29. *सिक्खा दुविहा, तं जहा- गहणसिक्खा आसेवणा सिक्खा।*
दशवैकालिक जिनदासचूर्णि, पृ. 209

30. *आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 157-158*
मूअं हुंकारं वा, बाढंकार पडिपुच्छ वीमंसा।
तत्तो पसंगपारायणं, च परिणिट्ठा सत्तमए।।
(क) नन्दीसूत्र, सं. मधुकरमुनि, 115/4
(ख) विशेषावश्यकभाष्य, गा. 565

31. *नन्दीसूत्र, सं. मधुकरमुनि, 115/2*
32. *(क) वही, 115/3.*
    (ख) विशेषावश्यकभाष्य, 562-563
33. *विशेषावश्यकभाष्य, 851-852*
34. *वही, 853-857*
35. *नन्दीसूत्र, 115/5*
36. *दशवैकालिकसूत्र, 9/4/7*
37. *उत्तराध्ययनसूत्र, 11/32*
38. *अनुयोगद्वारसूत्र, 631*
39. *विशेषावश्यकभाष्य, गा. 960*
40. *वसे गुरूकुले निच्चं, जोगवं उवहाणवं।*
    पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धुमरिहई॥
    उत्तराध्ययनसूत्र, 11/14
41. *जे आयरिय उवज्झायाणं, सुस्सूसावयणंकर।*
    तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा॥
    दशवैकालिकसूत्र, 9/2/12
42. *विणओणएहिं कयपंजलीहिं, छंदमणुअत्तमाणेहिं।*
    आराहिओ गुरुजणो, सुयं बहुविहं लहुं देई॥
    आवश्यकनिर्युक्ति, 138
43. *उवहिय जोग्गदव्वो, देसे काले परेण विणएणं।*
    चित्तण्णू अणुकूलो, सीसो सम्मं सुयं लहइ॥
    विशेषावश्यकभाष्य, 937
44. *व्यवहारभाष्य, मुनि दुलहराज, गा. 2340-43*
45. *बृहत्कल्पभाष्य, गा. 4435*
46. *व्यवहारभाष्य, गा. 2644-48*
47. *वही, गा. 2650*
48. *वही, गा. 2651,2661, 2665*
49. *बृहत्कल्पभाष्य, गा. 778-779.*
50. *व्यवहारभाष्य, गा. 3078-80.*

51. *निशीथसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 19/16,17,37*

52. *निशीथचूर्णि, उपा. अमरमुनि, 6180-84 की चूर्णि*

53. *पंचवस्तुक, 589-593*

54. *वही, 594-598*

55. *वही, 599-610*

56. *आचारदिनकर, पृ. 110*

57. *से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, मसादिय वा मच्छादिय वा मंसखलं वा मच्छखलं वा आहेणं वा पहेणं वा हिंगोंल वा संमेलं ...... मक्कडासंताणगा, बहवे तत्थ समण- माहण- अतिहि-किवण वणीमगा उवागता उवागमिस्संति, अच्चाइण्णा वित्ती, णो पण्णस्स णिक्खमण पवेसाए णो पण्णस्स वायण-पुच्छण-परियट्टणाऽणुप्पेह ...... अभिसंधारेज्ज गमणाए। आयारचूला, संपा. मधुकरमुनि, 2/1/4*

58. *पंचविहे सज्झाए पण्णत्ते, तं जहा-वायणा, पुच्छणा, परियट्टणा, अणुणेहा धम्मकहा। स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 5/3/220*

59. *चतारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा- पव्वावणारिए णाममेगे णो उवट्ठाणायरिए, उवट्ठावणायरिए णाममेगे णो पव्वावणायरिए, एगे पव्वावणायरिएवि उवट्ठावणायरिएवि, एगे णो पव्वावणायरिए णो उवट्ठावणायरिए-वायणायरिए धम्मायरिए। स्थानांगसूत्र, 4/3/422.*

60. *'से समासओ पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा- णाणायारे, दंसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे, विरियायारे। आयारस्स णं परित्तावायणा, संखेज्जाअणुओगदारा, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ, संखेज्जा वेढा, संखेज्जासिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ। समवायांग, संपा. मधुकरमुनि, सू. 513.*

61. *से किं तं सज्झाए? सज्झाए पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा- वायणा, पडिपुच्छणा परियट्टाणा, अणुप्पेहा, धम्मकहा। से त्तं सज्झाए।*
व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 25/7/236

62. *तए णं तस्स मेहस्स कुमारस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव (चिंतिए पत्थिए मणोगते संकप्पे) समुप्पज्जित्था- एवं खलु अहं सेणियस्स रन्नो पुत्ते, धारिणीए देवीए अत्तए मेहे जाव सवणयाए, त जया णं अहं अगारमज्झे वसामि, तया णं मम वयणा निग्गंथा आढायंति, परिजाणंति, सक्कारेंति, समाणेंति, अट्ठाइं हेऊइं पसिणाइं, कारणाइं वागरणाइं आइक्खंति, इट्ठाहिं कंताहिं वग्गुहिं आलवेन्ति, संलवेन्ति जप्पभिइं च णं अहं मुंडे भवित्ता अगाराणो अणगारियं*

पव्वइए, तप्पभिइं च णं मम समणा नो आढायंति जाव नो संलवन्ति। अदुत्तरं च णं मम समणा निग्गंथा राओ पुव्वरत्तावस्तकालसमयंति वायणाए पुच्छणाए जाव ...... पज्जुवासइ। ज्ञाताधर्मकथा, संपा. मधुकरमुनि, 1/1/162

63. बृहत्कल्पसूत्र, 4/10-11
64. व्यवहारसूत्र, 10/22-36
65. निशीथसूत्र, 19/20-22
66. उत्तराध्ययनसूत्र, 11/4-5
67. दशवैकालिकसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 9/4/7
68. नन्दीसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 115/2,5,3
69. व्यवहारभाष्य–सानुवाद, मुनि दुलहराज, गा. 1784-1785, 2340-2343
70 बृहत्कल्पभाष्य, संपा. पुण्यविजयजी, गा. 5208, 5209
71. निशीथभाष्य की चूर्णि, 6240-43, 6230, 6233, 6236
72. पंचवस्तुक, 973-1019
73. प्राचीनसामाचारी, पृ. 29
74. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ. 45-46
75. सुबोधासामाचारी, पृ0 21
76. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 187-192
77. आचारदिनकर, पृ. 110-111
78. (क) बृहत्कल्पभाष्य, 779
    (ख) विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 187
79. आचारदिनकर, 110
80. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 188
81. आचारदिनकर, 110-111
82. (क) विधिमार्गप्रपा– सानुवाद, पृ.189
    (ख) आचारदिनकर, 111
83. विधिमार्गप्रपा, पृ. 189-191
84. (क) विधिमार्गप्रपा– सानुवाद, पृ. 187
    (ख) आचारदिनकर, पृ. 110-111
85. अनगारधर्मामृत, अ. 9, पृ. 672-673

86. *तिलकाचार्यसामाचारी, पृ. 46*
87. *आचारदिनकर, पृ. 111*
88. *प्राचीनसामाचारी, पृ. 28-29*
89. *विधिमार्गप्रपा, पृ. 191*
90. *प्राचीनसामाचारी, पृ. 28*
91. *विधिमार्गप्रपा, पृ. 190*
92. *तिलकाचार्यसामाचारी, पृ. 46*
93. *आचारदिनकर, पृ. 111*
94. *तिलकाचार्यसामाचारी, पृ. 46*
95. *प्राचीनसामाचारी, पृ. 28*
96. *आचारदिनकर, पृ. 111*
97. *विधिमार्गप्रपा, पृ. 191*
98. *तिलकाचार्यसामाचारी, पृ. 46-47.*
99. *वही, पृ. 46*
100. *विधिमार्गप्रपा, पृ. 189.*
101. *आचारदिनकर, पृ. 111.*
102. *वही, पृ. 111.*
103. *प्राचीनसामाचारी, पृ. 29.*
104. *आचारदिनकर, पृ. 112*
105. *आदिपुराण, पर्व- 38, पृ. 255*
106. *जैन एवं बौद्ध शिक्षा दर्शन का एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 155.*
107. *पंचवस्तुक, पृ. 453.*
108. *वही, पृ. 461.*

●

अध्याय-3

प्रवर्त्तक पदस्थापना विधि का मार्मिक स्वरूप

जैन-व्यवस्था पद्धति में प्रवर्त्तक का अनूठा स्थान रहा हुआ है। नूतन दीक्षित मुनियों को संयम में दृढ़ रखने, उन्हें रत्नत्रयी की साधना में प्रवर्तित करने एवं विषादग्रस्त या अभावयुक्त मुनियों को चारित्र धर्म में टिकाए रखने हेतु कई मुनियों का निर्धारण किया गया है। इसी से सन्दर्भित आचारचूला में सात पदों के नामोल्लेख प्राप्त होते हैं तथा उसकी टीका में इन पदों का स्पष्ट विवेचन भी उपलब्ध होता है। उनमें प्रवर्त्तक का तीसरा स्थान माना गया है। स्पष्टीकरण के लिए सात पदों के नाम इस प्रकार हैं[1]–

1. **आचार्य** – अनुयोगधर अर्थात अर्थ की वाचना देने वाले।
2. **उपाध्याय** – अध्यापक अर्थात सूत्रपाठ की वाचना देने वाले।
3. **प्रवर्त्तक** – वैयावृत्य आदि में साधुओं को प्रवृत्त करने वाले।
4. **स्थविर** – संयम पतित साधुओं को स्थिर करने वाले।
5. **गणि** – गच्छाधिपति।
6. **गणधर** – जो आचार्य के समान होते हुए भी उनके आदेश से मुनि संघ को लेकर पृथक् विचरण करने वाले, साध्वियों की देख-रेख करने वाले तथा ज्ञान आदि की विराधना न करते हुए गण का अभिवर्धन करने वाले।
7. **गणावच्छेदक** – गच्छ सम्बन्धी कार्यों का चिन्तन (उपधि आदि की व्यवस्था) करने वाले।

इस प्रकार साधु सामाचारी का सम्यक् प्रवर्त्तन करने-करवाने में सदैव तत्पर ऐसे प्रवर्त्तक एक सम्माननीय पदवीधर हैं।

प्रवर्त्तक शब्द का अर्थ एवं परिभाषाएँ

'पवत्तण' इस प्राकृत शब्द का संस्कृत रूप प्रवर्त्तक है।

• प्रवर्त्तक का शाब्दिक अर्थ है- प्रवृत्ति करने वाला एवं करवाने वाला। बृहद्-हिन्दी कोश के अनुसार कार्य का आरम्भ करने वाला एवं संचालन

करने वाला प्रवर्त्तक कहलाता है।[2]

• प्राकृत-हिन्दी कोश के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला एवं प्रवृत्ति करवाने वाला प्रवर्त्तक कहा जाता है।[3]

• सामान्य परिभाषा के अनुसार गच्छबद्ध मुनियों को सम्प्रेरित करने के लक्ष्य से स्वयं सम्यक् प्रवृत्तियों में रत रहने वाला तथा नव दीक्षित मुनियों को तप, संयम आदि श्रेष्ठ कृत्यों में प्रवृत्त करने वाला प्रवर्त्तक कहलाता है। यह अन्वयार्थक परिभाषा है।

• व्यवहारभाष्य में कहा गया है कि जो तप, नियम और विनय रूप गुण निधियों का नियोजन करते हैं, ज्ञान-दर्शन-चारित्र में सतत उपयोगवान हैं और शिष्यों के संग्रहण-उपग्रहण में कुशल होते हैं, वे प्रवर्त्तक हैं। दूसरी परिभाषा के अनुसार जो मुनि तप, संयम, नियम आदि योगों में योग्य मुनि का प्रवर्त्तन तथा असमर्थ का उससे निवर्त्तन करते हैं वे प्रवर्त्तक हैं।[4] इस प्रकार प्रवर्त्तक गणचिन्ता में प्रवृत्त रहते हैं अतएव प्रवर्त्तक को गणचिन्तक भी कहा गया है।

• धर्मसंग्रहकार के अनुसार प्रवर्त्तक जिस शिष्य को तप-संयम-वैयावृत्य आदि के योग्य समझता है उसे प्रवर्त्तित करता है और अयोग्य को निवृत्त करता है इसलिए वह प्रवर्त्तक कहलाता है।[5]

• टीकाकारों के अभिप्राय से जो साधुओं को प्रशस्त व्यापार में प्रवृत्त करता है वह प्रवर्त्तक है अथवा जो मुनि धर्म में विषाद को प्राप्त है उसे प्रोत्साहित करने वाला प्रवर्त्तक कहलाता है।[6]

• एक अन्य परिभाषा के अनुसार जो गण (संघ) में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मूलक सामाचारी का विधान करता है वह प्रवर्त्तक है।[7]

सामान्यतया जो मुनि संयम-तप आदि के आचरण में धैर्यवान और सदनुष्ठान का सम्यक आराधक हो, वही प्रवर्त्तक बनने का सच्चा अधिकारी है और जिसमें तथाविध योग्यता का अभाव हो वह प्रवर्त्तक नहीं बन सकता है।[8]

प्रवर्त्तक मुनि की योग्यताएँ एवं मुहूर्त्त विचार

प्रवर्त्तक पद पर स्थित होने वाला शिष्य किन गुणों से युक्त होना चाहिए? इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र चर्चा कहीं भी दृष्टिगत नहीं होते है। अत:

पूर्व निर्दिष्ट स्वरूप के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि जो मुनि स्वयं तप-नियम-संयमादि का दृढ़ प्रतिपालक हो और वैयावृत्य में उद्यमशील हो वह प्रवर्त्तक पद का योग्याधिकारी है।

प्राचीनसामाचारी के अनुसार आचार्य पदस्थापना के लिए निर्दिष्ट शुभ मुहूर्त्त में प्रवर्त्तकपद की अनुज्ञा देनी चाहिए, क्योंकि यह विधि-प्रक्रिया इसमें कथित आचार्यपदानुज्ञा की भांति सम्पन्न की जाती है।[9]

यहाँ प्रसंगवश यह भी ज्ञातव्य है कि आचार्यपद की अनुज्ञा करने वाला गुरु ही प्रवर्त्तक पद की अनुज्ञा करें।

प्रवर्त्तक पदस्थापना विधि का ऐतिहासिक विकास क्रम

जैन वाङ्मय में सामान्यतया सात पदों के नामोल्लेख प्राप्त होते हैं। इनमें आचार्य एवं उपाध्याय के पश्चात तीसरे क्रम पर प्रवर्त्तक को स्थान दिया है।

यदि प्रवर्त्तक पद को लेकर इतिहास के गर्भ में झांकें तो हमें इस पद के नाम निर्देश एवं इसका वैशिष्ट्य आदि मूलागमों, आगमिक व्याख्याओं एवं पूर्वकालीन (विक्रम की 10वीं शती पर्यन्त) ग्रन्थों में स्पष्टतया मिलता है।

प्रथम अंग आचारचूला में भिक्षाटक मुनि द्वारा सहवर्ती मुनियों को आहार देने की अनुज्ञा लेने निमित्त प्रवर्त्तक शब्द का उल्लेख हुआ है।[10] यहाँ सातों पदवीधरों के नामों का निर्देश है। उसका आशय यह है कि इनमें से किसी भी पदस्थ की निश्रा में रहते हुए उनकी अनुमतिपूर्वक ही अन्य मुनियों को आहार प्रदान करना चाहिए।

इसी तरह प्रवर्त्तक आदि ज्येष्ठ मुनियों के शय्या-संस्तारक योग्य भूमि की प्रतिलेखना करने का विधान बतलाया गया है।[11]

स्थानांगसूत्र में देवता द्वारा मनुष्य लोक में आने के कारणों में से एक कारण प्रवर्त्तक आदि पदस्थ मुनियों को उपकारक भाव की दृष्टि से वन्दन करना बतलाया है।[12] यहाँ वन्दन के अर्थ में प्रवर्त्तक शब्द का अंकन है। अन्य आगमों में इसी तरह के और भी उल्लेख देखे जाते हैं।

आगमिक व्याख्या साहित्य के अन्तर्गत व्यवहारभाष्य में प्रवर्त्तक को गणचिन्तक कहा है और वहाँ उसके स्वरूप मात्र का ही निदर्शन किया है।[13]

इस तरह विक्रम की 9वीं शती तक प्रवर्त्तक के विषय में सामान्य वर्णन ही प्राप्त होता है। तदनन्तर सर्वप्रथम यह विधि प्राचीनसामाचारी में पढ़ने को मिलती है। उसके बाद इससे परवर्ती (विक्रम की 11वीं से 17वीं शती के) ग्रन्थों में भी तत्सम्बन्धी कोई वर्णन प्राप्त नहीं होता है।

अत: यह कह सकते हैं कि प्रवर्त्तक पद विधि का एक मात्र ग्रन्थ प्राचीनसामाचारी है। इसी सामाचारी के अनुसार यह विधि प्रस्तुत करेंगे।

प्रवर्त्तक पदस्थापना विधि

प्राचीनसामाचारी के अनुसार प्रवर्त्तक पदस्थापना की विधि निम्नलिखित है[14]–

वासदान – सर्वप्रथम प्रवर्त्तक पद ग्राही शिष्य की परीक्षा करें। फिर श्रेष्ठ मुहूर्त्त के दिन जिनालय या रचित समवसरण के सन्निकट स्थापनाचार्य एवं गुरु के लिए दो आसन बिछायें। स्थापनाचार्य को ऊँचे आसन पर स्थापित करें। उसके बाद गुरु स्वयं के आसन पर बैठकर वासचूर्ण को अभिमन्त्रित करें। फिर प्रवर्त्तक पद की अनुज्ञा निमित्त लोच किये हुए शिष्य के मस्तक पर उसका क्षेपण करें।

देववन्दन – तदनन्तर देववन्दन करने के लिए एक-एक नमस्कारमन्त्र के कायोत्सर्ग पूर्वक बढ़ती हुई चार स्तुतियाँ बोलें। उसके बाद शान्तिनाथ की आराधना निमित्त एक लोगस्स का कायोत्सर्ग करें तथा द्वादशांगी देवता, श्रुतदेवता, शासनदेवता एवं वैयावृत्यकारक देवता की आराधना निमित्त एक-एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करें और कायोत्सर्ग के अनन्तर उनकी स्तुतियाँ बोलें। फिर शक्रस्तव (णमुत्थुणं सूत्र), परमेष्ठिस्तव एवं जयवीयराय आदि सूत्र बोलें।

कायोत्सर्ग – तत्पश्चात शिष्य एक खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन करें। फिर प्रवर्त्तक पदानुज्ञा देने-लेने के निमित्त गुरु और शिष्य दोनों ही सत्ताईस श्वासोश्वास (सागरवरगंभीरा पर्यन्त लोगस्ससूत्र) का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र कहें।

अनुज्ञादान – 1. उसके पश्चात प्रवर्त्तक पदग्राही एक खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन करके कहें – **'इच्छकारि भगवन्! तुम्हे अम्हं दिगाइ अणुजाणह'** हे भगवन्! आप अपनी इच्छा से मुझे दिशादि (विहार आदि) की अनुमति

दीजिए। गुरु बोलें- **'अहमेअस्स साहुस्स खमासमणाणं हत्थेणं दिगाइ अणुजाणामि'** गीतार्थ मुनियों द्वारा आचरित परम्परा का अनुसरण करते हुए मैं इस मुनि के लिए दिशा (विहार) आदि की अनुज्ञा देता हूँ।

2. शिष्य दूसरा खमासमण देकर कहें – **'संदिसह किं भणामि?'** आज्ञा दीजिए, मैं क्या कहूँ ? तब गुरु कहे – **'वंदित्ता पवेयह'** वन्दन करके प्रवेदित करो।

3. तदनन्तर शिष्य तीसरा खमासमण देकर बोलें – **'इच्छकारि तुम्हे अम्हं दिगाइ अणुन्नाओं' 'इच्छामो अणुसट्ठिं'** आपने मुझे दिशादि की अनुमति दे दी है, अब आपके अनुशिष्टि की इच्छा करता हूँ। प्रत्युत्तर में गुरु कहे – **'सम्मं अवधारय अन्नेसिंपि पवेयह'** – इस प्रवर्त्तक पद का सम्यक प्रकार से अवधारण करो तथा अन्य मुनियों में भी इस पद का प्रवर्त्तन करो।

4. फिर शिष्य चौथा खमासमण देकर कहें – **'तुम्हाणं पवेइओ साहूणं पवेएमि'** आपको इस पद ग्रहण के सम्बन्ध में प्रवेदित किया, आज्ञा दीजिए, अब मुनि संघ में इस पद स्वीकार का प्रवेदन करता हूँ।

5. फिर शिष्य पांचवाँ खमासमण देकर एक-एक नमस्कार मन्त्र का स्मरण करते हुए गुरु और समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दें।

6. उसके बाद पुन: खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन करके कहें – **'तुम्हाणं पवेइओ, साहूणं पवेइओ संदिसह काउस्सग्गं करेमि'** मैं आपको सम्यक् प्रकार से इस पद सम्बन्धी जानकारी दे चुका हूँ, मुनि संघ में भी इस कार्य की सूचना दे चुका हूँ, अब आपकी अनुमति पूर्वक कायोत्सर्ग करता हूँ।

7. तदनन्तर सातवें खमासमण के द्वारा वन्दन कर **'दिगाइ अणुजाणावियं करेमि काउस्सग्गं'** अन्नत्थसूत्र बोलकर एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र कहें।

मन्त्रदान – फिर शुभ लग्न का समय आ जाने पर गुरु शिष्य के दाहिने कर्ण में निम्न मन्त्र को तीन बार सुनाएं–

''ॐ नमो अरिहंताणं ॐ नमो सिद्धाणं ॐ नमो आयरियाणं ॐ नमो उवज्झायाणं ॐ नमो लोएसव्वसाहूणं ॐ नमो अरिहओ भगवओ महइ महावीर वद्धमाणसामिस्स सिज्झउ मे भगवई महई महाविज्जा वीरे-वीरे महावीरे जयवीरे सेणवीरे वद्धमाणवीरे जए विजए जयंते अपराजिए अणिहए ॐ ह्रीं स्वाहा।''

इसके पश्चात गुरु शिष्य का नया नामकरण करें। तदनन्तर कनिष्ठ चतुर्विध संघ उन्हें वन्दन करें। फिर गुरु नूतन प्रवर्त्तक को गच्छानुरूप अनुशिक्षण दें। उस दिन गुरु-शिष्य दोनों आयंबिल का प्रत्याख्यान करें।

तुलनात्मक विवेचन

यदि प्रवर्त्तक पदस्थापना विधि का प्रामाणिक आधार ढूंढा जाए तो इसका उल्लेख एक मात्र प्राचीनसामाचारी में प्राप्त होता है। इस सामाचारी में रचयिता आदि किसी का भी सूचन न होने से इसका निश्चित काल कह पाना मुश्किल है। अनुमानत: यह ग्रन्थ विक्रम की 9वीं-10वीं शती का होना चाहिए। इससे पूर्ववर्ती एवं परवर्ती वैधानिक ग्रन्थों में लगभग विधि उल्लिखित नहीं है अत: इस ग्रन्थ के अनुसार तुलनात्मक विशिष्टताएँ इस प्रकार हैं –

1. प्राचीनसामाचारी के कर्त्ता ने प्रवर्त्तक पदस्थापना-विधि को उपाध्याय पदस्थापना के तुल्य सम्पन्न करने का दिशा निर्देश किया है और साथ ही उपाध्याय पदस्थापना से भिन्न किये जाने योग्य कृत्यों का भी सूचन किया है। उसमें मुख्य दो अन्तर बताए हैं–

- उपाध्याय को आसन दिया जाता है, प्रवर्त्तक को नहीं।
- उपाध्याय एवं प्रवर्त्तक दोनों को वर्धमानविद्या मन्त्र सुनाया जाता है, परन्तु प्रवर्त्तक को यह मन्त्र कुछ शाब्दिक अन्तर के साथ सुनाया जाता है इस प्रकार इसमें दो तरह के मन्त्रों का उल्लेख है।

2. प्राचीनसामाचारी में वर्णित इस विधि के संकेतानुसार प्रवर्त्तक को दिशादि की अनुज्ञा दी जाती है।

3. प्रवर्त्तक को नन्दी पाठ नहीं सुनाया जाता है, किन्तु उपाध्याय की तरह नया नामकरण अवश्य करते हैं।

4. प्राचीनसामाचारी के निर्देशानुसार प्रवर्त्तक पदस्थापना के दिन गुरु एवं शिष्य दोनों आयंबिल का तप करते हैं। यहाँ गुरु द्वारा तपोनुष्ठान करने का जो निर्देश है, वह सामाचारीबद्ध प्रतीत होता है।

यदि पूर्व कथित परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में इसका समाकलन करें तो प्राप्त जानकारी के अनुसार जैन धर्म की श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं में प्रवर्त्तक पद लुप्त हो गया है यद्यपि स्थानकवासी सम्प्रदाय में आज भी यह पद प्रवर्त्तित है। वर्तमान में एक मात्र इसी सम्प्रदाय में इस पद का महत्त्व देखा

जाता है। डॉ. सागरमल जैन के निर्देशानुसार स्थानक संघ में प्रवर्त्तक पदस्थापना की अति संक्षिप्त विधि होती है। मुख्यतया चतुर्विध संघ की अनुमति से नूतन प्रवर्त्तक को चद्दर ओढ़ायी जाती है। इससे पूर्व उस संघ के अधीनस्थ साध्वीवर्ग द्वारा चद्दर का स्पर्श कर ओढ़ाने की भावाभिव्यक्ति की जाती है फिर गुरु सहित सभी मुनिगण मिलकर उन्हें चद्दर ओढ़ाते हैं। गुरु या ज्येष्ठ मुनि 'अमुक मुनि को प्रवर्त्तक पद पर स्थापित किया जा रहा है' ऐसी उद्घोषणा करते हैं।

यदि समीक्षात्मक दृष्टिकोण से कहा जाए तो तपागच्छ परम्परा में प्रवर्तित पंन्यासपद को प्रवर्त्तकपद के समकक्ष या उसका प्रतीरूप मान सकते हैं। प्राच्यविद्या के मर्मज्ञ डॉ. सागरमलजी जैन द्वारा भी यही अनुमानित किया गया है कि पंन्यासपद प्रवर्त्तकपद का परिवर्तित रूप है। इस अवधारणा को इस कथन से भी सत्य प्रमाणित कर सकते हैं कि विक्रम की 16वीं-17वीं शती तक उपलब्ध ग्रन्थों में लगभग पंन्यास विधि का उल्लेख नहीं मिलता है, अत: पन्यासपद प्रवर्त्तकपद का दूसरा रूप हो, यह सम्भव है।

वैदिक एवं बौद्ध-परम्परा में इस तरह के कोई संकेत या उल्लेख जानने को नहीं मिले हैं अस्तु, प्रवर्त्तक पद का अभाव है।

उपसंहार

शासनाधीश श्रमण भगवान महावीर की आदर्शमूलक परम्परा में प्रवर्त्तक का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इस पद के माध्यम से आचार्य द्वारा निर्वहन करने योग्य उत्तरदायित्वों का सम्यक् संचालन होता है। कारण कि प्रवर्त्तक उनके द्वारा करणीय कार्यों में विशेष सहयोगी होते हैं।

प्रवर्त्तक द्वारा श्रमण संघ की प्रत्येक गतिविधि का पूर्ण ध्यान रखा जाता है। इस पद के माध्यम से साधु-साध्वी संघ को चारित्रनिष्ठ, तपोनिष्ठ एवं सामाचारीनिष्ठ बनाने का प्रयत्न किया जाता है इससे इस पद की सार्वकालिक उपादेयता सिद्ध होती है।

प्रवर्त्तक की अपनी विशिष्टता होती है कि वह संघस्थ मुनियों की योग्यता और रूचि के अनुसार उन्हें तथाविध क्रियानुष्ठान में संलग्न कर देता है।

यह सत्य है कि गच्छ-समुदाय में जितने साधु-साध्वी होते हैं वे सभी

साधना-मार्ग पर आरूढ़ तो होते हैं, किन्तु प्रत्येक की रूचि एवं योग्यता भिन्न-भिन्न होती है। कोई मुनि ध्यान साधना का इच्छुक होता है तो कोई ज्ञान-साधना में मग्न रहना चाहता है। किसी की रूचि सेवा कार्य में रहती है तो किसी का उत्साह तपोनुष्ठान में रहता है इस प्रकार जो मुनि जिस सद्नुष्ठान के प्रति रूचिवन्त, उद्यमवन्त एवं उपयोगवन्त हैं उन्हें उस कार्य के लिए उत्प्रेरित करते हुए गुरुतर दायित्व का सफल नियोजन करते हैं।

व्यवहारभाष्य में आचार्य, उपाध्याय आदि पदवीधरों के तुल्य इसे महत्त्व दिया गया है। भाष्यकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिस गच्छ में आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक, प्रवर्त्तक और स्थविर इन पाँचों में से कोई एक नहीं हो, उस गच्छ में नहीं रहना चाहिए। इनके न होने से पाँच दोष उत्पन्न होते हैं 1. **अशुभ** – मृतक की परिष्ठापन-विधि आदि में कठिनाई होती है। 2. **सेवा अभाव** – ग्लान आदि मुनियों की सेवा-व्यवस्था का अभाव हो जाता है। 3. **परिज्ञा** – अनशनधारी की समाधि में बाधा होती है। 4. **कुल**-संघ, गण आदि के आवश्यक कार्यों में विक्षेप होता है। 5. **आलोचना** – प्रायश्चित्त के अभाव में सशल्यमरण से चारित्र हानि होती है।[15]

समाहारतः प्रवर्त्तक गच्छबद्ध एवं शक्ति सम्पन्न मुनियों को यथाविध क्रिया कलापों से संयुक्त करता है तथा जो साधक न्यून क्षमतावान हैं और उन्हें किसी कार्य को करने में बाधा उपस्थित हो रही हो तो उसे उस कार्य से निवृत्त कर उसकी सामर्थ्यतानुसार अनुकूल कार्य में नियुक्त करता है।

सन्दर्भ-सूची

1. *आयरिए वा उवज्झाए वा, पवित्ती वा थेरे वा*
   गणी वा गणहरे वा, गणावच्छेइए वा ......।

   (क) आचारचूला, 1/130 की टीका

   ज्ञानादीनामविराधनां कुर्वन यो गच्छं परिवर्धयति स गणधरः।

   (ख) व्यवहारभाष्य, 1375 की टीका

2. *बृहत हिन्दी-कोश, पृ. 859*
3. *पाइयसद्दमहण्णवो, पृ. 574.*

4. तव-नियम-विनयगुणनिहि, पवत्तगा नाण-दंसण-चरित्ते।
संगहुवग्गहकुसला, पवत्ति एतारिसा होंति।।
संजम-तव-नियमेसुं, जो जोग्गो तत्थ तं पवत्तेति।
असहू य नियत्तेती, गणतत्तिल्ला पवत्तीओ।।

व्यवहारभाष्य, गा. 958-959.

5. प्रशस्तयोगेषु साधून प्रवर्त्तयतीति प्रवर्त्तकः।

अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 5, पृ. 778.

6. धर्मे विषीदतां प्रोत्साहके ....।

व्यवहारसूत्र, उद्देश 1 की टीका

7. गणे प्रवृत्तिनिवृत्ति विधायके .... ।

अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 5, पृ. 778.

8. तप-संयमयोगेषु, योग्यं योहि प्रवृत्तयेत।
निवृत्तयेद योग्यं च, गणचिन्ती प्रवर्त्तक।।

धर्मसंग्रह, अधिकार 3, गा. 143.

9. प्राचीनसामाचारी, पृ. 26,27,28.
10. आचारचूला, संपा. मधुकरमुनि, 2/1/10/399.
11. वही, 2/3/460.
12. ठाणं, मुनि नथमल, 3/362.
13. व्यवहारभाष्य, गा. 959
14. प्राचीनसामाचारी, पृ. 28
15. व्यवहारभाष्य, गा. 920-921.

अध्याय-4

स्थविर पदस्थापना विधि का पारम्परिक स्वरूप

जिनशासन में स्थविर का गौरवपूर्ण स्थान माना गया है। कुछ आचार्यों ने स्थविर को भगवान की उपमा से अलंकृत किया है जैसे 'थेरा भगवन्तो' और किसी ग्रन्थ में इसे गणधर भी कहा गया है जैसे 'थेरागणहरा।' यहाँ गणधर के लिए प्रयुक्त 'स्थविर' विशेषण उनके गम्भीर श्रुतज्ञान की अभिव्यक्ति के उद्देश्य से है, विवेच्य पद के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

आचार्य देवेन्द्रमुनि के मतानुसार स्थविर न्यायाधीश के तुल्य होता है। वह संघीय सभी समस्याओं का समुचित रूप से निराकरण करता है। उसके द्वारा निर्दिष्ट निर्णय आचार्य को भी मान्य होते हैं। जब कभी संघीय सम्मेलन या विशिष्ट धर्मसभाएँ होती हैं और आचार्य किसी कारणवश उनमें सम्मिलित नहीं हो पाते, तब आचार्य के प्रतिनिधि के रूप में स्थविर को ही भेजा जाता है।[1] वह छेदसूत्र का ज्ञाता एवं परिपक्व अनुभवी होने के कारण उत्सर्ग और अपवाद मार्ग के अनुसार सम्यक् निर्णय प्रस्तुत कर सकने में समर्थ होता है।

स्थविर शब्द का अर्थ एवं परिभाषाएँ

स्थविर-थविर का संस्कृत रूप है। सामान्य रूप से स्थविर 'वृद्ध' अर्थ में व्यवहृत है। प्राकृत[2] एवं संस्कृतकोश[3] में भी यही अर्थ भाषित है। जैन विचारकों ने वय की दृष्टि से ही नहीं, अपितु अनुभव और ज्ञान की दृष्टि से भी वृद्धत्व को स्वीकार किया है। स्थानांगसूत्र में इसी हेतु से तीन प्रकार के स्थविर कहे गए हैं–

1. वय: स्थविर 2. श्रुत स्थविर और 3. पर्याय स्थविर। स्पष्ट है कि वय, श्रुत एवं अनुभव से परिपक्व मुनि स्थविर कहलाता है। जैन-साहित्य में स्थविर के सम्बन्ध में अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं-

- ओघनिर्युक्ति के अनुसार जो मुनि ज्ञान आदि की आराधना में अवसन्न (खेद ग्रस्त) हो गया है उसे तद्योग्य क्रियाओं में स्थिर करने वाला स्थविर कहलाता है।[4]

• आवश्यकनिर्युक्ति के निर्देशानुसार जो श्रमण प्रवर्त्तक द्वारा नियोजित कार्य में समर्थ होते हुए भी शिथिल हो जाता है तो स्थविर उसे पुनः स्थिर करता है।[5]

• उत्तराध्ययनटीका में कहा गया है कि जो धर्म में अस्थिर है उनको धर्म में स्थिर करने वाला स्थविर कहलाता है।[6]

• कल्पसूत्रटीका के मतानुसार जो स्वयं ज्ञान, दर्शन, चारित्र में स्थिर होता है और दूसरों को उनमें स्थिर करता है, जिसका मन साधना मार्ग से बहुत बार विचलित हो चुका है उसे पुनः साधना में स्थित करता है और जो शिथिल मन वाले मुनियों को उद्यमवन्त बनाते हुए विशेष रूप से संयम में स्थिर करता है वह स्थविर कहलाता है।[7]

• व्यवहारभाष्य में स्थविर का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि स्थविर वैराग्यवान, मृदु और प्रियधर्मा होता है। जो साधु ज्ञान-दर्शन-चारित्र सम्बन्धी किसी भी अनुष्ठान को छोड़ देता है अथवा प्रवर्त्तक निर्युक्त कार्य को शक्ति होते हुए भी खेद चित्त पूर्वक करता है ऐसे मुनियों को स्थविर स्मारणा, प्रेरणा एवं प्रशिक्षण द्वारा पुनः संयम योगों में स्थिर करता है इसलिए वह स्थविर कहलाता है।[8]

• प्रवचनसारोद्धार की टीकानुसार जो श्रमण लौकिक एषणा के वशीभूत होकर सांसारिक क्रिया-कलापों में प्रवृत्त है तथा संयम साधना एवं ज्ञानाराधना में कष्ट का अनुभव करते हैं उन्हें इहलोक-परलोक की हानि बताकर संयम-योग में स्थिर करते हैं, वे स्थविर कहलाते हैं।[9]

सार रूप में समुदायवर्ती एवं सहवर्ती साधु-साध्वियों को संयम धर्म में सम्यक् उपदेश एवं वात्सल्य भाव द्वारा स्थित रखने वाला पदस्थ मुनि स्थविर कहलाता है।

स्थविर के मुख्य प्रकार

स्थानांगसूत्र में तीन प्रकार के स्थविर उपदिष्ट हैं, इन्हें तीन स्थविर भूमियाँ कहा गया है। स्थविर भूमि का अर्थ है – स्थविर स्थान और स्थविर काल। व्यवहारभाष्य में स्थविर भूमि, स्थविर स्थान और स्थविर काल (स्थविरअवस्था) को समानार्थी कहा गया है।[10] स्थविर के तीन प्रकार निम्न हैं –

1. जाति (वय) स्थविर – साठ वर्ष की उम्र वाला श्रमण जाति स्थविर कहा जाता है। भाष्यकार ने सत्तर और उससे अधिक वर्षों की वय वाले को वयः स्थविर कहा है।

2. श्रुत स्थविर – आचारांग आदि चार अंग, चार छेद, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और आवश्यकसूत्र को अर्थ सहित कण्ठस्थ करने वाला श्रमण श्रुत स्थविर कहलाता है।

3. पर्याय स्थविर – बीस वर्ष या उससे अधिक की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण पर्याय स्थविर कहा गया है।[11]

स्थानांगसूत्र में स्थविर के दस प्रकार प्रतिपादित हैं – 1. ग्राम स्थविर 2. नगर स्थविर 3. राष्ट्र स्थविर 4. प्रशास्ता स्थविर 5. कुल स्थविर 6. गण स्थविर 7. संघ स्थविर 8. जाति स्थविर 9. श्रुत स्थविर और 10. पर्याय स्थविर।[12]

ग्राम, नगर और राष्ट्र की व्यवस्था करने वाले बुद्धिमान, लोकमान्य और शक्तिसम्पन्न मुनियों को क्रमशः ग्राम स्थविर, नगर स्थविर और राष्ट्र स्थविर कहा जाता है। धर्मोपदेशक प्रशास्ता स्थविर कहलाता है। कुल, गण और संघ – ये तीनों शासन की इकाइयाँ रही हैं। सर्वप्रथम कुल की व्यवस्था थी। उसके पश्चात गणराज्य और संघराज्य की व्यवस्था प्रचलित हुई। इसमें जिस व्यक्ति पर कुल आदि की व्यवस्था का दायित्व होता है वह क्रमशः कुल स्थविर, गण स्थविर, संघ स्थविर कहलाता है। यह लौकिक व्यवस्था का पक्ष है। शेष तीन लोकोत्तर पक्ष में अन्तर्निहित है। वृत्तिकार ने सूचित किया है कि कुल, गण और संघ की व्याख्या लौकिक और लोकोत्तर दोनों दृष्टियों से की जा सकती है।[13]

पुनश्च लोकोत्तर व्यवस्था के अनुसार एक आचार्य के शिष्यों को कुल, तीन आचार्य के शिष्यों को गण और अनेक आचार्यों के शिष्यों को संघ कहा जाता है। इनमें जिस मुनि पर शिष्यों में यथार्थ श्रद्धा उत्पन्न करने और विचलित श्रद्धावान को पुनः धर्म में स्थिर करने का दायित्व होता है, वह स्थविर कहलाता है।[14]

स्थविरों के प्रति करणीय कृत्य

पूर्वोल्लेखित त्रिविध स्थविरों के प्रति निश्रावर्ती मुनियों को यथोचित व्यवहार करना चाहिए, इससे ज्ञान वृद्धि एवं चारित्र बल बढ़ता है तथा स्थविरों की दीर्घ परम्परा अविच्छिन्न रहती है।

1. जाति स्थविर के प्रति वैयावृत्य भाव रखना चाहिए। जैसे उनके आहार, उपधि, शय्या और संस्तारक की समुचित व्यवस्था करना। पदयात्रा में उनकी उपधि वहन करना, उचित समय पर पानी पिलाना आदि व्यवहार रखना चाहिए।

2. श्रुत स्थविर के प्रति भक्ति रखना चाहिए। जैसे उनके अभिप्राय अनुसार वर्तन करना, उनके योग्य आहार लाकर देना, उनकी प्रशंसा करना, गुणोत्कीर्त्तन करना, उनके समक्ष नीचे आसन पर बैठना और उनके निर्देश की अनुपालना करना आदि का वर्त्तन करना चाहिए।

3. पर्याय स्थविर दीक्षा पर्याय में ज्येष्ठ होते हैं अतः उनका बहुमान करने हेतु उनके आने पर खड़े होना, उनके हाथ से दण्ड ग्रहण करना आदि करना चाहिए।[15]

स्थविर मुनि जिन शासन के लिए ऋद्धि रूप होते हैं अतः उनका तिरस्कार, अभक्ति आदि करने से विराधना होती है और गुरु चौमासी का प्रायश्चित्त आता है।

स्थविर स्थविरकल्प स्थविरकल्पी का स्वरूप

स्थविर – गच्छ में वास करने वाले साधुओं का एक प्रकार।

निशीथचूर्णि के अनुसार गच्छ में पाँच प्रकार के श्रमण होते हैं - आचार्य, वृषभ (उपाध्याय/अभिषेक), भिक्षु, स्थविर और क्षुल्लक।[16] इनमें एक स्थविर नाम भी है।

स्थविरकल्प – संघबद्ध साधना करने वाले श्रमण-श्रमणी वर्ग की आचार मर्यादा जैसे– नवकल्पी विहार करना, शय्यातर आहार का वर्जन करना, प्रमाणोपेत उपधि रखना आदि स्थविरकल्प कहलाता है।

स्थविरकल्पी – संघबद्ध या गच्छबद्ध होकर संयम धर्म की साधना करने वाले श्रमण-श्रमणी स्थविरकल्पी कहलाते हैं। बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार जो संयमी पृथ्वीकाय संयम आदि सतरह प्रकार के संयम का यथावत पालन करते हैं, अर्हत वाणी के द्वारा शासन प्रभावना करते हैं, सूत्र पौरूषी और अर्थ पौरूषी द्वारा संयम को उद्योतित करते हैं, शिष्यों को ज्ञान, दर्शन और चारित्र में निष्पन्न करते हैं, ज्ञानादि की परम्परा को अविच्छिन्न रखते हैं, जंघाबल आदि क्षीण होने पर वृद्धावास करते हैं, वे स्थविरकल्पी होते हैं।[17]

इस प्रकार गच्छ से आबद्ध होते हुए विशिष्ट मर्यादा का पालन करने वाले स्थविर, गच्छबद्ध आचार-संहिता का पालन करना स्थविर कल्प और गच्छ विशेष में वास करने वाले स्थविर कल्पी कहे जाते हैं। वस्तुतः ये तीनों शब्द एक-दूसरे के सम्पूरक हैं। स्थविर मुनि में स्थविर कल्प और स्थविर कल्पी दोनों

का अन्तर्भाव हो जाता है। स्थविरकल्पी गच्छवासी होते हैं। स्थविरकल्प सम्बन्धी विस्तृत चर्चा संल्लेखना-विधि के अधिकार में करेंगे।

स्थविर पदग्राही के लिए आवश्यक योग्यताएँ

स्थविर पद पर आरूढ़ होने वाला श्रमण किन विशेषताओं से समन्वित होना चाहिए? इसकी स्वतन्त्र चर्चा तो दृष्टिगत नहीं होती है, परन्तु पूर्वोल्लिखित परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि वह सफल नियोजक, रत्नत्रय का सम्यक् अनुपालक, वैराग्योत्पादक शक्ति सम्पन्न, मधुर स्वभावी, धर्मरत एवं उपदेशकुशल होना चाहिए।

प्राचीनसामाचारी के उल्लेखानुसार आचार्य पदस्थापना के लिए निर्दिष्ट मुहूर्त्त के उपस्थित होने पर स्थविरपद की अनुज्ञा विधि भी कर सकते हैं क्योंकि इस विधि को भी आचार्यपदानुज्ञा की भांति सम्पन्न करने का निर्देश है। यद्यपि कुछ नियम भिन्न भी हैं तथापि अधिकांश क्रिया-विधि आचार्य स्थापना के समान ही की जाती है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि आचार्यपदानुज्ञा करने वाले गुरु के द्वारा ही स्थविरपद की अनुज्ञा की जानी चाहिए।

स्थविर पदस्थापना विधि का ऐतिहासिक अनुशीलन

जो संयम पतित साधकों को पुन: संयम धर्म में स्थिर करता है वह स्थविर कहा जाता है।

जैन इतिहास में स्थविर का स्वरूप कहाँ, किस रूप में प्राप्त है? इस दृष्टिकोण से अनुसन्धान किया जाए तो तद्विषयक विवेचन आचारचूला, स्थानांग, समवायांग, ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपाति दशा, विपाक, व्यवहार आदि में निम्नानुसार परिलक्षित होता है।

आचारचूला में भिक्षाचरी मुनि के द्वारा आहार ले आने के पश्चात सहवर्ती मुनियों में उसे वितरित करने हेतु अनुज्ञा लेने के उद्देश्य से स्थविर शब्द का उल्लेख है। यहाँ सात पदस्थों के नामों में स्थविर को चौथा स्थान दिया गया है। इसी तरह शय्या संस्तारक हेतु प्रतिलेखना, विहार यात्रा आदि के सन्दर्भ में भी स्थविर शब्द उल्लिखित है।[18]

स्थानांगसूत्र में देवता द्वारा मनुष्य लोक में आने के कारणों में से एक कारण स्थविर आदि पदस्थ मुनियों को पूर्व भव के परम उपकारी होने से उन्हें

वन्दन करना बतलाया है। इसी तरह तीन प्रत्यनीकों में स्थविर प्रत्यनीक का नाम भी निर्दिष्ट है।[19]

अन्तकृतदशासूत्र में अन्धकवृष्णि के पुत्र गौतम अनगार द्वारा अरिष्टनेमि भगवान के सान्निध्य में रहने वाले, आचार-विचार की उच्चता को पूर्णतया प्राप्त स्थविरों के पास सामायिक से लेकर आचारांग आदि 11 अंगों के अध्ययन करने का वर्णन प्राप्त है।[20]

अनुत्तरोपपातिकदशा में पंचम गणधर सुधर्मा स्वामी को स्थविर शब्द से सम्बोधित किया गया है।[21]

विपाकसूत्र में उज्झितककुमार, अंजूदेवी आदि के द्वारा स्थविरों के पास शंका-कांक्षा आदि दोषों से रहित होकर बोधिलाभ प्राप्त किया जाएगा। तदनन्तर प्रव्रज्या ग्रहण कर सौधर्म देवलोक में उत्पन्न होंगे और अन्ततः सर्व कर्मों का क्षय कर सिद्धत्व पद को प्राप्त करेंगे, ऐसा उल्लेख है।[22]

उक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि मूल आगमों में स्थविर का उल्लेख मुख्यतया उनके महत्त्व को दर्शाने के रूप में हुआ है। इसके अतिरिक्त स्थविर सम्बन्धी कोई वर्णन नहीं है।

इससे आगे छेद सूत्रों को पढ़ते हैं तो व्यवहारसूत्र में स्थविर के प्रकारों की चर्चा प्राप्त होती है[23] और निशीथसूत्र में उनकी विराधना के फलस्वरूप प्रायश्चित्त का विधान बतलाया गया है।

इसी क्रम में आगमिक व्याख्या साहित्य का अध्ययन करते हैं तो आवश्यकनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति टीका, उत्तराध्ययन टीका आदि में स्थविर के विभिन्न अर्थ एवं उनके प्रति करने योग्य कृत्यों का विवेचन प्राप्त होता है। इस तरह आगम युग से व्याख्या काल (विक्रम की 8वीं शती) तक स्थविर पद का सामान्य वर्णन ही उपदर्शित होता है।

इसके अनन्तर लगभग 9वीं-10वीं शती का एक मात्र ग्रन्थ सामाचारी प्रकरण (प्राचीन सामाचारी) में स्थविर पदस्थापना की विधि दृष्टिगत होती है। यह इस पदस्थापन विधि का आदिम-अन्तिम ग्रन्थ भी कहा जा सकता है। क्योंकि इससे परवर्ती साहित्य में प्रस्तुत विधि लगभग प्राप्त नहीं होती है।

उक्त ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर यह माना जा सकता है कि पूर्वकाल में भी स्थविर पद का विधिवत आरोपण किया जाता था और तीव्र क्षयोपशम

काल तक यह प्रक्रिया गुरु शिष्य में आदान-प्रदान के रूप में ही प्रवर्तित थी। यही वजह है कि विशेष स्पष्टीकरण आगमेतर ग्रन्थों में उपलब्ध होता है क्योंकि कलिकाल में स्मृति ह्रास होने के कारण उन्हें पुस्तकारूढ़ करना आवश्यक हो गया था।

स्थविर पदस्थापना विधि

प्राचीनसामाचारी में निर्दिष्ट स्थविर पदस्थापना की विधि इस प्रकार है[24]–

वासदान – सर्वप्रथम स्थविर पदग्राही शिष्य का परीक्षण करें। उसके बाद श्रेष्ठ दिन में जिनालय या नन्दी रचना के समीप स्थापनाचार्य एवं गुरु के लिए दो आसन बिछाएं। फिर स्थापनाचार्य को तद्योग्य आसन पर स्थापित करें। फिर स्थविर पददाता गुरु पूर्व स्थापित आसन पर बैठकर सुगंधित चन्दन चूर्ण को अधिवासित करें। फिर स्थविर पदानुज्ञा निमित्त लोचकृत शिष्य के उत्तमांग (मस्तक) पर उसका क्षेपण करें।

देववन्दन – तदनन्तर नौ स्तुतियों एवं कायोत्सर्ग पूर्वक देववन्दन करें। सर्वप्रथम जिनमें उच्चारण और अक्षर क्रमश: बढ़ते हुए हों, ऐसी चार स्तुतियाँ बोलें, फिर शान्तिनाथ भगवान, द्वादशांगी देवता, क्षेत्रदेवता, शासनदेवता एवं वैयावृत्यकारक देवता की स्तुतियाँ बोलें। यहाँ शान्तिनाथ की आराधना निमित्त एक लोगस्ससूत्र एवं शेष में एक-एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करें। शेष विधि प्रवर्त्तक पदस्थापना की भाँति करनी चाहिए।

कायोत्सर्ग – तत्पश्चात स्थविर पदग्राही एक खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन करें। फिर पद दाता गुरु और पदग्राही शिष्य दोनों ही स्थविरपद की अनुज्ञा देने-लेने के निमित्त एक लोगस्स (सागरवरगंभीरा तक) का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें।

अनुज्ञापन – 1. उसके पश्चात शिष्य एक खमासमण देकर कहे – **'इच्छकारि भगवन्! तुम्हे अम्हं दिगाइ अणुजाणह'** हे भगवन् ! आप अपनी स्वेच्छा से मुझे दिशादि (विचरण आदि) की अनुमति दें। तब गुरु बोलें – **'अहमेअस्स साहुस्स खमासमणाणं हत्थेणं दिगाई अणुजाणामि'** पूर्वाचार्यों द्वारा आचरित परम्परा का अनुसरण करते हुए मैं इस मुनि के लिए दिशा आदि की अनुज्ञा देता हूँ।

2. शिष्य दूसरा खमासमण देकर कहें – **'संदिसह किं भणामि?'** आज्ञा

दीजिए, मैं क्या कहूं ? तब गुरु कहे – **'वंदित्ता पवेयह'** वन्दन करके प्रवेदित करो।

3. शिष्य तीसरी बार खमासमणसूत्र द्वारा वन्दन कर कहें – **'इच्छकारि तुम्हे अम्हं दिगाइ अणुन्नाओ' इच्छामो अणुसट्ठिं** आपने मुझे दिशादि की अनुमति दे दी है? अब आपके अनुशिक्षण की इच्छा रखता हूँ। प्रत्युत्तर में गुरु कहें – **'सम्मं अवधारय, अन्नेसिंपि पवेयह'** इस स्थविर पद का सम्यक् रूप से अवधारण करो तथा अन्य मुनियों में भी इस पद का प्रवर्त्तन करो।

4. फिर स्थविर पदग्राही चौथा खमासमण देकर कहें – **'तुम्हाणं पवेइओ साहूणं पवेएमि'** आपको इस पद ग्रहण के सम्बन्ध में सूचित किया, अब मुनि संघ में इस पद स्वीकार की सूचना देता हूँ।

5. फिर शिष्य पांचवाँ खमासमण देकर एक-एक नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हुए गुरु और समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दें।

6. फिर शिष्य पुनः खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन कर कहें – **'तुम्हाणं पवेइओ, साहूणं पवेइओ संदिसह काउस्सग्गं करेमि'** मैंने आपको इस पद की सम्यक जानकरी दे दी है, मुनि संघ (चतुर्विध संघ) में भी इसकी सूचना दे चुका हूँ, अब आपकी अनुमति पूर्वक कायोत्सर्ग करता हूँ।

7. तदनन्तर सातवां खमासमण देकर **'दिगाइ अणुजाणावणियं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थसूत्र'** बोलकर एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र कहें।

मन्त्रदान – फिर शुभ लग्न का समय आ जाने पर गुरु शिष्य के दाहिने कर्ण में इस मन्त्र को तीन बार सुनाएँ –

''ॐ नमो अरिहंताणं ॐ नमो सिद्धाणं ॐ नमो आयरियाणं ॐ नमो उवज्झायाणं ॐ नमो लोए सव्व साहूणं, ॐ नमो अरिहओ भगवओ महइ, महावीर वद्धमाणसामिस्स सिज्झउ मे भगवई महई महाविज्जा वीरे-वीरे महावीरे जयवीरे सेणवीरे वद्धमाणवीरे जए विजए जयंते अपराजिए अणिहए ॐ ह्रीं स्वाहा।''

शेष विधि – इसके पश्चात गुरु शिष्य का नया नामकरण करें। तदनन्तर कनिष्ठ साधु एवं साध्वियाँ आदि चतुर्विध संघ उन्हें वन्दन करें। उसके बाद गुरु नूतन स्थविर मुनि को गच्छ हितकारी शिक्षा दें। उस दिन गुरु-शिष्य दोनों आयंबिल का प्रत्याख्यान करें।

तुलनात्मक विवेचन

स्थविर पदस्थापना-विधि के तुलनात्मक विवेचन हेतु इतना कह देना आवश्यक है कि इस विधि का स्वरूप एक मात्र सामाचारीप्रकरण (प्राचीन सामाचारी) में उपलब्ध है। यह किसी पूर्वधर आचार्य की रचना होनी चाहिए। इसके रचयिता एवं रचनाकार के बारे में स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं है, फिर भी इसकी भाषा आदि के अनुमान से इसे विक्रम की 9वीं-10वीं शती का ग्रन्थ कह सकते हैं।

जब हम सामाचारीप्रकरण के अनुसार इस विधि की तुलना करते हैं तो पूर्व निर्दिष्ट प्रवर्त्तक पदस्थापना विधि के सदृश ही स्थविरपदानुज्ञा की मौलिकताएँ नजर आती है, क्योंकि इस ग्रन्थ के अनुसार स्थविरपदानुज्ञा की विधि प्रवर्तकपदानुज्ञा के समान ही सम्पन्न की जाती है। अतएव ग्रन्थ की अपेक्षा से तुलनीय विशिष्टताएँ पूर्ववत ही समझें।

यदि पूर्वकथित परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत विधि का अनुशीलन किया जाए तो प्राप्त जानकारी के अनुसार वर्तमान में जैन धर्म की स्थानकवासी आम्नाय को छोड़कर श्वेताम्बर-दिगम्बर किसी परम्परा में स्थविर पद प्रचलित नहीं है, अत: यह विधि विच्छिन्न हो गयी है। स्थानकवासी परम्परा में दो वर्ष पूर्व ही पूज्य राममुनिजी को आचार्य पद पर स्थापित करने से पहले उनसे ज्येष्ठ पाँच मुनियों को स्थविर पद प्रदान किया गया था। इस प्रकार स्थानक परम्परा में स्थविर पद जीवन्त है। वैदिक ग्रन्थों में तत्सम्बन्धी कोई उल्लेख पढ़ने में नहीं आया है। बौद्ध-साहित्य में भिक्षुणी के पदों का स्पष्ट विवेचन हैं जिनमें स्थविर पद भी है। इस अपेक्षा से स्थविर पद भी होना चाहिए।

उपसंहार

सामान्यतया वय, श्रुत या पर्याय से वृद्ध श्रमण-श्रमणी स्थविर कहलाते हैं। जो श्रमण स्थविर योग्य हो जाता है उसे विधिपूर्वक स्थविर पद पर स्थापित किया जाता है। स्थविर पदस्थ का मुख्य कर्त्तव्य आत्मोन्नति के साथ संघोत्कर्ष करना है।

अहिंसक होना, समिति का पालन करना, स्वाध्याय आदि करना ये सभी कार्य संयमी जीवन की उन्नति के लिए आवश्यक हैं। ये आराधनाएँ आत्मोत्कर्ष

एवं संघोन्नति की मंगलमय भावना से की जाती है, किन्तु कुछ साधक, जो अस्थिर एवं चंचल चित्त वाले होते हैं उन्हें आवश्यक क्रियाएँ करना कष्टप्रद महसूस होता है। उस समय स्थविर द्वारा उसे विविध उक्तियां देकर समझाया और स्थिर किया जाता है। इस तरह स्थविर पद के माध्यम से संघ का हित एवं चारित्र धर्म की अभिवृद्धि होती है। यही इस पद की उपादेयता भी सिद्ध होती है।

सन्दर्भ-सूची

1. *जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 499*
2. *पाइयसद्दमहण्णवो, पृ. 448*
3. *संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 1359*
4. *स्थविरो- यः सीदन्तं ज्ञानादौ स्थिरीकरोति।*

   ओघनिर्युक्तिटीका, पृ. 61
5. *थिरकरणा पुण थेरो, पवित्ति वावारिएसु अत्थेसु।*
   जो तत्थ सीयई जई, सतवलो तं थिरं कुणइ ।।

   आवश्यकनिर्युक्ति अवचूर्णि, उद्धृत- जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 498
6. *धर्मेऽस्थिरान स्थिरीकरोतीति स्थविरः।*

   उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पृ. 550
7. *थेरो एतेसु चेव, नाणादिसु सीतंतं थिरी करोति, पडिचोदेति, उज्जमंतं अणुवूहति।* *कल्पसूत्रटीका, टिप्पण, पृ. 108*
8. *संविग्गो मद्दवितो, पियधम्मो नाण-दंसण-चरित्ते।*
   जे अट्ठे परिहायति, ते सारेतो हवइ थेरो।।
   थिरकरणा पुण थेरो, पवत्ति वावारितेसु अत्थेसु।
   जो जत्थ सीदति जती, संतबलो तं पचोदेति।।

   व्यवहारभाष्य, 960, 961
9. *प्रवर्तितव्यापारान संयमयोगेषु सीदतः साधून ज्ञानादिषु।*
   ऐहिकामुष्मिकापायदर्शनतः स्थिरीकरोतीति स्थविरः ।।

   प्रवचनसारोद्धार टीका, द्वार-2, पृ. 63
10. *व्यवहारभाष्य, गा. 4597*

11. (क) स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 3/2/187, पृ. 126
    (ख) व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 10/16
12. स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 10/136
13. स्थानांगवृत्ति, पत्र 489
14. स्थानांग (ठाणं), 10/136 का टिप्पण
15. व्यवहारभाष्य, गा. 4598-4601
16. आयरिय वसभ भिक्खू थेरो खुड्डो य।
    निशीथभाष्य, 2624 की चूर्णि
17. बृहत्कल्पभाष्य, 6485, 6486 की टीका
18. आचारचूला, संपा. मधुकरमुनि, 2/1/10/399
19. स्थानांगसूत्र, 3/362
20. अन्तकृतदशासूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 1/8-9
21. अनुत्तरोपपातिकदशासूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 1/1
22. विपाकसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 1/2/25, 1/10/10
23. व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 10/16
24. प्राचीनसामाचारी, पृ. 28

अध्याय-5

गणावच्छेदक पदस्थापना विधि का प्राचीन स्वरूप

गणावच्छेदक श्रमण परम्परा का महत्त्वपूर्ण पद है। श्रमण-संघ का सुव्यवस्थित संचालन करने के उद्देश्य से इस पद की आवश्यकता स्वीकारी गयी है तथा विशाल गच्छों में गणावच्छेदक पदस्थ का होना अनिवार्य है। पूर्वकाल में संघीय अनेकों कार्य गणावच्छेदक द्वारा निष्पादित किये जाते थे।

जैन-साहित्य में गणावच्छेदक के लिए 'गच्छ-वच्छ' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अभिप्राय यह है कि गणावच्छेदक का गच्छ के प्रति अटूट वात्सल्य होता है। वे गण अभिवर्द्धन के लिए विशेष प्रयत्नशील रहते हैं।

गणावच्छेदक मुनि संघ की प्रत्येक अपेक्षाओं को पूर्ण करने में सदैव तत्पर और उद्यमशील होते हैं। इनके द्वारा संघ की आन्तरिक व्यवस्थाओं का दायित्व भी पूर्ण किया जाता है।

गणावच्छेदक शब्द का अर्थ एवं परिभाषाएँ

गण + आवच्छेदक इन दो पदों के संयोग से गणावच्छेदक शब्द निर्मित है। 'गणावच्छेइय' प्राकृत शब्द का संस्कृत शुद्ध रूप गणावच्छेदक है। गण का अर्थ है – समूह, समुदाय, गच्छ, समान आचार-व्यवहार वाले साधुओं का समूह आदि। आवच्छेदक का अर्थ है – समग्र रूप से वात्सल्य रखने वाला अर्थात साधु गण के कार्य की चिन्ता करने वाला साधु गणावच्छेदक कहलाता है।[1]

• स्थानांगटीका में गणावच्छेदक का स्वरूप रूपायित करते हुए कहा गया है कि जो संघ को सहारा देता है, उसे सुदृढ़ बनाने हेतु प्रयत्नशील रहता है तथा मुनि संघ की संयम यात्रा के निर्वहनार्थ एवं तद्हेतु आवश्यक उपकरण के अन्वेषणार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान में विचरण करता है वह गणावच्छेदक कहलाता है।[2]

• व्यवहारभाष्य में गणावच्छेदक को गीतार्थ की संज्ञा दी गयी है।

• भिक्षुआगमकोश के अनुसार जो किसी तरह का संघीय कार्य उत्पन्न होने पर 'यह कार्य मैं करूँगा' इस प्रकार आचार्य से अनुमति प्राप्त कर उस कार्य को शीघ्रता से सम्पादित करता है, क्षेत्र निरीक्षण, उपधि संग्रहण आदि कार्यों में जो खेद नहीं करता तथा सूत्र-अर्थ-तदुभय का ज्ञाता होता है वह गीतार्थ कहलाता है और ऐसा गीतार्थ मुनि ही गणावच्छेदक होता है।[3]

सार रूप में कहें तो संघीय कृत्यों को त्वरा से सम्पन्न करने वाला एवं संयमी साधकों के लिए उपधि आदि उपकरणों का यथोचित सम्पादन करने वाला गणावच्छेदक कहलाता है।

गणावच्छेदक पदग्राही के लिए आवश्यक योग्यताएँ

गणावच्छेदक पद पर नियुक्त करने हेतु शिष्य में कौनसी योग्यताएँ अपेक्षित हैं? किन गुणों से युक्त शिष्य को इस पद पर स्थापित किया जा सकता है? इस विषय में अनुशीलन किया जाए तो एक मात्र व्यवहारसूत्र में इसका समाधान प्राप्त होता है। व्यवहारसूत्र में प्रस्तुत पद के लिए उपयुक्त योग्यताओं के साथ-साथ दीक्षा पर्याय का भी सूचन किया गया है।

आचार्य भद्रबाहु के अनुसार जो शिष्य आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला हो, आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह और उपग्रह आदि में कुशल हो, चारित्राचार का अक्षत, अभिन्न, अशबल एवं असंकलिष्ट रूप से पालन करने वाला हो, बहुश्रुत एवं बहुआगमज्ञ हो, कम से कम स्थानांग-समवायांग सूत्र को अर्थ सहित कण्ठस्थ किया हुआ हो, वह गणावच्छेदक पद के योग्य होता है। यदि आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला मुनि आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह और उपग्रह में सक्षम न हो तथा क्षत, भिन्न, शबल और संक्लिष्ट आचार वाला हो, अल्पश्रुत और अल्प आगमज्ञ हो तो वह गणावच्छेदक पद के अयोग्य होता है, अयोग्य को इस पद पर आरूढ़ करना जिनाज्ञा विरूद्ध है।[4]

आशय यह है कि गणावच्छेदक पदारूढ़ शिष्य न्यूनतम आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय से युक्त तो होना ही चाहिए किन्तु साथ में आचारकुशलता आदि निर्दिष्ट गुणों से भी सम्पन्न होना चाहिए। यदि ये गुण विद्यमान न हों और आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय से पूर्ण हो तब भी उसे यह पद नहीं देना चाहिए क्योंकि दीक्षा पर्याय के साथ-साथ आचार कुशलता आदि गुणों की भी प्रधानता रही हुई है।

ज्ञातव्य है कि आचारकुशल आदि गुणों का विस्तृत विवेचन उपाध्याय पदस्थापना विधि के अन्तर्गत अध्याय-7 में किया जाएगा।

गणावच्छेदक पदस्थापना हेतु शुभ दिन

सामाचारीप्रकरण के संकेतानुसार आचार्य पदस्थापना के लिए अपेक्षित शुभयोग (मुहूर्त्त) के उपस्थित होने पर गणावच्छेदकपद की अनुज्ञा करनी चाहिए। स्पष्टतया जिस शुभमुहूर्त्त में शिष्य को आचार्यपद पर स्थापित किया जाता है उसी श्रेष्ठ मुहूर्त्त में गणावच्छेदकपद की स्थापना विधि सम्पन्न करनी चाहिए।[5] यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि आचार्य पदस्थापक गुरु के द्वारा ही गणावच्छेदकपद की स्थापना की जानी चाहिए।

गणावच्छेदक पदस्थ मुनि को आसन, स्थापनाचार्य, विद्यामण्डलपट्ट आदि नहीं दिये जाते हैं अत: किसी उपकरण या सामग्री की आवश्यकता नहीं रहती है। यदि जिनमन्दिर का अभाव हो अथवा पदोत्सव हेतु अपेक्षित स्थान न हों, तो नन्दी रचना योग्य सामग्री की आवश्यकता रहती है।

गणावच्छेदकपद विधि की ऐतिहासिक विकास यात्रा

जो गण के कार्य के विषय में चिन्तन करता रहता है वह गणावच्छेदक कहलाता है। आगमकारों द्वारा मान्य सात पदों में इसका अन्तिम सातवाँ स्थान है।

प्रश्न होता है कि गणावच्छेदक पद का उद्भव कब, किन उद्देश्यों को लेकर हुआ? पूर्व विवेचन से इसका सामान्यतया समाधान हो जाता है। तदुपरान्त इस सम्बन्ध में विशेष यह कहा जा सकता है कि विशाल गच्छ में सभी तरह के कृत्यों का निष्पादन आचार्य अकेले नहीं कर सकते, भले ही सभी गतिविधियां उनके निर्देशन के अनुसार प्रवर्तित होती हो। परन्तु क्रियान्विति के लिए सक्षम सहयोगी मुनियों का होना अत्यावश्यक है। ऐसी स्थिति में ही गणावच्छेदक जैसे पद का उद्भव होना प्रतीत होता है तथा आचार्य के उत्तरदायित्वों में सहभागी बन उन्हें यथासम्भव सामुदायिक प्रवृत्तियों से निवृत्त रखने का उद्देश्य इसमें अन्तर्निहित रहा होगा।

इस पद का स्वरूप प्रारम्भिक काल से लेकर आज तक किस रूप में विद्यमान है? इस बिन्दु को लेकर यदि इतिहास के पृष्ठों का पर्यवेक्षण करें तो हमें इस पद नाम के उल्लेख तो आगमिक एवं व्याख्यामूलक ग्रन्थों में मिल

जाते हैं, किन्तु तत्सम्बन्धी पदस्थापना की विधि विक्रम की 10वीं-11वीं शती के ग्रन्थ में ही उपलब्ध होती है। व्यवहारसूत्र में गणावच्छेदक पदस्थ मुनि कितने मुनियों के साथ रहने पर विहार कर सकता है? वर्षावास में कितने मुनियों का साथ रहना जरूरी है? गणावच्छेदक पद के योग्य कौन ? इस विषय की चर्चा अवश्य हुई है तथा भाष्यकार ने गणावच्छेदक का स्वरूप भी बतलाया है। इसके अतिरिक्त आचारांग, स्थानांग आदि आगमों में वन्दन, सम्मान, अनुमति ग्रहण आदि सामान्य प्रसंगों को लेकर इसका नामोल्लेख मात्र प्राप्त होता है। इस विषयक सुस्पष्ट पाठांश प्रवर्त्तक एवं स्थविर पदस्थापना-विधि में अवलोकनीय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूलागमों में गणावच्छेदक का नाम निर्देशमात्र है। छेद ग्रन्थों में तद्विषयक आचारबद्ध सामाचारी के नियम प्रतिपादित हैं। व्याख्या साहित्य में स्वरूप आदि का वर्णन है तथा सामाचारीप्रकरण में इसकी प्रचलित विधि का निरूपण है।

गणावच्छेदक पदस्थापना विधि

सामाचारीप्रकरण में वर्णित गणावच्छेदक पदस्थापना-विधि निम्नानुसार है[6]–

वासदान– सर्वप्रथम गणावच्छेदकपद के अनुरूप शिष्य का परीक्षा द्वारा निर्णय करें। उसके पश्चात प्रशस्त मुहूर्त्त के दिन जिनभवन में या नवनिर्मित नन्दी रचना के सन्निकट स्थापनाचार्य को स्थापित करने एवं गुरु के बैठने हेतु दो आसन बिछाएं। फिर स्थापनाचार्य को उचित आसन पर विराजमान करें। गुरु स्वयं के आसन पर बैठकर चन्दन चूर्ण को संस्कारित करें। फिर गणावच्छेदक पदानुज्ञा निमित्त लोच किये हुए शिष्य के मस्तक पर उसका निक्षेप करें।

देववन्दन– तत्पश्चात जिनमें उच्चारण और अक्षर क्रमशः बढ़ते हुए हों, ऐसी चार स्तुतियाँ एवं शान्तिनाथ, द्वादशांगी देवता, श्रुतदेवता, शासनदेवता, वैयावृत्यकारक देवता की आराधना निमित्त प्रत्येक की एक-एक ऐसे कुल नौ स्तुतियों द्वारा (प्रवर्त्तकपदस्थापना के समान) देववन्दन करें। यहाँ अरिहाण स्तोत्र के स्थान पर परमेष्ठीस्तव बोलें।

कायोत्सर्ग– तदनन्तर गणावच्छेदकपद पर आरूढ़ होने वाला शिष्य एक खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन करें। फिर पददाता गुरु और पदग्राही शिष्य दोनों ही गणावच्छेदकपद प्रदान एवं ग्रहण करने के निमित्त एक लोगस्ससूत्र का

(सागरवरगम्भीरा तक) कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र कहें।

अनुज्ञापन– उसके पश्चात पदग्राही शिष्य पहला खमासमण देकर कहें – **''इच्छकारि भगवन्! तुम्हे अम्हं दिगाइ अणुजाणह''** – हे भगवन्! आपकी इच्छा हो तो मुझे दिशादि (विचरण आदि) की अनुज्ञा दें। तब गुरु बोले – **''अहमेअस्स साहुस्स खमासमणाणं हत्थेणं दिगाइ अणुजाणामि''** पूर्व पुरुषों की स्वीकृति से मैं इस मुनि के लिए दिशादि की अनुज्ञा देता हूँ।

शिष्य दूसरा खमासमण देकर कहें – **''संदिसह किं भणामि''** आपने मुझे दिशादि की अनुमति प्रदान की, आज्ञा दीजिए, इस विषय में कैसे कहूँ? गुरु बोले **'वंदित्ता पवेयह'** – वन्दन कर इस विषय में प्रवेदन करो।

शिष्य तीसरा खमासमण देकर कहें – **''इच्छकारि भगवन्! तुम्हे अम्हं दिगाइ अणुन्नाओ, इच्छामो अणुसट्ठिं''** आप द्वारा मुझे दिशादि की अनुमति दे दी गयी है, अब मैं आपसे हित शिक्षा की इच्छा करता हूँ। गुरु प्रत्युत्तर में कहे – **''सम्मं अवधारय, अन्नेसिंपि पवेयह''** इस गणावच्छेदकपद को सम्यक रीति से धारण करो और अन्य मुनियों में भी इस पद का प्रवर्त्तन करो।

फिर शिष्य चौथा खमासमण देकर कहें – **''तुम्हाणं पवेइओ साहूणं पवेएमि''** आपको इस पद ग्रहण के सम्बन्ध में सूचित किया, अब मुनि संघ (चतुर्विध संघ) में इस पद स्वीकार की सूचना देता हूँ।

पुनः शिष्य पांचवाँ खमासमण देकर एक-एक नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हुए गुरु और समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दें।

फिर शिष्य छठवाँ खमासमण देकर कहें – **''तुम्हाणं पवेइओ, साहूणं पवेइओ, संदिसह काउस्सग्गं करेमि''** मैंने आपको इस पद की सम्यक जानकारी दे दी है, मुनि संघ में भी इसकी सूचना दे चुका हूँ, अब आपकी अनुमति पूर्वक कायोत्सर्ग करता हूँ।

तदनन्तर सातवीं बार खमासमणसूत्र द्वारा वन्दन करके **दिगाइ अणुजाणावणियं करेमि काउस्सग्गं पूर्वक अन्नत्थसूत्र** बोलकर एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें।

मन्त्र दान– फिर शुभ लग्न का समय आ जाने पर गुरु शिष्य के दाहिने कर्ण में निम्न मन्त्र को तीन बार सुनाएं –

"ॐ नमो अरिहंताणं ॐ नमो सिद्धाणं ॐ नमो आयरियाणं ॐ नमो उवज्झायाणं ॐ नमो लोए सव्व साहूणं, ॐ नमो अरिहओ भगवओ महइ महावीर वद्धमाणसामिस्स सिज्झउ मे भगवई महई महाविज्जा वीरे-वीरे महावीरे जयवीरे सेणवीरे वद्धमाणवीरे जए विजए जयंते अपराजिए अणिहए ॐ ह्रीं स्वाहा।"

इसके पश्चात गुरु शिष्य का नया नामकरण करें। तदनन्तर कनिष्ठ साधु एवं साध्वी आदि चतुर्विध संघ उन्हें वन्दन करें। तदनन्तर गुरु नूतन गणावच्छेदक को गच्छानुरूप अनुशिक्षण दें।

तुलनात्मक अध्ययन

गणावच्छेदक पदस्थापना-विधि का तुलनात्मक पक्ष प्रस्तुत करना कुछ कठिन है। कारण कि गणावच्छेदक-विधि केवल सामाचारीप्रकरण में उल्लिखित है। यद्यपि इस पद-विधि की सामान्य विशेषताएँ निम्न है–

1. गणावच्छेदक को आसन एवं अक्षमुष्टि नहीं दी जाती है तथा नन्दीपाठ भी नहीं सुनाया जाता है। सूरिमन्त्र के स्थान पर वर्धमानविद्या मन्त्र सुनाते हैं, शेष विधि प्राचीनसामाचारी में वर्णित आचार्यपदस्थापना के समान सम्पन्न की जाती है।

2. गणावच्छेदक को गणानुज्ञा के समान दिशा आदि अर्थात गुरु से पृथक विचरण, कनिष्ठ मुनियों के आचारशुद्धि का संरक्षण एवं संघीय दायित्व आदि की अनुमति दी जाती है।

3. गणावच्छेदक पद की अनुज्ञा के दिन शिष्य का नया नामकरण करते हैं अथवा नाम के आगे या पीछे परम्परागत सामाचारी के अनुसार विजय, यश, सागर आदि अतिरिक्त शब्द जोड़ देते हैं।

4. गणावच्छेदक द्वारा पदोत्सव के दिन कौनसा तप किया जाता है इसका स्पष्ट उल्लेख तो अप्राप्त है। तदुपरान्त सामाचारीप्रकरण के अस्पष्ट संकेतानुसार आयंबिल तप किया जाता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो जैन-परम्परा की मूल शाखाओं एवं उपशाखाओं में कहीं भी यह पद प्रचलित नहीं है अत: गणावच्छेदक स्थापना विधि विच्छिन्न सी हो गयी है। वैदिक ग्रन्थों में प्रस्तुत पद-सम्बन्धी कोई सामग्री प्राप्त नहीं हुई है। बौद्ध ग्रन्थों में भी इस विषयक कोई जानकारी उपलब्ध नहीं हो पाई है।

सारांश यह है कि गणावच्छेदकपद जैन धर्म में ही मान्य रहा है। पूर्वकाल में इसका गौरवपूर्ण स्थान था। उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार विक्रम की 10वीं-11वीं शती पर्यन्त यह पद प्रवर्तित था। उससे परवर्ती ग्रन्थों में इस विधि का अभाव है।

उपसंहार

जैन विचारणा में गणावच्छेदक का अद्वितीय महत्त्व रहा है। गणावच्छेदक की उपादेयता क्या हो सकती है ? यदि इस सम्बन्ध में मनन करें तो विविध दृष्टियों से इसकी आवश्यकता सिद्ध होती है।

सामान्यतः गणावच्छेदक गण-सम्बन्धी अनेक कर्त्तव्यों को पूर्ण करके आचार्य को बहुत-सी चिन्ताओं से मुक्त रखता है। यद्यपि अनुशासन का पूर्ण उत्तरदायित्व आचार्य का होता है तथापि व्यवस्था एवं कार्य-संचालन का उत्तरदायित्व गणावच्छेदक का होता है, अतः इनकी दीक्षा पर्याय कम से कम आठ वर्ष की होना आवश्यक माना गया है।

इसके पीछे मुख्य हार्द यह है कि दीक्षा पर्याय के अनुसार अनुभव आदि में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, जिससे वह पदस्थ उत्तरदायित्वों को अच्छे से निभाने में सक्षम होता है।

बृहद्गच्छ में रहते हुए उपाश्रय या स्थान विशेष, जहाँ कुछ समय प्रवास या वर्षावास करना हो अथवा वृद्ध भिक्षु को नित्यवास करना हो, तो साधु सामाचारी के अनुसार आचार्यादि ज्येष्ठ साधुओं के पहुँचने से पूर्व निर्दोष स्थान की प्रेक्षा कर ली जानी चाहिए, ताकि उन्हें विलम्बित न होना पड़े। साथ ही गच्छबद्ध साधुओं के स्वाध्याय आदि का क्रम भी सुचारू रूप से सम्पन्न हो सके। इस कार्य के लिए योग्य व्यक्तियों में गणावच्छेदक को भेजने का प्रावधान है, क्योंकि वह स्थानीय सभी तरह की परिस्थितियों का सम्यक अवलोकन कर रूकने का निर्णय ले सकता है।

बृहत्कल्पभाष्य में छः मुनियों को क्षेत्र-प्रेक्षा के अयोग्य कहा गया है– 1. वैयावृत्य करने वाला 2. बाल 3. वृद्ध 4. क्षपक 5. योगवाही और 6. अगीतार्थ।[7]

- यदि गणावच्छेदक मुनि का अभाव हो तो अगीतार्थ, योगवाही आदि मुनियों को पश्चात क्रम से क्षेत्र प्रेक्षा हेतु भेजना चाहिए। इन्हें भेजने में भी पूर्व वर्णित विधि का पालन आवश्यक है।

• अगीतार्थ को ओघनिर्युक्ति सामाचारी का प्रशिक्षण देकर भेजना चाहिए।

• अनागाढ़ योगवाही अपने संकल्प को स्थगित कर सकता है इसलिए भेजना चाहिए।

• क्षपक को पारणा कराकर 'कार्य पूर्ण न हो, तब तक तपस्या नहीं करनी है' ऐसी शिक्षा देकर भेजना चाहिए।

• सेवा करने वाला मुनि वहाँ रहने वाले साधुओं को स्थापना कुल बताकर फिर वहाँ से प्रस्थान कर दें। दृढ़ शरीरी बाल मुनि एवं वृद्ध मुनि साथ में जायें।

इस प्रकार क्षेत्र प्रेक्षा हेतु गणावच्छेदक को प्रधान एवं पूर्ण योग्य माना गया है।

गणावच्छेदक को जिनकल्प वहन का भी अधिकार है। भाष्यकार के मत से पाँच व्यक्ति जिनकल्प धारण कर सकते हैं उनमें गणावच्छेदक का नाम भी निहित है। वे पाँच नाम हैं – आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर और गणावच्छेदक।[8]

गणावच्छेदक के कतिपय नियम आचार्य एवं उपाध्याय के तुल्य हैं। जैसे – हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में उन्हें कम से कम दो साधुओं को साथ रखकर कुल तीन ठाणा से विचरण करना कल्पता है और कुल चार ठाणा से चातुर्मास करना कल्पता है। इससे कम साधुओं से रहना गणावच्छेदक के लिए निषिद्ध है। अत: वे दो ठाणा से विचरण नहीं कर सकते और तीन ठाणा से चातुर्मास नहीं कर सकते।[9]

समीक्षात्मक दृष्टि से गणावच्छेदक आचार्य के नेतृत्व में रहते हुए कार्यवाहक पद का निर्वाह करता है तथापि इनके साथ के साधुओं की संख्या आचार्य से अधिक कही गयी है। इसका मुख्य कारण यह है कि इनका कार्य क्षेत्र अधिक होता है। सेवा, व्यवस्था आदि कार्यों में अधिक साधु साथ में हों तो उन्हें सुविधा रहती है।[10]

संक्षेप में कहा जाए तो संघीय व्यवस्था, उपकरण संग्रह, क्षेत्र प्रतिलेखना, जिनकल्प स्वीकार एवं धर्म अभिवृद्धि की दृष्टि से गणावच्छेदक की आवश्यकता अपरिहार्य है।

सन्दर्भ-सूची

1. *पाइयसद्दमहण्णवो,* पृ. 286
2. *यो हि तं गृहीत्वा गच्छावष्टम्भायैवोपधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति।*

   स्थानांगसूत्रवृत्ति, 4/3/323, पृ. 232
3. *उद्धवणा पधावण, खेत्तोवधिमग्गणासु अविसादी।*
   सुत्तत्थतदुभयविऊ, गीयत्था एरिसा होंति।।
   एवंविधा गीतार्था गणावच्छेदिनः।

   व्यवहारभाष्य, 962 *की टीका*
4. *अट्ठवासपरियाए समणे निग्गंथे ...... गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए।*

   व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 3/7-8
5. *सामाचारीप्रकरण,* पृ. 27-28
6. *वही,* पृ. 27-28
7. *बृहत्कल्पभाष्य,* 1464, 1471
8. *वही,* 1284 *की टीका*
9. *व्यवहारसूत्र,* 4/7-10
10. *वही,* पृ. 340

●

अध्याय-6

गणिपदस्थापना विधि का रहस्यमयी स्वरूप

जैन अंग आगम आचारचूला में सामान्यत: सात पदों के नाम निर्देश हैं – आचार्य, प्रवर्त्तक, स्थविर, गणि, गणधर और गणावच्छेदक। उनमें गणि को पांचवें क्रम पर रखा गया है। परस्पर सापेक्ष अनेक कुलों का समुदाय गण कहलाता है। उस गण का नायक गणि कहा जाता है। गणि को गच्छाधिपति भी कहा जाता है। वर्तमान में यह पद भिन्न अर्थ में रूढ़ हो जाने के कारण इसे आचार्य की अपेक्षा निम्न कोटि का माना गया है। मूलत: गणि और गच्छाधिपति शब्द समानार्थक हैं। गणि ही गच्छाधिपति कहलाता है, किन्तु वर्तमान में गणि एवं गच्छाधिपति दोनों भिन्न-भिन्न अर्थ में व्यवहृत हैं। यहाँ गणिपद से हमारा ध्येय गच्छाधिपति है।

प्रसंगवश यह भी उल्लेखनीय है कि मध्यकालवर्ती आचार्यों ने 'गणानुज्ञा' इस शब्द का उल्लेख किया है। इसमें गणि और गणधर दोनों पदों का अन्तर्भाव हो जाता है। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से देखें तो भी गणि और गणधर समान अर्थ के बोधक हैं, क्योंकि गण को धारण करने वाला ही गणि और गणधर कहलाता है। यद्यपि योग्यता एवं पद संचालन की दृष्टि से दोनों पद भिन्न-भिन्न हैं।

आवश्यकटीका के अनुसार जो अनुत्तर ज्ञान-दर्शन आदि गुण समूह को धारण करते हैं, वे गणधर कहलाते हैं।[1] आगम साहित्य में गणधर शब्द दो अर्थों में प्राप्त होता है। प्रथम अर्थ के अनुसार जो तीर्थङ्करों के प्रमुख शिष्य होते हैं, द्वादशांगी की रचना करते हैं, धर्मसंघ के गणों का नेतृत्व करते हैं तथा अपने गण के श्रमणों को आगम वाचना प्रदान करते हैं, वे गणधर कहलाते हैं। दूसरे अर्थ की अपेक्षा गणधर शब्द आचार्य के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु यह प्रयोग परवर्ती साहित्य में ही मिलता है।[2] सम्भवत: इसी अपेक्षा से गणि को गणधर के तुल्य स्थान दिया गया है।

नियमतः तीर्थङ्करों के शासनकाल में गणधरपद विद्यमान अवश्य रहता है, किन्तु तीर्थङ्करों की उपस्थिति में और उनके परिनिर्वाण के पश्चात भी प्रायः गणधर शब्द का व्यवहार नहीं देखा जाता है जैसे- गणधर सुधर्मा स्वामी के लिए 'अज्ज सुहम्मे' आर्य सुधर्मा शब्द ही व्यवहृत हुआ है इसलिए तद्विषयक पदस्थापन-विधि का अभाव है। सामान्यतया 'गणानुज्ञा' में गणि एवं गणधर दोनों पदों को अन्तर्भूत समझना चाहिए। यहाँ यह विधि गणिपद की अपेक्षा से कही जायेगी, क्योंकि गणधर पद विलुप्त हो चुका है।

गणि शब्द का अर्थ एवं परिभाषाएँ

गण का सामान्य अर्थ है – समूह, समुदाय, गच्छ, समान आचार-व्यवहार वाले साधुओं का समूह। गणि का अर्थ है – समान आचारवान श्रमण समुदाय का अधिपति। प्राकृत कोश में गणि के निम्न अर्थ मिलते हैं – गण का स्वामी, आचार्य, गच्छनायक, साधु समुदाय का नायक।[3] इस कोश में आचार्य को भी गणि कहा गया है, अतः जैन साहित्य में अनेक स्थलों पर आचार्य के लिए गणि शब्द भी व्यवहृत हुआ है।

स्थानांग टीका में समुदाय विशेष के अधिनायक को गणि कहा गया है।[4] आचारांगचूर्णि में गणि का अर्थ करते हुए लिखा है कि जिनके पास आचार्य स्वयं सूत्र और अर्थ का अभ्यास करते हैं वह गणि है।[5]

इसका स्पष्टार्थ यह है कि आचार्य स्वयं सामान्य श्रमणों को अर्थ और सूत्र की वाचना देते हैं, लेकिन जब आचार्य को अध्ययन की अपेक्षा होती है, तो वे हर किसी से अध्ययन नहीं कर सकते, उन्हें अध्ययन करवाने वाले विशिष्ट श्रमण होते हैं। वे श्रमण ही गणि कहलाते हैं। इसी उद्देश्य से 'गणि' की नियुक्ति की जाती है, ऐसा आचार्य देवेन्द्रमुनि का अभिमत है। गणि ज्ञान के अधिदेवता रूप होते हैं जिसके कारण वे आचार्य को भी वाचना दे सकते हैं।[6] इससे स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि गणि आचार्य से वरिष्ठ होते हैं तथा गणधर गणि से वरिष्ठ होते हैं।

पुनश्च आचार्य और गणि में सामान्य अन्तर यह है कि आचार्य के उत्तरदायित्व सीमित होते हैं और गणि के कर्त्तव्य विस्तृत होते हैं। एक समुदाय में कई आचार्य हो सकते हैं, किन्तु गच्छाधिपति एक ही होता है।

गणि-गणधर पद की उपादेयता

जिनशासन में गणि-गणधरपद की आवश्यकता किन उद्देश्यों को लेकर रही हुई है? यदि इस बिन्दु पर विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि गणि शासन व्यवस्था की दृष्टि से विशेष उपकारी होते हैं और गणधर आगम रचना की तुलना से महान उपकारक हैं। गणि, गणधर प्रवर्तित परम्परा का सम्यक् निर्वाह करते हैं।

तीर्थङ्कर, गणधर, गणि, आचार्य, उपाध्याय आदि क्रमशः पूर्व-पूर्व की परिपाटी का अनुवर्त्तन करते हुए चतुर्विध संघ रूपी तीर्थ की अद्भुत प्रभावना करते हैं। जैसे अरिहन्त परमात्मा तप, संयम और ज्ञानरूपी वृक्ष पर आरूढ़ होकर भव्यात्माओं को जागृत करने के लिए ज्ञान वृष्टि करते हैं। गणधर उस वृष्टि को बुद्धि रूपी पट में समग्रता से ग्रहण कर अर्थात तीर्थङ्कर प्ररूपित वाणी को धारण कर शासन हितार्थ आगम-शास्त्रों की रचना करते हैं।

आगम रचना के माध्यम से इस पद की उपयोगिता पंचविध हेतुओं से सिद्ध होती है[7] –

1. तीर्थङ्कर की वाणी पद, वाक्य, प्रकरण, अध्याय, प्राभृत आदि के रूप में व्यवस्थित हो जाने से श्रुत का सुख पूर्वक ग्रहण होता है।
2. सूत्रादि की सुगमता से गणना की जा सकती है।
3. सूत्रबद्ध श्रुत की दीर्घकाल तक स्मृति बनी रह सकती है।
4. ज्ञानदान में तथा प्रश्न पूछने में सुविधा रहती है।
5. द्वादशांगी की अविच्छिन्नता बनी रहती है।

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार भी गणधरपद की विद्यमानता से श्रुत की अव्यवच्छित्ति (अखण्डता) बनी रहती हैं, मर्यादा का अनुपालन होता है और आचार परम्परा का संवहन होता है।[8]

गणधरपद की उपादेयता इस दृष्टि से भी कही जा सकती है कि तीर्थङ्कर जब प्रथम पौरूषी के सम्पन्न होने पर धर्म देशना देकर उठ जाते हैं तब दूसरी पौरुषी में गौतम गणधर या अन्य गणधर धर्मोपदेश करते हैं। उसके द्वारा 1. तीर्थङ्कर का शारीरिक श्रम दूर होता है 2. शिष्य के गुणों का प्रकटन होता है 3. तत्त्व-निरूपण में किसी तरह का विसंवाद न होने से श्रोता गण में गुरु-शिष्य के प्रति विश्वास पैदा होता है और 4 आचार्य-शिष्य की शालीन परम्परा का

निर्वहन होता है।[9] इस प्रकार हम पाते हैं कि गणि-गणधरपद विविध दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में गणिपद की प्रासंगिकता

पद-व्यवस्था की परम्परा पूर्वकाल से समाज में प्रचलित है तथा वर्तमान में भी इसकी उतनी ही उपादेयता परिलक्षित होती है। जैनशासन में चतुर्विध संघ के संचालन हेतु कुछ विशिष्ट पदों की व्यवस्था है उन्हीं में से एक गणिपद है।

गणिपद का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाए तो यह कह सकते हैं कि किसी भी संघ में नायक (Group leader) होने से उस संघ के कार्य अच्छे रूप से सम्पन्न होते हैं। जिस प्रकार दृढ़ मनोबली राजा या सेनापति के होने पर छोटी सेना भी युद्ध में जीत जाती है वैसे ही श्रेष्ठ गणि, साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका समुदाय को अध्यात्म मार्ग में सही दिशा प्रदान कर सकता है। जिस प्रकार कुशल कुम्भकार अनेक श्रेष्ठ घटों का निर्माण करने में योग्य होता है वैसे ही गणिपदस्थ मुनि गच्छ में अनेक श्रेष्ठ ज्ञानीजनों का निर्माण कर सकता है, जिससे उत्तरोत्तर संघ में वृद्धि होती रहती है।

यदि गणिपद के वैयक्तिक उपादेयता की समीक्षा की जाए तो निम्नोक्त तथ्य उजागर होते हैं –

- गणिपद धारण करने वाला व्यक्ति अपने ज्ञान बल से सम्पूर्ण संघ को लाभान्वित कर सकता है।
- ज्ञान दान से अनन्त ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा व्यवस्था संचालन से नेतृत्व गुण का विकास होता है।
- यदि पदारूढ़ होने के बाद भी अहंकार, मान कषाय आदि न हो तो क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दस गुणों का प्रकटीकरण एवं स्वभाव दशा का अभ्यास होता है।

सामाजिक परिप्रेक्ष्य में गणिपद की समीक्षा की जाए तो निम्न बातें सामने आती हैं –

- गणि एवं अन्य पदधारियों के आधार पर संघ की महिमा समाज में भी स्थापित होती है। योग्य गणि होने पर जिनशासन की प्रभावना होती है।
- समाज का ज्ञान एवं आचार पक्ष मजबूत बनता है।
- योग्य शिष्य श्रावक वर्ग को प्रतिबोध देकर जिनशासन के महान कार्यों

का सम्पादन करते हुए संस्कृति एवं सांस्कृतिक मूल्यों की चिर-स्थापना कर सकता है।

यदि प्रबन्धन के क्षेत्र में गणिपद के योगदान को लेकर चिन्तन किया जाए तो गणि अर्थात (leader), जो कि गण संचालक होते हैं। ऐसे व्यक्तियों में समुदाय संचालन एवं व्यवस्थापन का गुण होना अत्यावश्यक है। एक योग्य संचालक अपनी ऑफिशियल या पॉलिटिकल लाइफ का असर अपने व्यक्तिगत जीवन (Personal life) पर नहीं होने देता, जिससे वैयक्तिक एवं सामुदायिक दोनों जीवन शान्तिपूर्वक यापन किए जा सकते हैं। सुयोग्य शासक में केवल ज्ञान पक्ष ही नहीं, अपितु समन्वय स्थापना, व्यवहार कुशलता, वाक्पटुता, निर्भीकता आदि कई गुण भी देखे जाते हैं जिससे कि एक योग्य नेता के चुनाव के विषय में अच्छा मार्गदर्शन प्राप्त हो सकता है। यह प्रबन्धन के लिए भी मुख्य है। हम गणि को संघ का (Managing Director) भी कह सकते हैं।

जो बुद्धि, श्रुत एवं शिष्य सम्पन्न हो वह गणिपद के योग्य माना गया है अत: जो हर प्रकार से अनुभव आदि में निपुण हो, जो कार्य करने एवं करवाने में सक्षम हो, ऐसे व्यक्तियों को यदि सामाजिक व्यवस्था में भी किसी उच्च पद पर स्थापित किया जाए तो वह समाज एवं राष्ट्र विकास में सहायक होते हैं। इसी प्रकार योग्य शिष्य आदि का चुनाव कर उन्हें योग्य पद हेतु निर्वाचित करने या स्थापित करने पर सत्ता का मोह कम होता है जिससे कि शासन-व्यवस्था का संचालन प्रशस्त रूप से हो सकता है।

इस प्रकार गणिपद के माध्यम से कार्यालय प्रबन्धन, समुदाय प्रबन्धन, शासन व्यवस्था प्रबन्धन आदि में विशेष मार्गदर्शन प्राप्त हो सकता है।

गणिपद का मूल्यांकन यदि आधुनिक जगत की समस्याओं के सन्दर्भ में किया जाए तो आज पद-शक्ति का दुरूपयोग एवं पद लालसागत समस्याओं के समाधान में गणिपद संचालन का तरीका उपयोगी हो सकता है। विद्यालय, कार्यालय, मन्त्रालय आदि में जो समस्याएँ अनुशासनहीनता, स्वार्थ परायणता, अयोग्य पद प्रभारी आदि के कारण आती है उन पर नियन्त्रण किया जा सकता है। गुरु-शिष्य सम्बन्धों में बढ़ती दरारों को कम करने एवं गुरु-शिष्य के आत्मिय सम्बन्धों के निर्माण में इसका अनन्य सहयोग हो सकता है।

समाज में घटते सांस्कृतिक मूल्यों को एवं आध्यात्मिक ज्ञान के महत्त्व को गणि आदि के माध्यम से सही दिशा प्राप्त हो सकती है। गणि जैसे कुशल व्याख्याता

एवं तर्क निपुण संचालक, मुखिया या प्रभारी होने पर समाज, राष्ट्र या संस्था का सम्यक् रूप से संचालन हो सकता है। पक्षपाती या अयोग्य लोगों का चयन आदि के कारण उत्पन्न होती समस्याओं का समाधान प्राप्त हो सकता है।

जिसे गणिपद पर स्थापित किया जाए वह श्रुत एवं शिष्य सम्पदा से युक्त हो ऐसा नियम हैं। एकलविहारी साधु को गणिपद पर स्थापित नहीं किया जा सकता। इस विषय में प्रश्न हो सकता है कि शिष्यादि या सहायक मुनि किसी कारण से साथ नहीं रहते हों या शिष्य बने ही न हों ऐसा मुनि यदि श्रुत आदि से योग्य है तो उसे पद पर स्थापित क्यों नहीं किया जाए? इससे तो संघ को एक योग्य संचालक की ही हानि होगी। इसका कारण यह हो सकता है कि मुनि श्रुतादि से सम्पन्न हो तथा अन्य योग्यताएं भी हों, परन्तु स्वभाव से सरल या सहिष्णु न होने पर पदस्थापित मुनि संघ हिलना का कारण बन सकता है। एकलविहारी आचार्य आदि को देखकर अन्य लोगों के मन में उनके आचार आदि के विषय में शंका उत्पन्न हो सकती है, एकल होने से समस्त कार्य स्वयं को करने पड़ेंगे जिसके कारण वे यथायोग्य शासन सेवा नहीं कर सकते। विशेष परिस्थिति उत्पन्न होने पर तद्विषयक मन्त्रणा भी किसी से नहीं कर सकते। स्वज्ञान आदि भी किसी को दे नहीं सकते। अकेले रहने के कारण समस्त साधु-साध्वी के संचालन की कला, वात्सल्य भाव आदि नहीं होने से उनके मन में अभाव भी उत्पन्न हो सकता है, अतः ऐसे श्रुतादि से सम्पन्न मुनि को गणिपद पर स्थापित करने का निषेध किया गया है।

अयोग्य को गणानुज्ञा-पद पर स्थापित करने से होने वाले दोष

पंचवस्तुक के अनुसार जो मुनि पूर्वोक्त गुणों से सम्पन्न न हों, उसे गणानुज्ञा देने पर आज्ञाभंग, मिथ्यात्व, अनवस्था, संयम विराधना आदि दोष लगते हैं।[10] आचार्य हरिभद्रसूरि ने यह भी निर्दिष्ट किया है कि जिस 'गणधर' पद को गौतमस्वामी आदि महापुरुषों द्वारा धारण किया गया है उस 'गणधर' पद के महत्त्व को जानते हुए भी जो गुरु अयोग्य को उस पद पर स्थापित करते हैं, वह महापापी और मूढ़ है। तदनुसार जो मुनि पूर्वोक्त गुणों से रहित होने पर भी 'गणधर' पद पर आरूढ़ होता है और उसके अनन्तर उस गणधरपद का विशुद्ध भावों से स्वशक्ति के अनुरूप परिपालन नहीं करता है तो वह मुनि भी महापापी कहलाता है।[11]

पंचवस्तुक में यह भी कहा गया है कि अयोग्य को गणानुज्ञा-पद पर स्थापित करने से लोकनिन्दा होती है और जनसाधारण में यह धारणा बन जाती है कि जब गुरु ही उपयोग, विवेक एवं बुद्धि रहित है तो शिष्य उससे भी अधिक गुणहीन होंगे। अयोग्य को इस पर स्थापित करने से दूसरा दोष यह संभव है कि मन्द बुद्धि जीव गणधर आदि के गुणों के प्रति अनादर भाव रखने लगे और यह सोचे कि गुणहीन व्यक्ति भी गणधरपद पर स्थित हो सकते हैं। इससे मूल परम्परा का व्यवच्छेद होता है।

अयोग्य को गणधर पद पर प्रतिष्ठित करने से विशिष्ट गुणों का हनन होता है और पदग्राही स्वयं भी विपुल कर्मों का उपार्जन करता है।[12]

इस तरह अयोग्य को पद स्थापित करने वाला गुरु स्वयं तो महापाप करता ही है वह शिष्य का भी अनर्थ और अहित करता है। शिष्य को अहित में प्रवृत्त करने से जिनाज्ञा का उल्लंघन करता है और इससे गुरु स्वयं की आत्मा का भी अहित कर लेता है।

व्यवहारभाष्य के निर्देशानुसार जिसने उत्सर्ग-अपवाद रूप सूत्र और अर्थ को भलीभाँति नहीं समझा है, श्रुतसम्पदा से हीन है, वह यदि गणधारण करता है, तो क्रमशः चतुर्लघु और चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है। इसका कारण यह है कि गणधारक यदि सूत्र ज्ञाता हो तो वह वाचना दे सकता है तथा अर्थ ज्ञाता हो तो प्रायश्चित्त द्वारा स्व-पर की शुद्धि कर सकता है। यदि सूत्रादि ज्ञान के बिना वाचना दी जाए तो अविश्वास ही उत्पन्न होता है।[13] इसलिए गीतार्थ गुरुओं द्वारा यथोक्त गुण सम्पन्न मुनि को ही गणिपद पर नियुक्त किया जाना चाहिए।

गणिपदस्थ के लिए आवश्यक योग्यताएँ

गणि जैन-परम्परा का विशिष्ट पद है अतः इस पर आरूढ़ होने वाला शिष्य अनेक गुणों से समलंकृत होना चाहिए।

व्यवहारसूत्र के मतानुसार गणधारण करने वाला मुनि श्रुतसम्पदा एवं शिष्य सम्पदा से युक्त होना चाहिए।[14] जिस मुनि ने सामान्य रूप से आवश्यकसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, आचारांगसूत्र एवं निशीथसूत्र मूल एवं अर्थ की दृष्टि से अध्ययन कर लिया है वह श्रुत सम्पन्न कहलाता है तथा एक या अनेक शिष्यों को प्रव्रजित करने वाला शिष्य सम्पन्न कहा जाता है।

जिसके एक भी शिष्य नहीं हैं एवं जिसने उपर्युक्त श्रुत का अध्ययन भी नहीं किया है, वह गण धारण के अयोग्य है।

यदि किसी मुनि के पास शिष्य संपदा है, परन्तु वह बुद्धिमान एवं श्रुत सम्पन्न नहीं है अथवा अवधारित श्रुत को विस्मृत कर चुका हो, तो वह भी गणधारण के अयोग्य है, किन्तु किसी को वृद्धावस्था (60 वर्ष से अधिक) होने के कारण श्रुत विस्मृत हो गया हो तो वह श्रुत सम्पन्न ही कहा जाता है और गणधारण कर सकता है। भाष्यकार ने शिष्य संपदावान को द्रव्य पलिच्छन्न और श्रुत सम्पन्न को भाव पलिच्छन्न कहा है। साथ ही भाव पलिच्छन्न को ही गणधारण करके विचरण करने का अधिकार दिया है।[15]

भाष्यकर्ता ने यह भी स्पष्ट किया है कि

1. विचरण करते हुए वह स्वयं को एवं अन्य मुनियों को ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की शुद्ध आराधना करने-करवाने में समर्थ हो।

2. जनसाधारण को अपने ज्ञानबल, बुद्धिबल एवं वचनबल से धर्माभिमुख कर सकता हो।

3. अन्य मत से भावित कोई भी व्यक्ति प्रश्न-चर्चा करने के लिए आ जाये तो यथोचित उत्तर देने में समर्थ हो, ऐसा मुनि गण प्रमुख के रूप में संघटन प्रमुख होकर विचरण कर सकता है।[16]

आचार्य मधुकरमुनि के अनुसार भी जो भिक्षु धर्म प्रभावना के लक्ष्य से गण को धारण करता है उसमें भाष्योक्त गुण होना आवश्यक है यानी भावी गणधर को द्रव्य और भाव दोनों पलिच्छन्न से युक्त होना चाहिए।[17] क्योंकि जो द्रव्य पलिच्छन्न (शिष्य सम्पदा) से रहित होगा, वह गण (शिष्यादि समूह) के अभाव में क्या धारण करेगा? जो द्रव्य संग्रह से परिहीन होता है वह शैक्ष आदि मुनियों द्वारा निश्चित ही त्यक्त हो जाता है अत: शिष्यादि संग्रह के बिना कोई गणधारण के योग्य नहीं हो सकता, अतएव जो भिक्षु आहार, वस्त्र आदि की लब्धि एवं आदेय वचन से युक्त है, परिपूर्ण देह वाला है, लोक में सत्कार योग्य है, बुद्धिमान है, नव दीक्षित मुनियों द्वारा पूज्य है तथा सामान्य लोगों द्वारा भी सम्माननीय है वह गणधारण के योग्य होता है।[18]

जो भाव पलिच्छन्न (श्रुतज्ञान) से रहित है, वह विनय आदि धर्म का प्रवर्त्तन नहीं कर सकता क्योंकि उसके लिए वाचन आदि होना आवश्यक है। श्रुत सम्पदा से रहित साधु वाचन की प्रवृत्ति कैसे कर सकता है? भाव पलिच्छन्न

के न होने पर द्रव्य पलिच्छन्न (शिष्य संपदा) का भी अभाव हो जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि उसके शिष्य सूत्रार्थ से अप्रतिबद्ध होकर अपना पराभव मानते हैं फलत:गण से वियुक्त हो जाते हैं।[19] इस तरह गणि पदस्थ मुनि साधु द्रव्यसंग्रह (शिष्य, उपाधि आदि) और भावसंग्रह (बुद्धि, श्रुत आदि) से विभूषित होना चाहिए।

आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार जो सूत्र-अर्थ के प्रतिपादन में कुशल हो, धर्म में प्रीति रखता हो, दृढ़ मनोबली हो, संयम के अनुकूल प्रवृत्ति करवाने में सक्षम हो, उत्तम जाति (मातृपक्ष) और उत्तमकुल (पितृपक्ष) में उत्पन्न हुआ हो, उदार हृदयी हो, शुभाशुभ निमित्तों में प्रसन्न रहता हो, लब्धिमान अर्थात शिष्यों के लिए संयम उपयोगी उपकरण आदि प्राप्त कराने की लब्धि वाला हो, उपदेश-दान आदि से शिष्यादि का संग्रह करने में तत्पर हो, वस्त्रदान आदि से शिष्यों का उपकार करने में निरत हो, प्रतिलेखनादि क्रियाओं का अभ्यासी हो, प्रवचन का अनुरागी हो और स्वभावत: परोपकार करने की प्रवृत्ति वाला हो इत्यादि गुणों से परिपूर्ण मुनि गणधारण के योग्य होता है।[20]

आचार्य जिनप्रभसूरि ने भी उक्त गुणों से सम्पन्न मुनि को ही गणधारण के योग्य बतलाया है।[21] उपाध्याय मानविजयजी ने भी इसी मत का समर्थन किया है।[22] आचार्य वर्धमानसूरि ने गणनायक का उत्तम पद आचार्य सदृश गुणों से युक्त मुनि को देने का निर्देश किया है।[23]

गणिपद हेतु शुभ मुहूर्त्त विचार

गच्छनायक पद किन शुभ मुहूर्त्तादि में प्रदान किया जाना चाहिए? इस सम्बन्ध में स्पष्ट जानकारी किसी भी ग्रन्थ से उपलब्ध नहीं हो पाई है।

प्राचीनसामाचारी, विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर आदि में इस पदस्थापना के लिए इतना संकेत अवश्य है कि यह पदोत्सव शुभ तिथि, शुभ योग, शुभ करण आदि से युक्त श्रेष्ठकाल में किया जाना चाहिए, किन्तु वह शुभ नक्षत्र आदि कौन-कौन से हो सकते हैं? इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है।

सामान्यतया गच्छनायक आचार्य से वरिष्ठ होते हैं अत: आचार्य पद स्थापना हेतु जो नक्षत्र आदि उत्तम कहे गये हैं, उन्हें गणिपद के लिए भी श्रेष्ठ समझना चाहिए।

गणधारण के योग्य शिष्य की परीक्षा विधि

भाष्यकार जिनभद्रगणि के अनुसार जो शिष्य गणधारण के योग्य हो उसकी परीक्षा करनी चाहिए तथा उत्तीर्ण होने पर ही गणि-गणधर पद की अनुज्ञा देनी चाहिए।[24] भिक्षुआगमकोश के अनुसार परीक्षा के मुख्य बिन्दु निम्न हैं –

क्षुल्लक विषयक परीक्षा – गुरु सबसे पहले भावी गणधारण के अनुरूप शिष्य को यह कहे कि तुम इस शैक्ष (नवदीक्षित) की ग्रहणी-आसेवनी शिक्षा द्वारा निर्माण करो। गुरु के इस निर्देश पर यदि वह सोचता है कि यह शैक्ष दीर्घकाल के पश्चात मेरा उपकार करेगा या नहीं? इसे शिक्षित करने पर मुझे क्या लाभ होगा? अथवा पक्षी शावक की भांति इसका पोषण करना कष्टप्रद है? योग्य बनने पर भी मेरा होगा या नहीं, कौन बता सकता है? अथवा इसकी सार संभाल करने से मेरे अध्ययन में व्याघात होगा, यदि ऐसा सोचकर शैक्ष को प्रशिक्षित नहीं करता है तो वह गणधारण के योग्य नहीं है।

स्थविर विषयक परीक्षा – किसी वृद्ध मुनि को शासन प्रभावक जानकर गुरु उसे सारण-वारण आदि के उद्देश्य से समर्पित करे, तब यदि वह सोचे कि यह वृद्ध है, पोषण करने पर भी न जाने कब काल कवलित हो जाए? वृद्ध को संभालना मुश्किल है। यदि प्रज्ञाहीन होगा तो इसे शिक्षित करने में सूत्रार्थ की हानि होगी। ऐसा सोचकर स्थविर को शिक्षित न करने वाला भी गणधारण के अयोग्य होता है।

तरूण विषयक परीक्षा – पूर्व की भांति तरूण मुनि को सुपुर्द करने पर यदि वह यह सोचे कि यह बुद्धिमान है, बहुत प्रश्न करता है, यह सूत्र-अर्थ में निपुण हो गया तो मेरा प्रतिपक्षी होगा। इसलिए इसे पढ़ाने में खतरा है, ऐसा सोचने वाला भी गणधारण के योग्य नहीं होता है।

खग्गूड विषयक परीक्षा – यदि उसे किसी वक्र बुद्धि वाले शिष्य को शिक्षा द्वारा सरल स्वभावी बनाने का निर्देश दिया जाये, तब यदि वह सोचे कि यह तो क्रोधी, अहंकारी, उपद्रवी, प्रतिकूल वर्तनकारी और अविनीत है, इसे ऋजु परिणामी बनाना सहज नहीं। इस प्रकार उसे प्रशिक्षित न करे तो वह भी गणधारण के अयोग्य माना गया है, ऐसे मुनि को गणिपद पर स्थापित नहीं करना चाहिए।

जो यथार्थ रूप में गणधारण की योग्यता रखता है वह मुनि क्षुल्लक और

वृद्ध के लिए आहार-वस्त्र आदि का संग्रह करता है तथा उन्हें वात्सल्य भाव से प्रशिक्षित करता है। मेधावी साधु को अपरिश्रान्त भाव से पढ़ाता है। वक्र स्वभावी के साथ इतना मृदु व्यवहार करता है कि वह उसके वशीभूत होकर अपनी कठोरता-आग्रह बुद्धि का त्याग कर देता है।

संक्षेप में कहें तो जो मुनि क्षुल्लक, स्थविर, तरूण और खग्गूड इन चारों को सूत्र पढ़ाने में सफल होता है, उसे सूत्रमण्डली सौंपी जाती है तथा जो गच्छवर्ती साधुओं और आगत साधुओं को निराबाध रूप से वाचना देता है मूल आचार्य द्वारा उसे ही गण सुपुर्द किया जाता है।

गणधारण से पूर्व की सामाचारी

गच्छनायकपद गण के स्थविर देते हैं या वर्तमान आचार्य की आज्ञा से यह पद दिया जाता है अथवा गच्छ के साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ मिलकर यह पद देते हैं, किन्तु कोई भिक्षु स्वयं ही गणिपद लेना चाहे तो भी स्थविर (गच्छमहत्तर) को पूछना या उनकी अनुमति लेना आवश्यक है। स्थविर की अनुज्ञा के बिना गणधारण करने वाला छेद या परिहार प्रायश्चित्त का भागी बनता है।

कोई साधु मूल आचार्य के कालगत होने पर यह सोच लें कि मेरे आचार्य तो भावतः मुझे आचार्य बना चुके हैं, अब स्थविरों से क्या पूछना है ? ऐसा सोचकर जो स्वयं दिग्बंध (आचार्यत्व) स्वीकार कर लेता है और स्थविर की अनुज्ञा प्राप्त नहीं करता, तो उसे स्थविर सचेत करते हैं कि 'ऐसा करना जिनाज्ञा नहीं है।' प्रतिषेध करने पर भी वह अपने पद को परित्यक्त नहीं करता है, तो उसे चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि स्थविर उपेक्षा करें तो वे भी चतुर्गुरु प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

आशय यह है कि कोई श्रुतसम्पन्न, योग्य भिक्षु भी स्वेच्छा से गणिपद पर आरूढ़ नहीं हो सकता, किन्तु गण के स्थविरों की अनुमति प्राप्त कर गणधारण कर सकता है। यदि वे स्थविर किसी कारण से अनुज्ञा न दें, तो उसे गण धारण नहीं करना चाहिए एवं योग्य अवसर की प्रतिक्षा करनी चाहिए।

यहाँ 'स्थविर' शब्द से आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक आदि आज्ञा प्रदाता अधिकारी मुनि समझने चाहिए। स्थविर शब्द अति व्यापक अर्थ वाला है। इसमें सभी पदवीधर और अधिकारी गणस्थ मुनियों का समावेश हो जाता है। जैनागमों

में सुधर्मास्वामी आदि गणधरों एवं स्वयं तीर्थङ्करों के लिए भी 'थेरे'-स्थविर शब्द का प्रयोग देखा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि गणधारण के लिए गच्छ के स्थविर भिक्षुओं की आज्ञा लेना आवश्यक है। इसी के साथ स्वयं का श्रुतसम्पदा आदि से सम्पन्न होना भी जरूरी है। यदि पूर्व में पदस्थ आचार्य स्वयं विद्यमान हों, तो फिर अन्य किसी स्थविर से अनुमति लेना आवश्यक नहीं होता है।

गणधारण से बाद की सामाचारी

जब आचार्य योग्य शिष्य को गणिपद पर नियुक्त कर दें उसके पश्चात अपने द्वारा या उस शिष्य द्वारा प्रतिबोधित एवं प्रव्रजित शिष्यों में से कम से कम तीन शिष्य उस गणनायक को सुपुर्द करें। गणनायक के साथ सदैव तीन शिष्यों का रहना आवश्यक है।

व्यवहारभाष्य के अनुसार एक शिष्य गणनायक के समीप रहता है, वह आवश्यक कार्य सम्पादित करता है और निर्देशानुसार किसी के साथ बातचीत करना, बुलाना आदि कार्य करता है। इससे गच्छाधिपति को वाचना, साधना, पुनरावर्त्तन आदि श्रेष्ठ कार्यों के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है। शेष दो शिष्य भिक्षा आदि लाते हैं, शौचभूमि में गुरु के साथ जाते हैं और स्थान आदि की गवेषणा, प्रतिलेखना आदि कार्य करते हैं।[25]

गणिपद की परम्परा का मौलिक इतिहास

जीत आचरणा के अनुसार गणधारण दो प्रकार से किया जाता है–

1. कुछ साधुओं के समूह का संचालन करते हुए विचरण एवं चातुर्मास करना प्रथम प्रकार का गण धारण है। ऐसे भिक्षु को गणि, गणधर, गण प्रमुख या अग्रणी कहा जाता है।

2. साधुओं के समूह का अधिपति अर्थात आचार्यादि पद धारण करने वाला गणधारक कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समूह के साथ मुखिया होकर विचरण करने वाला एवं गच्छ या समुदाय का अधिनायक बनने वाला गणि, गणधर या गच्छाधिपति कहलाता है।

जब हम गणधारण पद सम्बन्धी विशेष जानकारी प्राप्त करने हेतु आगम-साहित्य के पृष्ठों का आलोड़न करते हैं तो सर्वप्रथम इसका नामोल्लेख आचारचूला में प्राप्त होता है। यहाँ गणि एवं गणधर को अधिकारी मुनि के रूप

में उपदर्शित किया है। इसमें इनका नामोल्लेख करते हुए यह सूचित किया गया है कि भिक्षाटन, भिक्षावितरण, प्रतिलेखन आदि आवश्यक क्रियाओं को करने से पूर्व आचार्य, उपाध्याय, गणि आदि सप्तविध पदस्थों में से किसी की अनुमति लेना परम आवश्यक है। इसके अतिरिक्त इस विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है।[26]

इसके अनन्तर तद्विषयक कुछ उल्लेख व्यवहारसूत्र में प्राप्त होते हैं।[27] इसमें गणधारण के योग्य कौन, गणधारण से पूर्व स्थविर की अनुमति आवश्यक क्यों, स्थविर की अनुमति प्राप्त किये बिना गणधारण करने पर प्रायश्चित्त आदि पक्षों पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य चर्चा प्राप्त नहीं होती है। इस तरह आगम-साहित्य में मुख्य रूप से ऊपर वर्णित ग्रन्थ गणि-गणधर पद की सामान्य चर्चा करते हैं।

जब हम आगमिक व्याख्या साहित्य का अध्ययन करते हैं तो उनमें आवश्यकचूर्णि,[28] आवश्यकटीका[29] आदि में गणधर का स्वरूप एवं व्यवहारभाष्य[30] में इस विषयक कई उल्लेख हैं। उनमें गणधारक की परीक्षा-विधि, गणधारक कैसा होना चाहिए, गणधारक की सामाचारी, गणधारण के योग्य चतुर्भंगी आदि विषय वर्णित है, किन्तु मूलागमों एवं आगमिक टीका साहित्य के किसी भी ग्रन्थ में गणनायकपद प्रदान करने की विधि देखने में नहीं आई है।

तदुपरान्त किसी आचार्य का अचानक देहावसान हो जाए या किसी रोगादि के कारण गणधर को स्थापित किये बिना ही कालगत हो जाए, तो उस स्थिति में गच्छवासी क्षुभित न हो, एतदर्थ विगत आचार्य के शव का परिष्ठापन करने से पूर्व नये गणधर की नियुक्ति करना आवश्यक माना गया है। अत: बिना किसी को आचार्य पद पर स्थापित किये दिवंगत होने की स्थिति में नये आचार्य की अभिषेक-विधि का वर्णन व्यवहारभाष्य में मिलता है, किन्तु यदि आचार्य ने अपने जीवनकाल में ही अन्य गणनायक की स्थापना कर दी हो तो उनके दिवंगत होने पर, पूर्व निर्वाचित आचार्य की पदस्थापना करने का उल्लेख नहीं मिलता है। यहाँ 'गणधर' शब्द का प्रयोग वस्तुत: गणनायक के लिए न होकर आचार्य के लिए किया गया प्रतीत होता है, क्योंकि आगम पाठों में आचार्य के लिए अनेक जगह 'गणधर' शब्द भी व्यवहृत हुआ है।

जब हम टीका साहित्य अथवा उससे परवर्ती साहित्य का अवलोकन करते हैं तब सबसे पहले गणानुज्ञा-विधि का समुचित स्वरूप आचार्य हरिभद्रसूरि कृत पंचवस्तुक में दृष्टिगत होता है।[31] आचार्य हरिभद्रसूरि ने गणानुज्ञा के योग्य-अयोग्य कौन, अयोग्य को गणनायक पद पर आरूढ़ करने से लगने वाले दोष आदि का भी विवेचन किया है। इसके पश्चात यह विधि प्राचीनसामाचारी,[32] सुबोधासामाचारी,[33] विधिमार्गप्रपा[34] एवं आचारदिनकर[35] में परिलक्षित होती है। आचारदिनकर में इसे वाचनाचार्य के समान सम्पादित करने का निर्देश दिया गया है तथा उसके अतिरिक्त कृत्यों का भी सूचन किया है, स्वतन्त्र रूप से इसका वर्णन प्राप्त नहीं है। यह विधि पंचवस्तुक, प्राचीनसामाचारी आदि की अपेक्षा विधिमार्गप्रपा में अधिक स्पष्टता के साथ उल्लिखित है अत: यहाँ गणिपदानुज्ञा-विधि इसी ग्रन्थ के आधार पर प्रतिपादित करेंगे। इसके अनन्तर तत्सम्बन्धी कोई अन्य मौलिक या संकलित ग्रन्थ देखने में नहीं आया है।

गणिपद की स्थापना विधि

आचार्य जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा के अनुसार गणानुज्ञा-विधि निम्नलिखित है[36] –

वासदान – सर्वप्रथम शुभ मुहूर्त्त के दिन जिनालय, उपाश्रय या पवित्र स्थान पर नन्दी रचना करवायें। फिर उस जगह स्थापनाचार्य की स्थापना करें। पददाता गुरु का आसन बिछायें। उसके बाद गणधारण करने वाला शिष्य गुरु के वामपार्श्व में स्थित हो, एक खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन करके कहे – **''इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं दिगाइअणुजाणावणत्थं वासनिक्खेवं करेह''** हे भगवन्! आपकी इच्छा हो, तो दिशादि (पदयात्रा आदि) की अनुमति देने हेतु आप मुझ पर वासचूर्ण का क्षेपण करें। तब गुरु शिष्य के उत्तमांग पर वासचूर्ण डालें।

देववन्दन – तदनन्तर भावी गणधारक एक खमासमण देकर कहें– **''इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं दिगाइ अणुजाणावणियं नंदिकड्ढावणियं देवे वंदावेह'** – हे भगवन्! आपकी इच्छा हो, तो दिशादि की अनुमति प्रदान करने एवं नन्दी पाठ सुनाने के लिए मुझे देववन्दन करवाईए। उस समय गुरु पदग्राही शिष्य को अपनी बायीं ओर बिठाकर, जिनमें उच्चारण व अक्षर क्रमशः बढ़ते हुये हों ऐसी चार स्तुतियों द्वारा देववन्दन करवायें।

कायोत्सर्ग – उसके बाद शिष्य एक खमासमण पूर्वक वन्दन करके कहे – **"इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं दिगाइ अणुजाणावणियं नंदिकड्ढावणियं काउस्सग्गं कारेह"** हे भगवन्! आपकी इच्छा हो तो दिशादि की अनुमति देने निमित्त एवं नन्दी पाठ सुनाने के निमित्त कायोत्सर्ग करवाएं। तब गुरु और शिष्य दोनों ही **'दिगाइ अणुजाणावणियं करेमि काउस्सग्गं** पूर्वक **अन्नत्थसूत्र'** बोलकर एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग को **'नमो अरिहंताणं'** पद से पूर्णकर प्रकट में पुनः लोगस्ससूत्र बोलें।

नन्दी श्रवण – उसके पश्चात मूलगुरु स्वयं अथवा अन्य गीतार्थ शिष्य अनुज्ञा नन्दी के निमित्त तीन बार नमस्कारमन्त्र का उच्चारण कर नन्दीसूत्र सुनाएं। उस समय भावित मन वाला शिष्य भी तदनुरूप परिणत भाव वाला होकर नन्दीसूत्र सुनें।

वासाभिमन्त्रण – तत्पश्चात गुरु अपने आसन पर बैठकर एवं वासचूर्ण को अभिमन्त्रित कर जिनप्रतिमा के चरणों में उसका क्षेपण करें। फिर साधु-साध्वी आदि चतुर्विध संघ में उसे वितरित करें।

गणानुज्ञा प्रवेदन – 1. तदनन्तर भावी गणधारक एक खमासमण देकर कहें – **"इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं दिगाइ अणुजाणह"** हे भगवन्! आप इच्छापूर्वक मुझे दिशादि की अनुमति दीजिए। तब गुरु कहें – **"खमासमणाणं हत्थेणं इमस्स साहुस्स दिगाइ अणुन्नायं- अणुन्नायं- अणुन्नायं"** पूर्व पुरुषों की परम्परा का अनुसरण करते हुए उनकी भावानुमति पूर्वक इस साधु के लिए दिशादि की अनुमति दी गयी है- ऐसा तीन बार बोलें।

2. शिष्य पुनः एक खमासमण देकर कहें – **"संदिसह किं भणामो?"** हे भगवन्। आज्ञा दीजिए, अब मैं क्या कहूँ ? गुरु कहें – **"वंदित्ता पवेयह"** तुम वन्दन करके प्रवेदित करो।

3. तब शिष्य फिर से एक खमासमणसूत्र द्वारा वन्दन करके कहें – **"इच्छाकारेण तुब्भेहिं अम्हं दिगाइ अणुन्नायं, इच्छामो अणुसट्ठिं।"** – हे भगवन्! आपके द्वारा मुझे इच्छापूर्वक दिशादि की अनुमति दी जा चुकी है, अब गणधरपद के सम्बन्ध में हितशिक्षा की इच्छा करता हूँ। तब गुरु कहें – **"गुरुगुणेहिं वड्ढाहि"** – महान गुणों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त करो।

4. फिर शिष्य एक खमासमण द्वारा वन्दन कर कहें – **"तुम्हाणं पवेइयं,**

संदिसह साहूणं पवेएमि'' – हे भगवन्! मैं गणानुज्ञा के बारे में आपको कह चुका हूँ, अब आपकी आज्ञा पूर्वक मुनि संघ (चतुर्विधसंघ) को इस सम्बन्धी जानकारी देता हूँ।

गुरु कहें – **'पवेएहि'** चतुर्विधसंघ में गणानुज्ञा का प्रवेदन करो।

5. तदनन्तर नवीन गणनायक एक खमासमण देकर नमस्कारमन्त्र का उच्चारण करते हुए गुरु की तीन प्रदक्षिणा दें।

गुरु प्रदक्षिणा के दौरान में तीन बार उसके मस्तक पर वासचूर्ण डालते हुए **'गुरुगुणेहिं वड्ढाहि'** इस वाक्य से आशीर्वाद प्रदान करें। उस समय उपस्थित संघ भी पूर्वप्रदत्त वासचूर्ण को उनकी ओर उछालते हुए तीन बार बधाएं।

उसके बाद नूतन गणनायक **''तुम्हाणं पवेइयं, साहूणं पवेइयं, संदिसह काउस्सग्गं करेमि''** इसी के साथ **''दिगाइ अणुणत्थं करेमि काउस्सग्गं पूर्वक अन्नत्थसूत्र''** बोलकर एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्स पाठ बोलें। उसके बाद मूल आचार्य के समीप बैठ जाएं। फिर चतुर्विधसंघ नूतन गणनायक को वन्दन करें। उसके बाद मूलगुरु गणधर एवं गच्छयोग्य हितशिक्षा प्रदान करें।

नूतन गच्छाचार्य को हितशिक्षा दान

सर्वप्रथम मूलगुरु नूतन गणनायक को अनुशिक्षण देते हैं[37] –

तुम धन्य हो! तुमने वज्र से भी दुर्भेद संसाररूपी पर्वत को ध्वस्त करने वाले एवं संसार दुःख का हरण करने वाले महान जिन-आगम को जान लिया है अब तुम्हारे द्वारा इस पद को सम्यक रूप से आचरित किया जाना चाहिए।

यदि तुमने इस पद का यथोचित रूप से पालन नहीं किया तो तुम पर भारी ऋण चढ़ जाएगा। अतः तुम्हें इस पद पर रहते हुए केवलज्ञान उपलब्ध हो जाये, वैसा प्रयत्न करना है।

यह गणधरपद केवलज्ञान का परम हेतु है, अन्य प्राणियों के लिए मोहकर्म को उपशान्त करने वाला और स्वभावतः संवेग-निर्वेद आदि भावों को उत्पन्न करने वाला है। आपको जिस पद पर आरोपित किया गया है, वह सत सम्पदा का एक पद है, जो लोक में अति उत्तम और महापुरुषों द्वारा सेवित है।

धन्य आत्माओं को ही इस पद पर स्थापित किया जाता है। धन्य आत्माएँ ही इस पद का सम्यक् वहन करती हुई संसार समुद्र के पार पहुँचती है और

संसार के पार जाकर सर्व दुःखों से मुक्त हो जाती हैं। जो पुरुष संसार पीड़ित जीवों का रक्षण करने में समर्थ है वह ज्ञान आदि श्रेष्ठ गुणों को प्राप्त कर संसार से भयभीत बने हुए जीवों की रक्षा करता है, वह धन्य है।

आप भावरोग से पीड़ित लोगों के लिए श्रेष्ठ भाव वैद्य हैं। ये साधुगण भव दुःख से पीड़ित होकर तुम्हारी शरण में आए हैं अत: तुम प्रयत्नपूर्वक इन्हें भवरोगों से मुक्त करना।

गच्छ के अन्य मुनियों को हितशिक्षा दान

फिर मूलगुरु निश्रावर्ती अन्य मुनियों को हित शिक्षा देते हुए कहते हैं[38] –

तुम सब संसार रूपी भयंकर अटवी में सिद्धपुर के सार्थवाह रूप गुरु का क्षणभर के लिए भी त्याग मत करना। इनके ज्ञानराशि से युक्त वचनों के प्रतिकूल आचरण मत करना। तभी तुम्हारा यह गृहत्याग सफल होगा।

जो इस लोक में आचार्य की आज्ञाभंग करता है, उसके इहलोक और परलोक दोनों निश्चित रूप से विफल होते हैं।

जिस प्रकार कुलवधू के द्वारा अत्यन्त सावधानीपूर्वक किये गये कार्य की भर्त्सना या निन्दा होने पर भी वह गृहत्याग नहीं करती है उसी प्रकार तुम्हारे द्वारा किये गये कार्य की निर्भर्त्सना होने पर भी कुलवधू की भाँति यावज्जीवन गुरु चरणों का परित्याग मत करना।

गुरुकुल में वास करने वाला साधु वाचना आदि के द्वारा विशिष्ट श्रुतज्ञान को प्राप्त करता है, स्व-सिद्धान्त, पर-सिद्धान्त का स्वरूप समझ लेने से श्रद्धा में अतिशय स्थिर बनता है और बार-बार सारणा, वारणा, चोयणा आदि में अभ्यस्त होने से चारित्र में भी स्थिर होता है। इसलिए जो मुनि यावज्जीवन गुरुकुलवास परित्यक्त नहीं करते हैं, वे धन्य हैं।

तत्पश्चात मूलगुरु नूतन गच्छनायक को वस्त्र, पात्र, शिष्य आदि के गवेषणा की अनुज्ञा दें। उनसे कहें कि अब तक वस्त्र, पात्र, शिष्यादि की लब्धि गुरु के अधीन थी अर्थात गुरु द्वारा परीक्षित वस्त्र आदि ही तुम्हें दिया जाता था, आज से तुम स्वयं के लिए एवं गण (समुदाय) के लिए भी वस्त्र-पात्रादि की गवेषणा कर सकते हो।

उसके बाद नूतन आचार्य शिष्य समुदाय सहित मूल आचार्य की तीन प्रदक्षिणा देकर उन्हें द्वादशावर्त्त वन्दन करें। फिर प्रवेदन विधि करें। प्रवेदन के

समय गुरु परम्परागत सामाचारी के अनुसार तप का प्रत्याख्यान करें। फिर नूतन गणनायक स्वयं भी अन्य शिष्यों को व्याख्यान दें।

गणिपद पर स्थापित करते समय जिस गण की अनुज्ञा देते हैं उस गण का ही दिशिबन्ध करते हैं।

तुलनात्मक विवेचन

सामान्य रूप से गणानुज्ञा-विधि पंचवस्तुक आदि चार ग्रन्थों में प्राप्त होती है। तदनुसार तुलनात्मक अध्ययन इस प्रकार है –

वासदान की अपेक्षा– पंचवस्तुक[39] में नूतन गणि के मस्तक पर एक बार वासदान करने का उल्लेख है जबकि प्राचीनसामाचारी,[40] सुबोधासामाचारी[41] एवं विधिमार्गप्रपा[42] में इस विधि के प्रारम्भ में एवं अनुज्ञा दान के पश्चात प्रदक्षिणा करते समय ऐसे दो बार वासचूर्ण डालने का निर्देश है।

प्रदक्षिणा की अपेक्षा– सामान्यतया गुरु द्वारा गणिपद की अनुज्ञा दी जाने पर पदग्राही शिष्य द्वारा चतुर्विधसंघ के सूचनार्थ तीन प्रदक्षिणा देने का विधान है। तीनों ग्रन्थों में इस विषयक मतभेद हैं। पंचवस्तुक में समवसरण की, प्राचीनसामाचारी में समवसरण और गुरु दोनों की एक तथा विधिमार्गप्रपा में दो बार गुरु की प्रदक्षिणा देने का उल्लेख है।

वस्त्रादि ग्रहण के अनुज्ञा की अपेक्षा– विधिमार्गप्रपा[43] के अनुसार जिस शिष्य को गणनायक पद पर स्थापित किया जाता है उसे स्वलब्धि से वस्त्र, शिष्य आदि ग्रहण करने की अनुज्ञा भी दी जाती है, ऐसा उल्लेख पंचवस्तुक और प्राचीनसामाचारी में नहीं है। पंचवस्तुक में स्वलब्धिक की चर्चा तो की गई है किन्तु वह इस सन्दर्भ में नहीं है।

प्रत्याख्यान की अपेक्षा– नूतन गणि को गणानुज्ञा के दिन कौन सा तप करना चाहिए ? पंचवस्तुक में इस विषयक कुछ भी नहीं कहा गया है। प्राचीन सामाचारी में प्रत्याख्यान करने का सूचन अवश्य है, परन्तु तप विशेष का नामोल्लेख नहीं हैं। विधिमार्गप्रपा में परम्परागत सामाचारी के अनुसार तप करने का निर्देश है।

इस प्रकार उपलब्ध ग्रन्थों में कुछ विषयों को लेकर परस्पर मत-वैभिन्य हैं। इसके अतिरिक्त देववन्दन, नन्दी श्रवण, कायोत्सर्ग, प्रवेदन, हित शिक्षण आदि में प्रायः समरूपता है। आचारदिनकर में गणाचार्य को नन्दीपाठ सुनाने का निषेध है।

गणानुज्ञा पद के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि गणाचार्य को पूर्वपदों की भांति वर्द्धमानविद्या या सूरिमन्त्र पट्ट, कंबल परिमाण आसन, अक्ष आदि नहीं दिये जाते हैं क्योंकि यदि अनुयोग अनुज्ञा प्राप्त शिष्य को गणाचार्य पद पर स्थापित किया जाये, तब तो उसके लिए मन्त्रदान आदि की क्रिया पहले ही कर दी जाती है, दुबारा करना आवश्यक नहीं है। कदाच् सामान्य गुणवान साधु को गण के नेतृत्व की अनुज्ञा दी जाये, तो वह प्रज्ञाबल एवं स्वलब्धि से सब कुछ संगृहीत एवं मन्त्र आदि को सिद्ध कर लेता है। जहाँ तक शक्य हो, पूर्वाचार्य को ही गणाचार्य पद पर आसीन किया जाता है। सम्भवत: इसी अपेक्षा से आसनदान, मन्त्रश्रवण आदि का निर्देश नहीं किया गया है।

यदि हम विविध परम्पराओं की दृष्टि से गणानुज्ञा-विधि का तुलनीय पक्ष देखें तो ज्ञात होता है कि प्रस्तुत विधि पंचवस्तुक एवं प्राचीनसामाचारी में कही गई और ये दोनों ग्रन्थ किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं है।

दिगम्बर-साहित्य में यह विधि देखने को नहीं मिली है। वैदिक-परम्परा में इस तरह के पद का ही अभाव है। बौद्ध-साहित्य में 'गणिनी' पद के उल्लेख स्पष्ट रूप से हैं, इस अपेक्षा गणिपद की व्यवस्था भी होनी ही चाहिए।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि गणानुज्ञा जैसी पदव्यवस्था जैन धर्म में पुरातनकाल से प्रचलित रही है। भगवान महावीर के शासनकाल में गणि-गणधर पद के स्पष्ट प्रमाण हैं। जहाँ तक पद देने की विधि का प्रश्न है वह मध्यकालीन ग्रन्थों में पायी जाती है। खरतरगच्छीय आचार्य जिनप्रभसूरि ने अन्य ग्रन्थकारों की तुलना में इस विधि को अधिक स्पष्टता के साथ कहा है।

उपसंहार

गणिपद श्रमणसंघ की सुदृढ़ व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण पद है। जब मूलगुरु (गच्छनायक) दीक्षा, उपस्थापना, योगोद्वहन, प्रतिष्ठा आदि शासन प्रभावना के कार्यों को यथोचित रूप से सम्पादित करते हुए अपनी आयु को समीप जान ले तब अनुयोगाचार्य अथवा गुणप्रधान शिष्य को गणानुज्ञा-पद प्रदान करते हैं।

पूर्व परम्परा से मूलगुरु के द्वारा भी इस पद पर नियुक्ति की जाती है और योग्य शिष्य स्व-इच्छा से भी यह पद स्वीकृत करता है। जब मूलगुरु प्रदान करते हैं तब किसी स्थविर की अनुमति लेना आवश्यक नहीं है, किन्तु स्वेच्छा से अंगीकार करने पर स्थविर की अनुज्ञा प्राप्त करना अत्यावश्यक है वरना प्रायश्चित्त आता है।

व्यवहारभाष्य के उल्लेखानुसार सुयोग्य मुनि आहार, उपधि और पूजा प्राप्ति के लिए इस पद को धारण नहीं करें, केवल कर्मों के निर्जरार्थ गण को स्वीकार करे।[44] जो मुनि धर्मप्रभावना, कर्मनिर्जरा एवं आत्मशुद्धि के उद्देश्य से इस पद पर आरूढ़ होते हैं वे विशिष्ट लब्धि से युक्त बनते हैं। फलस्वरूप गणधारी का आहार, उपकरण और संस्तव (गुणकीर्तन) उत्कृष्ट होता है। शिष्यों, प्रतीच्छिकों (अतिथि साधुओं), गृहस्थों एवं अन्य तीर्थिकों द्वारा उसे सम्मान प्राप्त होता है। यह गणाचार्य सूत्र और अर्थ से परिपूर्ण है, आगाढ़प्रज्ञा वाले (जिन्हें कठिनाई से सीखा जाए ऐसे) शास्त्रों का ज्ञाता है, भावितात्मा है, अच्छे कुल में उत्पन्न हुआ है, विशुद्ध भाव से युक्त है – इस प्रकार उसके विद्यमान गुणों की सभी उत्कीर्तना-प्रशंसा करते हैं। यथोक्त गुणसम्पन्न गणाचार्य की स्तवना, पूजा करने से आगम बहुमानित होता है, अर्हत आज्ञा की अनुपालना होती है, अभावित शिष्यों में स्थिरत्व आता है, विनय के निमित्त से नित्यप्रति कर्म निर्जरा होती है और अहंकार नष्ट होता है।

जिस प्रकार लौकिक धर्म के निमित्त खुदवाये गये तालाब में पद्म आदि स्वतः खिल उठते हैं। यदि पानी सूख भी जाए तो वहाँ धान्य की बुवाई करके उसका उपयोग करने पर वह निंदनीय नहीं माना जाता है इसी प्रकार जो निर्जरा के लिए गणधारण करता है वह उसके पूजा का ही हेतु बनता है। भावार्थ है कि गणधारक परोपकार के लक्ष्य से सम्पृक्त होना चाहिए। इस भावना से अंगीकृत पद स्व-पर के लिए हितकारी एवं सुखकारी होता है। साथ ही गणधारक की पूजा, प्रतिष्ठा एवं प्रशंसा का हेतु बनता है।

सन्दर्भ-सूची

1. *अनुत्तरज्ञानदर्शनादिगुणानां गणं धारयन्तीति गणधराः।*
   आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 82 की मलयगिरि टीका
2. *जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 500-501*
3. *पाइयसद्दमहण्णवो, पृ. 286*
4. *गणो यस्य अस्तीति गणि। गणस्य आचार्यो गणाचार्यो वा।*
   स्थानांगसूत्र, अभयदेवटीका, पृ. 232.
5. *यस्य पार्श्वे आचार्याः सूत्रार्थ अभ्यस्यन्ति। आचारांगचूर्णि, पृ. 326*
6. *जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 500*

7. *घित्तुं च सुहं सुहगणण, धारणा दाउं पुच्छिउं चेव।*
एएहिं कारणेहिं, जीयंति कयं गणहरेहिं॥
आवश्यकनिर्युक्ति, 91
8. *विशेषावश्यकभाष्य, 1117*
9. *आवश्यकनिर्युक्ति, 588 की चूर्णि, भा. 1, पृ. 332-333*
10. *पंचवस्तुक, 1318*
11. *वही, 1319*
12. *वही, 1322*
13. *व्यवहारभाष्य, 2333-2334*
14. *व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 3/1*
15. *व्यवहारभाष्य, 1376*
16. *व्यवहारसूत्र, पृ. 309*
17. *वही, पृ. 310*
18. *व्यवहारभाष्य, 1398-1399*
19. *वही, 1396*
20. *सुतत्थे निम्माओ, पियदढ धम्मोऽणुवत्तणा,*
जाईकुलसंपन्नो, गंभीरो लद्धिमंतो कुसलो य।
संगहुवग्गह निरओ, कयकरणो पवयणाणुरागी य,
एवं विहो उ भणिओ, गणसामी जिणवरिंदेहिं॥
पंचवस्तुक, 1315-16
21. *विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 213*
22. *धर्मसंग्रह, गा. 135-136, भा. 3, पृ. 515*
23. *आचारदिनकर, पृ. 112*
24. *(क) व्यवहारभाष्य, 1422-1429*
(ख) भिक्षुआगमकोश, भा. 2, पृ. 67
25. *व्यवहारभाष्य, 1406-1407*
26. *आचारचूला, संपा. मधुकरमुनि, 1/6/399*
27. *व्यवहारसूत्र, 3/1-2*
28. *आवश्यकचूर्णि, भा. 1, पृ. 86*
29. *आवश्यक हारिभद्रीय टीका, भा. 1, पृ. 94*
30. *व्यवहारभाष्य, 1422-1429, 1474, 1406-1407*
31. *पंचवस्तुक, 1314-1357*

32. प्राचीनसामाचारी, पृ. 27
33. सुबोधासामाचारी, पृ. 20
34. विधिमार्गप्रपा, 213-217
35. आचारदिनकर, पृ. 112
36. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 213-217
37. (क) विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 215-216
(ख) पंचवस्तुक, गा. 1347-1353
38. (क) विधिमार्गप्रपा, पृ. 216-217
(ख) पंचवस्तुक, गा. 1354-1357
39. पंचवस्तुक, गा. 1336-1346
40. प्राचीनसामाचारी, पृ. 27
41. सुबोधासामाचारी, पृ. 20
42. विधिमार्गप्रपा, पृ. 213-217
43. वही, पृ. 217
44. व्यवहारभाष्य, 1400-1405

●

अध्याय-7

उपाध्याय पदस्थापना विधि का वैज्ञानिक स्वरूप

जैन पद व्यवस्था में उपाध्याय पद विशिष्ट स्थान रखता है। परवर्ती पद-व्यवस्था के क्रम में उपाध्याय का दूसरा स्थान माना गया है, किन्तु योग्यता के आधार पर इन्हें चौथा स्थान प्राप्त है। सूत्रार्थ के विशिष्ट ज्ञाता एवं सूत्र-वाचना द्वारा शिष्यों के निष्पादन में कुशल मुनि उपाध्याय कहलाते हैं। सामान्यत: उपाध्याय सूत्रप्रदाता एवं आचार्य अर्थदाता कहे जाते हैं।

उपाध्याय को ज्ञान के अधिदेवता, संघ रूपी नन्दनवन के कुशल माली, ज्ञान रूपी वृक्ष का अभिसिंचन करने वाले अधिनायक एवं आगम पाठों को सुरक्षित रखने वाले सुयोग्य शिल्पी की उपमा दी गई है। उपाध्याय प्रज्वलित दीपक के समान होते हैं, जो दूसरे अप्रकाशित दीपकों को अपनी ज्ञान ज्योति के स्पर्श से प्रकाशमान बनाते हैं। जिस प्रकार अन्धे को चक्षुदान देना उत्तम कार्य है उसी प्रकार अज्ञानी को ज्ञानदान करना श्रेष्ठ पुण्यमय कर्म है, यह पुण्य कार्य उपाध्याय करते हैं।

उपाध्याय शब्द के विभिन्न अर्थ

उपाध्याय का मूल प्राकृत रूप 'उवज्झाय' है। उवज्झाय शब्द का संस्कृत रूप उपाध्याय होता है।

• उपाध्याय शब्द 'उप्' + 'अधि' उपसर्ग एवं 'इण् गतौ' धातु से निष्पन्न है। उप् का अर्थ - समीप, अधि का अर्थ - आधिक्य, इण् का अर्थ-स्मरण, अथवा अध्ययन करना, गमन करना है। स्पष्टतया जिनके समीप आगम सिद्धान्तों का अधिकता के साथ अध्ययन किया जाता है, ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह उपाध्याय है।

• संस्कृत-हिन्दी कोश में उपाध्याय के अध्यापक, गुरु, अध्यात्म गुरु, धर्म शिक्षक, आचार्य से निम्न पदवी धारक आदि अर्थ बताये गये हैं[1]

• बृहत्-हिन्दी कोश में उपाध्याय को 1. वेद-वेदांग पढ़ाने वाला और 2. अध्यापक कहा गया है।[2]

• प्राकृत-हिन्दी कोश के अनुसार उपाध्याय के तीन अर्थ हैं –

1. पढ़ाने वाला 2. सूत्राध्यापक और 3. जैन मुनि की एक पदवी।[3]

प्रस्तुत अध्याय में उक्त तीनों ही अर्थ मान्य हैं।

• उवज्झाय शब्द की निर्युक्ति करते हुए लिखा गया है कि 'उ' का अर्थ–उपयोगपूर्वक, 'वज्झाय' का अर्थ-ध्यान युक्त। जो श्रुतसागर के अवगाहन में सदा उपयोगपूर्वक ध्यान करते हैं, वे उपाध्याय हैं।[4]

संक्षेपतः जिनके समीप शास्त्र का ज्ञान अर्जित किया जाए अथवा जो आगम-ग्रन्थों का अध्ययन करवाते हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं।

उपाध्याय की मौलिक परिभाषाएँ

• आवश्यकटीका में उपाध्याय का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ बताते हुए कहा गया है कि **"उपेत्य अधीयतेऽस्मात् साधवः सूत्रमित्युपाध्यायः"** – जिनके पास मुनिगण सूत्र का अध्ययन करते हैं, वे उपाध्याय हैं।[5]

• आचारांगटीका में उपाध्याय को अध्यापक कहा गया है।[6]

• भगवतीआराधना में 'उपाध्याय' का व्युत्पत्ति मूलक निम्न अर्थ किया गया है– **"रत्नत्रयेषूद्यता जिनागमार्थं सम्यगुपदिशंति ये ते उपाध्यायाः"** अर्थात जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नत्रय की आराधना में स्वयं निपुण होकर दूसरों को आगमों के अर्थ का सम्यक् उपदेश देते हैं, वे उपाध्याय हैं।[7]

• आवश्यकनिर्युक्तिकार के अनुसार जो स्वयं अर्हत् प्रणीत द्वादशांगी (आचारांग आदि 11 अंग सूत्र) का स्वाध्याय करते हैं और शिष्यों को उनका उपदेश (वाचना) देते हैं, वे उपाध्याय हैं।[8]

• आचार्य भद्रबाहु ने 'उवज्झाय' शब्द का निरूक्तार्थ इस प्रकार किया है– उवज्झाओ (उपाध्याय) में **'उ'** का अर्थ उपयोग, **'व'** का अर्थ पाप वर्जन, **'झा'** का अर्थ ध्यान और **'ओ'** का अर्थ कर्म का अपनयन है।[9] जो सूत्रार्थ में उपयोगवान हैं, पापभीरू हैं, श्रुतसागर के ध्यान में लीन हैं तथा पाप कर्म का अपनयन करने में संलग्न हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं अथवा जो सूत्र वाचना देने में अपने सूक्ष्म चिन्तन का उपयोग करते हैं, वे उपाध्याय हैं।

• विशेषावश्यकभाष्य के उल्लेखानुसार जिनके समीप शिष्य आकर पढ़ते हैं अथवा जो समागत शिष्यों को पढ़ाते हैं, वे उपाध्याय हैं अथवा जो स्व-पर

हित के उपाय का चिन्तन करते हैं वे उपाध्याय हैं।[10]

• विशेषावश्यकभाष्य में उपाध्याय की दूसरी परिभाषा दर्शाते हुए कहा गया है कि जो धर्म का उपदेश देकर शिष्यों को दीक्षित करते हैं, उन्हें वाचना देते हैं, विहार यात्रा की अनुज्ञा देते हैं, वे आचार्य कहे जाते हैं तथा श्रुत वाचनाचार्य को उपाध्याय कहा गया है।[11]

• व्यवहारभाष्य के निर्देशानुसार जो सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ के ज्ञाता हैं, ज्ञान- दर्शन-चारित्र में उद्यत हैं और शिष्यों के निष्पादक हैं, वे उपाध्याय हैं।[12]

• दशवैकालिकचूर्णि के मतानुसार जो आचार्य पद पर प्रतिष्ठित नहीं हैं और गणधर पद के योग्य हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं।[13]

• विद्वानों की मान्यतानुसार उपधि का एक अर्थ सन्निधि है। जिनकी सन्निधि या सान्निध्य में श्रुतज्ञान का लाभ होता है, जिसे सुनकर श्रुत-ज्ञान प्राप्त किया जाता है अथवा जिनके सामीप्य से उपाधि यानी सुन्दर विशेषण या विशेषताएँ प्राप्त की जाती हैं वे उपाध्याय हैं।

दूसरी परिभाषा के अनुसार जिनका सान्निध्य आय = इष्ट फलों का कारणभूत हैं और जो स्वयं इष्ट फलदायी हैं, वे उपाध्याय कहे जाते हैं

तीसरी परिभाषा 'आधि' शब्द पर आधारित है। मानसिक पीड़ा को आधि कहते हैं। आधि की आय या लाभ आध्याय होता है अथवा आधि का अर्थ कुबुद्धि है। कुबुद्धि का लाभ आध्याय कहा जाता है। आध्याय का एक अर्थ दुर्ध्यान या दूषित ध्यान है जिन्होंने आध्याय को नष्टकर दिया है वे उपाध्याय हैं।[14]

• मूलाचार में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर और गणधर इन पाँचों को संघ का आधार माना गया है तथा इसके टीकार्थ में उपाध्याय की द्विविध परिभाषाएँ प्रस्तुत की गयी है–[15]

1. **'उपेत्यास्मादधीयते उपाध्यायः'** अर्थात जिनके पास में जाकर अध्ययन किया जाता है, वे उपाध्याय हैं।

2. **'धर्मस्य दशप्रकारस्योपदेशकः कथकः धर्मोपदेशकः'** अर्थात दश प्रकार के धर्म को कहने वाले उपाध्याय कहलाते हैं।

सार रूप में कहें तो जो विशिष्ट श्रुत के अध्यापक होते हैं और दूसरों को श्रुत का अध्ययन करवाते हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं।

उपाध्याय के अन्य नाम

उपाध्याय को अभिषेक, प्रतीच्छक, वृषभ, बहुश्रुत, आगमवृद्ध आदि भी कहा जाता है।

बृहत्कल्पभाष्य में उपाध्याय को अभिषेक कहा गया है।[16] यहाँ अभिषेक का स्वरूप बताते हुए निर्दिष्ट किया है कि अभिषेक नियमत: श्रुत निष्पन्न होता है, अन्यथा उसमें आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने की योग्यता ही नहीं होती।[17]

उपाध्याय गच्छान्तर से उपसम्पदा हेतु आये साधुओं को वाचनादान करते हैं अत: प्रतीच्छक कहलाते हैं।[18]

उपाध्याय वृषभ के समान शक्ति सम्पन्न होने के कारण वृषभ कहलाते हैं।[19]

व्यवहारसूत्र के अनुसार जो अंगबाह्य, अंगप्रविष्ट आदि श्रुतागमों के ज्ञाता एवं अनेकों साधकों की चारित्रशुद्धि करते हैं वे बहुश्रुत कहलाते हैं।[20]

स्थानांगसूत्र में कहा है कि जिसका सूत्र और अर्थ रूप से प्रचुर श्रुत पर अधिकार हो अथवा जो जघन्यत: नौवें पूर्व की तृतीय वस्तु का और उत्कृष्टत: दश पूर्वों का ज्ञाता हो, वह बहुश्रुत है अथवा जो आचारांग आदि कालोचित सूत्रों का ज्ञाता हो, वह बहुश्रुती कहलाता है।[21]

बृहत्कल्पसूत्र में बहुश्रुत की तीन कोटियां प्रतिपादित की गयी हैं–[22]

1. **जघन्य बहुश्रुत** - जो आचार प्रकल्प एवं निशीथ का ज्ञाता हो।
2. **मध्यम बहुश्रुत** - जो बृहत्कल्प एवं व्यवहारसूत्र का ज्ञाता हो।
3. **उत्कृष्ट बहुश्रुत** - नौवें या दसवें पूर्व तक का धारक हो।

उपर्युक्त भेदों में दूसरे-तीसरे प्रकार की तुलना उपाध्याय के साथ की जा सकती है।

इस प्रकार उपाध्याय के सभी नाम सार्थक एवं अन्वर्थक हैं।

उपाध्याय के गुण

जैन आम्नाय में उपाध्याय के पच्चीस गुण माने गये हैं। उन गुणों की गणना मुख्यतया दो प्रकार से प्राप्त होती है। प्रथम गणना के अनुसार पच्चीस गुण इस प्रकार हैं – ग्यारह अंग, बारह उपांग, चरणसत्तरी – नियमित रूप से जिनका आचरण किया जाए ऐसे महाव्रत आदि अनुष्ठान और करणसत्तरी- विशेष प्रयोजन से जिनका आचरण किया जाए ऐसे प्रतिलेखना आदि अनुष्ठान। इन गुणों का ज्ञाता एवं पालन कर्त्ता उपाध्याय कहलाता है।[23]

दूसरी परिगणना के अनुसार पच्चीस गुण इस प्रकार हैं – (1-12) बारह अंगों के वेत्ता (13) करणगुण सम्पन्न (14) चरणगुण सम्पन्न (15-22) आठ प्रकार के प्रभावक गुणों से युक्त (23-25) मन, वचन और काय योग को वश में करने वाले उपाध्याय कहलाते हैं।[24]

सम्बोध प्रकरण में उपाध्याय के गुणों की पच्चीस-पच्चीसी का भी वर्णन प्राप्त होता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने भी नवपदपूजा में इन्हीं गुणों की चर्चा करते हुए लिखा है कि **''धरे पंचने वर्ग वर्गित गुणौघा''** अर्थात उपाध्याय पांच वर्ग से वर्गित गुणों को धारण करते हैं जैसे - 5×5 = 25 इस प्रकार पचीस-पच्चीसी यानी 25×25 = 625 गुणों को धारण करने वाले होते हैं। इसका सुस्पष्ट वर्णन इस प्रकार है[25]–

1.) 11 अंग एवं 14 पूर्व का अध्ययन-अध्यापन करने-करवाने वाले होने से (11+14 = 25) गुण युक्त हैं।

2.) 11 अंग, 12 उपांग, 1 चरणसत्तरी एवं 1 करणसत्तरी गुण को धारण करने-करवाने वाले होने से (11+12+1+1 = 25) गुण युक्त हैं।

3.) ज्ञान सम्बन्धी 14 प्रकार की आशातना न करने वाले, न करवाने वाले तथा स्वर्ण के 11 गुण को धारण करने वाले होने से (14+11 = 25) गुण युक्त हैं।

4.) 13 क्रिया स्थानों का त्याग करने वाले, 7 द्रव्यों के ज्ञाता एवं 6 षड्जीवनिकायों की रक्षा करने वाले होने से (13+7+6 = 25) गुण युक्त हैं।

5.) 14 गुणस्थान एवं 11 उपासक प्रतिमा की प्ररूपणा करने वाले होने से (14+11 = 25) गुण धारक हैं।

6.) 5 महाव्रत की 25 भावनाओं को धारण करने वाले होने से (5 × 5 = 25) गुण युक्त हैं।

7.) 25 कन्दर्पादि अशुभ भावनाओं का त्याग करने वाले होने से (14 + 11 = 25) गुण युक्त हैं।

8.) प्रज्ञापिनी भाषा (विनयवान् शिष्य को उपदेश देने में उपयोगी भाषा) द्वारा पूजा के 8 एवं 17 भेदों के उपदेष्टा होने से (8+17 = 25) गुण धारक हैं।

9.) 4 प्रकार की प्रतिपत्ति एवं पूजा के 21 भेदों के ज्ञाता होने से (4+21 = 25) गुण वाले हैं।

10.) 5 इन्द्रियों के 23 विषय एवं राग और द्वेष का परिहार करने वाले होने से (23+1+1 = 25) गुण धारक हैं।

11.) चतुर्विध संघ में मिथ्यात्व के 21 भेदों की 4 प्रकार से प्ररूपणा करने वाले होने से (21+4 = 25) गुण युक्त हैं।

12.) जीव के 14 भेदों को 8 विकल्पों के साथ जानने वाले एवं पालन करने वाले तथा अंग, अग्र एवं भाव पूजा के ज्ञाता होने से (14+8+3 = 25) गुण धारक हैं।

13.) 8 अनन्त एवं 8 पुद्गल परावर्त्त के स्वरूप को जानने वाले और 9 निदान का त्याग करने वाले होने से (8+8+9 = 25) गुण युक्त है।

14.) 9 तत्त्व, 9 क्षेत्र एवं 7 नय के परिज्ञाता होने से (9+9+7 = 25) गुणधारी है।

15.) 4 निक्षेप, 4 अनुयोग, 4 धर्मकथा, 4 विकथा का त्याग, 4 दान आदि धर्म एवं 5 करण के विशिष्ट ज्ञाता होने से (4+4+4+4+5 = 25) गुण धारक हैं।

16.) 5 ज्ञान, 5 व्यवहार, 5 सम्यक्त्व, 5 प्रवचन के अंग एवं 5 प्रमाद के अनुज्ञाता होने से (5+5+5+5+5 = 25) गुण युक्त हैं।

17.) 12 व्रत, 10 रूचि एवं 3 प्रकार के विधिवाद को जानने वाले होने से (12+10+3 = 25) गुणधारी है।

18.) 3 प्रकार की हिंसा, 3 प्रकार की अहिंसा और कायोत्सर्ग सम्बन्धी 19 दोष के सम्यक् ज्ञाता होने से (3+3+19 = 25) गुण युक्त हैं।

19.) 8 आत्मा, 8 प्रवचनमाता, 8 मद का त्याग एवं 1 प्रकार की श्रद्धा आदि के स्वरूप को जानने वाले होने से (8+8+8+1 = 25) गुणधारी हैं।

20.) श्रावक के 21 गुण एवं 4 प्रकार की वृत्ति के ज्ञाता होने से (21+4 = 25) गुण युक्त हैं।

21.) 3 अतत्त्व, 3 तत्त्व, 3 गारव, 3 शल्य, 7 लेश्या, 3 दण्ड एवं 4 करण के ज्ञाता होने से (3+3+3+3+6+3+4 = 25) गुण युक्त हैं।

22.) तीर्थङ्कर नामकर्म का उपार्जन करने वाले 20 स्थान एवं पंचाचार को जानने वाले होने से (20+5 = 25) गुण युक्त हैं।

23.) अरिहन्त के 12 गुण, सिद्ध के 8 गुण एवं 5 प्रकार की भक्ति के ज्ञाता होने से (12+8+5 = 25) गुण धारक है।

24.) 15 प्रकार के सिद्ध एवं 10 त्रिक के परिज्ञाता होने से (15+10 = 25) गुण युक्त है।

25.) 16 आगार एवं संसारी जीव के 9 प्रकार के स्वरूप को जानने वाले होने से (16+9 = 25) गुण धारी है।

इस प्रकार उपाध्याय 25×25= 625 गुणों से युक्त होते हैं।

उपाध्याय (बहुश्रुत) की उपमाएँ

किसी भी श्रेष्ठ या निकृष्ट वस्तु स्वरूप को समझने-समझाने के लिए उपमान (उदाहरण) का प्रयोग किया जाता है क्योंकि प्रसिद्ध वस्तु के साथ जब उस वस्तु की तुलना की जाती है तो उसके गुण धर्म का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। तदर्थ उत्तराध्ययनसूत्र के ग्यारहवें अध्ययन में बहुश्रुत (उपाध्याय बहुश्रुती होते हैं) को सोलह उपमाएँ दी गयी हैं। उनके आधार पर उपाध्याय की विशेषताओं का स्पष्ट आभास होता है वे निम्नानुसार हैं–[26]

1. शंख – जैसे शंख में भरा हुआ दूध अपने और अपने आधार के गुणों के कारण दोनों प्रकार से सुशोभित होता है अर्थात वह अकलुषित और निर्विकार रहता है। जैसे वासुदेव के पञ्चजन्य शंख की ध्वनि का श्रवण करने मात्र से शत्रु की सेना भाग जाती है, उसी प्रकार उपाध्याय द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान नष्ट नहीं होता है, प्रत्युत अधिक शोभा देता है एवं उपाध्याय के उपदेश की ध्वनि सुनकर पाखण्ड और पाखण्डी पलायन कर जाते हैं।

2. काम्बोज अश्व – जिस प्रकार कम्बोज देश में उत्पन्न अश्वों में कन्थक अश्व शील आदि गुणों से युक्त और वेग (स्फूर्ति) में श्रेष्ठ होता है तथा दोनों ओर वादिंत्रों द्वारा सुशोभित होता है उसी प्रकार उपाध्याय श्रुत, शीलादि गुणों और जातिमान गुणों से श्रेष्ठ होता है तथा स्वाध्याय की मधुर ध्वनि रूप वादिंत्र के घोष से शोभायमान होते हैं।

3. शूर-सुभट – जिस प्रकार अश्व पर आरूढ़ हुआ शूरवीर योद्धा दोनों ओर से (अगल-बगल या आगे-पीछे) होने वाले नान्दीघोष (विजयवाद्यों या जयकारों) से सुशोभित होता है उसी प्रकार उपाध्याय भी स्वाध्याय के मांगलिक स्वरों से सुशोभित होता है अथवा जैसे भाट,चारण और बन्दीजनों की

विरूदावली से उत्साहित हुआ शूरवीर शत्रु को पराजित करता है वैसे ही उपाध्याय चतुर्विध संघ की गुणकीर्त्तन रूप विरूदावली से उत्साहित होकर मिथ्यात्व का पराजय करते हैं।

4. **हस्ति** – जिस प्रकार हथिनियों से घिरा हुआ साठ वर्ष का बलिष्ठ हाथी किसी से पराजित नहीं होता, उसी प्रकार उपाध्याय औत्पातिकी आदि बुद्धि रूपी हथिनियों एवं विविध विद्याओं से युक्त होकर वितण्डवादियों से पराजित नहीं होता है।

5. **वृषभ** – जिस प्रकार तीखें सींगों वाला, बलिष्ठ स्कन्धों वाला एवं अनेक गायों के समूह से युक्त वृषभ (बैल) यूथ के अधिपति के रूप में सुशोभित होता है उसी प्रकार उपाध्याय स्वशास्त्र-परशास्त्र रूप तीक्ष्ण सींगों से, गच्छ का गुरुतर कार्यभार उठाने में समर्थ स्कन्ध से तथा साधु आदि संघ के अधिपति-आचार्य के रूप में सुशोभित होता है।

6. **केसरी सिंह** – जिस प्रकार तीक्ष्ण दाढ़ों वाला, पूर्ण वयस्क एवं अपराजेय केसरी (सिंह) वन्य प्राणियों में श्रेष्ठ होता है उसी प्रकार बहुश्रुत, नैगमादि सात नय रूप दाढ़ों से एवं प्रतिभा आदि गुणों से परवादियों को पराजित करने के कारण दुर्जय एवं श्रेष्ठ होता है।

7. **वासुदेव** – जैसे तीन खण्ड का अधिपति वासुदेव शंख, चक्र और गदा को धारण करने वाला और सात रत्नों से सुशोभित होता है उसी प्रकार उपाध्याय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप त्रिविध आयुधों से युक्त एवं सात नय रूपी सप्त रत्नों से सुशोभित होते हैं।

8. **चक्रवर्ती** – जिस प्रकार चक्रवर्ती छः खण्डों का अधिपति और चौदह रत्नों को धारण करने वाला होने से परम सुशोभित होता है उसी प्रकार उपाध्याय षट् द्रव्य के ज्ञाता तथा चौदहपूर्व रूप चौदह रत्नों के धारक होने से शोभा पाते हैं।

9. **इन्द्र** – जिस प्रकार हजार नेत्रों वाला और हाथ में वज्र रखने वाला पुरन्दर (शक्र) देवों का अधिपति होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी देवों द्वारा पूज्य होने से एवं सहस्रों तर्क-वितर्क वाले तथा अनेकान्त, स्याद्वाद रूप वज्र के धारक असंख्य भव्य प्राणियों के स्वामी होते हैं।

10. **सूर्य** – जिस प्रकार अन्धकार को नष्ट करने वाला एवं सहस्र किरणों

से जाज्वल्यमान सूर्य गगन मण्डल में शोभा पाता है, उसी प्रकार निर्मल ज्ञान रूपी किरणों से मिथ्यात्व और अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले उपाध्याय जैन संघ रूपी गगन में सुशोभित होते हैं।

11. पूर्णचन्द्र – जिस प्रकार ग्रहों, नक्षत्रों और तारागणों से घिरा हुआ चन्द्रमा शरद-पूर्णिमा की रात्रि को समस्त कलाओं से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार उपाध्याय साधुगण रूप ग्रहों से, साध्वीगण रूप नक्षत्रों से, श्रावक-श्राविका रूप तारामण्डल से घिरे हुए ज्ञान आदि सकल कलाओं से परिपूर्ण होता है।

12. सुरक्षित कोष्ठागार – जिस प्रकार मूषक आदि के उपद्रव रहित और सुदृढ़ द्वारों से अवरूद्ध कोठार सुरक्षित एवं अनेक प्रकार के धान्यों से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार उपाध्याय गच्छवासी जनों के लिए सुरक्षित एवं निश्चय व्यवहार रूप दृढ़ किवाड़ों से तथा ग्यारह अंग और बारह उपांग के ज्ञान रूप धान्यों से परिपूर्ण होते हैं।

13. सुदर्शन जम्बूवृक्ष – जिस प्रकार जम्बूद्वीप के अधिष्ठाता अनादृत देव का सुदर्शन नामक जम्बूवृक्ष सब वृक्षों में श्रेष्ठ होता है उसी प्रकार उपाध्याय आर्य क्षेत्र के साधुओं में अमृत फल तुल्य श्रुतज्ञान युक्त एवं देव पूज्य होने से श्रेष्ठ होते हैं।

14. सीता नदी – जिस प्रकार नीलवन्त वर्षधर पर्वत से निःसृत जल प्रवाह से परिपूर्ण एवं समुद्रगामिनी सीता नदी पाँच लाख बत्तीस हजार नदियों में श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार उपाध्याय भी वीर हिमाचल से निःसृत निर्मल श्रुतज्ञान रूपी जल से पूर्ण, मोक्ष रूप-महासमुद्रगामी एवं समस्त श्रुतज्ञानी साधुओं में श्रेष्ठ होते हैं।

15. मन्दर मेरू – जिस प्रकार सभी पर्वतों में सुमेरू पर्वत अनेक उत्तम औषधियों से एवं चार वनों से शोभित होता है उसी प्रकार उपाध्याय अनेक लब्धियों एवं चतुर्विध संघ से शोभित होते हैं।

16. स्वयंभूरमण समुद्र – जिस प्रकार स्वयम्भूरमण समुद्र अक्षय और नानाविध रत्नों से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार उपाध्याय नानाविध ज्ञानादि रत्नों से परिपूर्ण होते हैं।

निर्विवादत: उपाध्याय ज्ञानदीप को प्रज्वलित रखते हुए श्रुत-परम्परा को

प्रवर्द्धमान रखते हैं और समग्र जैन तीर्थ में चतुर्थ परमेष्ठि के रूप में वन्द्य एवं आराध्य होते हैं।

उपाध्याय ही सूत्र वाचना के अधिकारी क्यों ?

व्यवहारभाष्य के अनुसार उपाध्याय सूत्र की वाचना देते हुए स्वयं अर्थ का भी अनुचिन्तन करते हैं, जिससे उनकी सूत्र और अर्थ में स्थिरता बढ़ जाती है।

• वे गण के सूत्रात्मक ऋण से मुक्त हो जाते हैं।

• आगामी काल में आचार्य पद से अप्रतिबन्धित होने के कारण सूत्र का अनुवर्त्तन करते हुए उसके अत्यन्त अभ्यस्त हो जाते हैं।

• गच्छान्तर से आगत साधुओं को वाचना देकर अनुगृहीत करते हैं।

• उपाध्याय भगवन्त मोहजयी आदि गुणों से सम्पन्न होने के कारण सूत्र वाचना के लिए पूर्ण अधिकृत होते हैं।[27]

आचार्य-उपाध्याय एवं वाचनाचार्य में मुख्य अन्तर?

आचार्य, उपाध्याय एवं वाचनाचार्य इन तीनों में मुख्य रूप से निम्न अन्तर हैं-

• आचार्य आचार की देशना देते हैं और उपाध्याय शिक्षा का कार्य करते हैं।

• आचार्य अर्थ पदों की वाचना देते हैं और उपाध्याय सूत्र पदों की वाचना करते हैं।[28]

• कदाचित सूत्रवाचक उपाध्याय अर्थवाचक भी होते हैं।[29]

• उपाध्याय द्वारा संदिष्ट उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा-अनुयोग का प्रवर्त्तन करने वाला अर्थात सूत्र और अर्थ की वाचना देने वाला वाचनाचार्य कहलाता है।[30]

• आगमिक टीकाओं में उपाध्याय को वाचक नाम से भी सम्बोधित किया गया है और उसकी परम्परा को वाचकवंश कहा है।[31]

आवश्यकचूर्णि के अनुसार जो परम्परा से आचारांग आदि आगमों के सूत्र और अर्थ की वाचना देता है,वह वाचकवंश है।[32]

नन्दीचूर्णि के अनुसार 1. जो शिष्यों को कालिकश्रुत और पूर्वश्रुत की वाचना देते हैं, वे वाचक हैं 2. जिन्होंने गुरु के सान्निध्य में शिष्य भाव से श्रुत का वाचन किया है, वे वाचक हैं तथा उनकी वंश-परम्परा वाचकवंश कहलाती है।[33]

उक्त कथन का आशय यह है कि सूत्र दान के मुख्य अधिकारी उपाध्याय होते हैं अत: वे वाचक कहलाते हैं तथा उनके द्वारा प्रवर्त्तित परम्परा वाचक वंश कहलाती है। वाचनाचार्य तो उपाध्याय द्वारा नियुक्त करने पर या उपाध्याय के अभाव में वाचना देते हैं।

प्राच्य विद्याओं के पारंगत डॉ. सागरमलजी जैन का कहना है कि कुछ परम्पराओं में सामान्य वाचनाओं के लिए वाचनाचार्य की नियुक्ति की जाती है और द्वादशांगी (मूलागमों) का अध्ययन करवाने के उद्देश्य से उपाध्याय की नियुक्ति होती है।

उपाध्याय पदग्राही शिष्य में आवश्यक योग्यताएँ

उपाध्याय पद पर नियुक्त किया जाने वाला शिष्य किन गुणों से युक्त होना चाहिए ? इस सम्बन्ध में अन्वेषण किया जाये तो एक मात्र व्यवहारसूत्र में इस विषयक उल्लेख प्राप्त होता है। व्यवहारसूत्र में इस पद के लिए उपर्युक्त योग्यताओं के साथ-साथ दीक्षा पर्याय का भी निर्देश किया गया है।

इसमें कहा गया है कि उपाध्याय पदारूढ़ शिष्य न्यूनतम तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला हो तथा आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह एवं उपग्रह करने में भी कुशल हो। इसी के साथ अक्षुण्ण, अभिन्न एवं अशबल चारित्र वाला और असंक्लिष्ट आचार वाला हो, बहुश्रुत एवं बहुआगमज्ञ हो तथा कम से कम आचार प्रकल्प धारण करने वाला हो। इन गुणों से सम्पन्न मुनि उपाध्याय पद देने-लेने के योग्य होता है।

उपर्युक्त योग्यताओं के अभाव में किसी की दीक्षा पर्याय तीन वर्ष की भी हो जाए, तब भी वह उपाध्याय पद के योग्य नहीं होता है। इसके सिवाय तीन वर्ष से अधिक पर्याय वाले एवं श्रुत अध्यापन की योग्यता वाले किसी भी मुनि को यह पद दिया जा सकता है।[34]

आचारकुशल आदि का सामान्य स्वरूप इस प्रकार है[35]–

1. आचारकुशल – जो ज्ञानाचार एवं विनयाचार में कुशल है वह आचारकुशल कहलाता है। जैसे– गुरु आदि के आने पर खड़ा होने वाला, उन्हें आसन, चौकी आदि प्रदान करने वाला, शिष्यों एवं प्रतीच्छिकों (अध्ययन की उपसंपदार्थ समागत साधुओं) को गुरु के प्रति श्रद्धान्वित करने वाला, आदर-सत्कार करके उन्हें प्रसन्न रखने वाला, सरल स्वभावी, स्थिर मन वाला निर्धारित

समय पर प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन एवं स्वाध्याय करने वाला, यथोचित तप करने वाला, ज्ञान आदि की वृद्धि एवं शुद्धि करने वाला, गुरु का बहुमान करने वाला भिक्षु आचारकुशल कहा जाता है।

2. संयमकुशल – त्रस एवं स्थावर जीवों की भलीभांति रक्षा करने वाला, गमनागमन आदि की प्रत्येक प्रवृत्ति अच्छी तरह देखकर करने वाला, प्रतिस्थापना समिति के नियमों का पूर्ण पालन करने वाला, सतरह प्रकार के संयम का पालन करने में निपुण अथवा एषणा, शय्या, आसन, उपधि, आहार आदि में प्रशस्त योग रखने वाला, अप्रशस्त योगों का परिहार करने वाला, इन्द्रियों एवं कषायों का निग्रह करने वाला, हिंसा आदि आस्रवों का निरोध करने वाला, आर्त्त-रौद्र ध्यान का त्याग कर धर्म-शुक्ल ध्यान में लीन रहने वाला, आत्मा के शुद्ध स्वभाव को प्रकट करने वाला मुनि संयमकुशल कहलाता है।

3. प्रवचनकुशल – जो जिनवचनों का ज्ञाता एवं कुशल उपदेष्टा हो वह प्रवचनकुशल कहलाता है। जैसे– सूत्र के अनुसार उसका अर्थ एवं परमार्थ प्रकट करने वाला, प्रमाण-नय-निक्षेपों द्वारा पदार्थों के स्वरूप को समझाने वाला, श्रुत एवं अर्थ का सम्यक् निर्णय करने वाला, श्रुत अध्ययन से अपना हित करने वाला, अन्य को हितावह उपदेश करने वाला एवं जिनवाणी के विरुद्ध बोलने वालों का निग्रह करने में समर्थ मुनि प्रवचनकुशल कहा जाता है।

4. प्रज्ञप्तिकुशल – लौकिकशास्त्र, वेद, पुराण एवं जैन-सिद्धान्तों का सम्यक् निश्चय करने वाला, धर्मकथा, अर्थकथा आदि का सम्यक् ज्ञाता, परवादियों के कुतर्क का सम्यक समाधान करके उनसे कुदर्शन का त्याग कराने में समर्थ एवं स्व-सिद्धान्तों को समझाने में कुशल भिक्षु प्रज्ञप्तिकुशल कहलाता है।

5. संग्रहकुशल – द्रव्यत: उपधि एवं शिष्य आदि का और भावत: श्रुत एवं गुणों का संग्रह करने वाला, ग्लान वृद्ध आदि की अनुकम्पा पूर्वक वैयावृत्य करने वाला, सामाचारी भंग करने वाले साधुओं को अनुशासन पूर्वक रोकने वाला, गण के अन्तरंग कार्यों को करने वाला, यथावश्यक उपधि आदि की पूर्ति करने वाला, निःस्वार्थ सहयोग करने वाला एवं सहवर्ती मुनियों को रखने में कुशल मुनि संग्रहकुशल कहलाता है।

6. उपग्रहकुशल – बाल, वृद्ध, रोगी, तपस्वी, असमर्थ आदि मुनियों

को शय्या, उपधि, आहार आदि देने वाला, दिलवाने वाला, गुरु आदि द्वारा दी गयी वस्तु या कही गयी वार्त्ता निर्दिष्ट साधुओं तक पहुँचाने वाला तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट अन्य कार्यों को भी करने वाला मुनि उपग्रहकुशल कहलाता है।

7. **अक्षत आचार** – अशन, पान, शय्या और उपधि सम्बन्धी आधाकर्म, औद्देशिक, शंकित, स्थापित आदि दोषों का परिहार करने वाला तथा परिपूर्ण आचार का पालन करने वाला अक्षताचारी कहलाता है।

8. **अभिन्नाचार** – जाति आदि बताकर जीविका नहीं चलाने वाला अभिन्नाचारी कहलाता है।

9. **अशबलाचार** – अभ्याहृत आदि दोषों का परिहार करने वाला अथवा शबल दोषों से रहित आचरण करने वाला अशबलाचारी कहलाता है।

10. **असंक्लिष्टाचार** – इहलोक-परलोक सम्बन्धी सुखों की कामना न करने वाला अथवा क्रोधादि क्लिष्ट परिणामों से रहित भिक्षु असंक्लिष्टाचारी कहलाता है।

11. **बहुश्रुत-बहुआगमज्ञ** – आचार्य मधुकरमुनि के मन्तव्यानुसार 1. गम्भीरता, विचक्षणता एवं बुद्धिमत्ता आदि गुणों से युक्त 2. जिनमत की चर्चा में निपुण अथवा मुख्य सिद्धान्तों का ज्ञाता 3. नानाविध सूत्रों का अभ्यासी 4. छेदसूत्रों में पारंगत 5. आचार एवं प्रायश्चित्त विधानों में कुशल इत्यादि गुणों से युक्त मुनि बहुश्रुत व बहुआगमज्ञ कहलाता है।[36]

आचार प्रकल्प – समवायांग के टीकाकार ने आचार का अर्थ - आचारांगसूत्र और प्रकल्प का अर्थ - उसका अध्ययन विशेष किया है। इसका अपरनाम 'निशीथसूत्र' है। इस प्रकार दोनों सूत्र मिलकर 'आचारप्रकल्पसूत्र' कहलाता है।

आचार-प्रकल्प शब्द के वैकल्पिक अर्थ निम्न हैं–

1. आचार और प्रायश्चित्तों का विधान करने वाला सूत्र अथवा निशीथ अध्ययनयुक्त-आचारांगसूत्र।

2. आचार विधानों के प्रायश्चित्त का प्ररूपकसूत्र- निशीथसूत्र।

3. आचार विधानों के बाद तप सम्बन्धी प्रायश्चित्तों को कहने वाला अध्ययन- निशीथ अध्ययन।

4. आचारांग से पृथक् किया गया खण्ड या विभाग रूप सूत्र निशीथसूत्र।

सारांश यह है कि सामान्य अवधारणा से उपलब्ध निशीथसूत्र को आगम और व्याख्याओं में 'आचारप्रकल्प' कहा गया है और दूसरी धारणा के अनुसार उपलब्ध आचारांग और निशीथसूत्र दोनों को मिलाकर आचारप्रकल्प कहा गया है। तत्त्वत: ये दोनों एक ही सूत्र के दो विभाग हैं।[37]

प्राचीनसामाचारी में सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से युक्त, सूत्रार्थ ज्ञाता एवं आचार्य पद के योग्य शिष्य को उपाध्याय पद का अधिकारी बतलाया है।[38]

विधिमार्गप्रपा के अनुसार जो शिष्य उपलब्ध आहार-पानी की सारणा-वारणा आदि गुणों से रहित होने पर भी समग्र सूत्रों के अर्थ ग्रहण, धारण और व्याख्यान करने में गुणवंत है, वाचना दान करने में सतत अपरिश्रान्त है, प्रशान्त है और आचार्य पद के योग्य है उसे उपाध्याय पद दिया जाना चाहिए।[39]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आचारकुशल आदि गुणों से युक्त, अखण्ड चारित्र का धारक, बहुश्रुती, आचार प्रकल्प का ज्ञाता आदि गुणों से परिपूर्ण मुनि उपाध्यायपद के योग्य है।

उपाध्याय पददान का अधिकारी कौन?

विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर आदि ग्रन्थों के संकेतानुसार इस पद पर आरूढ़ करने का अधिकारी आचार्य होता है। वर्तमान परम्परा में भी सामान्यतया यही नियम प्रचलित है। जहाँ आचार्य का अभाव हो वहाँ उपाध्याय, पन्यास, गणी आदि द्वारा तथा उनके अभाव में आचार्य के निर्देशानुसार एवं चतुर्विध संघ की सहमति से सामान्य मुनियों द्वारा भी यह पद दिया जाता है।

ध्यातव्य है कि इस पद का मुख्य अधिकारी आचार्य विशिष्ट गुणों से मण्डित होना चाहिए। इसकी चर्चा आचार्यपदस्थापना विधि अध्याय-8 में करेंगे।

उपाध्याय के अतिशय

व्यवहारसूत्र में आचार्य और उपाध्याय के पाँच अतिशय बताये गये हैं, जो उनकी अनुपम विशेषताओं के द्योतक हैं तथा ये कृत्य सामान्य साधुओं के लिए वर्ज्य भी हैं –

1. आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर धूल से भरे हुए पैरों को प्रमार्जित करें तो मर्यादा (जिनाज्ञा) का उल्लंघन नहीं होता है।

2. आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर मल-मूत्र आदि का व्युत्सर्ग एवं अपान शुद्धि करे तो मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है।

3. आचार्य या उपाध्याय इच्छा हो तो किसी की सेवा करें और इच्छा न हो तो न करें, फिर भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है।

4. आचार्य या उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर किसी विशेष कारण से एक-दो रात अकेले भी रह सकते हैं, इससे मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है।

5. आचार्य या उपाध्याय किसी कारण विशेष से उपाश्रय के बाहर एक-दो रात अकेले भी रहें तो मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है।[40]

स्थानांगसूत्र में सात अतिशयों का वर्णन हैं। उनमें पाँच अतिशय पूर्वोक्त ही हैं और अतिरिक्त दो अतिशय निम्न प्रकार हैं[41]–

1. **उपकरणातिशय** – आचार्य और उपाध्याय अन्य साधुओं की अपेक्षा उज्ज्वल पात्रादि रख सकते हैं, इससे मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है।

2. **भक्तपानातिशय** – आचार्य और उपाध्याय स्वास्थ्य एवं संयम के रक्षणार्थ विशिष्ट खान-पान कर सकते हैं।

व्यवहारभाष्य में उक्त दो अतिशयों के स्थान पर निम्न पाँच अतिशय प्रतिपादित हैं और वे आचार्य की अपेक्षा से कहे गये हैं।[42]

भक्त, पान, प्रक्षालन, प्रशंसा एवं हाथ-पैर की विशुद्धि - ये पाँच अतिशय हैं। आचार्य मधुकर मुनि जी ने इन अतिशयों का फलितार्थ यह बताया है कि सामान्य भिक्षु उपर्युक्त विषयों में इस प्रकार आचरण करें[43]–

1. उपाश्रय में प्रवेश करते समय पैरों का प्रमार्जन आवश्यक हो तो उपाश्रय के बाहर ही करें।

2. शारीरिक अनुकूलता हो और योग्य स्थण्डिल भूमि उपलब्ध हो तो उपाश्रय में मल त्याग न करें।

3. गुरु आज्ञा होने पर या बिना कहे भी उन्हें सदा सेवा कार्यों में प्रयत्नशील रहना चाहिए, शेष समय में स्वाध्याय आदि करना चाहिए।

4. गुरु के समीप या उनके दृष्टिगत स्थान पर ही शयन आदि करना चाहिए, किन्तु गीतार्थ भिक्षु अनुकूलतानुसार एवं आज्ञानुसार आचरण कर सकता है।

5. अतिशय की अपेक्षा आचार्य एवं उपाध्याय को एकाकी नहीं रहना चाहिए, शास्त्रकारों ने निषेध किया है।

दोष– व्यवहारभाष्य में पूर्व निर्दिष्ट अतिशयों के अतिक्रमण से उत्पन्न दोषों का भी विवेचन है। भिक्षुआगमकोश के अनुसार उसका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है[44]–

1. यदि आचार्य धूलयुक्त पैरों का यतनापूर्वक प्रमार्जन नहीं करें और चरण धूलि तपस्वी आदि मुनियों पर गिर जाएं तो वे कुपित होकर दूसरे गच्छ में जा सकते हैं।

2. आचार्य या उपाध्याय शौच कर्म के लिए एक बार बाहर जाएं तब तो उचित है, किन्तु बार-बार बाहर जाने से निम्न दोष उत्पन्न हो सकते हैं। जिस रास्ते से आचार्य जाते हैं, उस रास्ते में व्यापारी श्रावक आदि की दुकाने हो तो वे आचार्य को देखकर उठते हैं, वन्दन करते हैं। यह देखकर दूसरे लोगों के मन में भी उनके प्रति पूजा-सत्कार के भाव उत्पन्न होते हैं, किन्तु बार-बार जाने से वे लोग उन्हें देखते हुए भी नहीं देखने वालों की तरह मुंह मोड़कर वैसे ही बैठे रहेंगे। इस तरह का वर्तन देखकर अन्य लोग भी पूजा-सत्कार करना छोड़ देंगे। इससे सूत्र और अर्थ की परिहानि हो सकती है। उपाश्रय में समागत धर्मनिष्ठ व्यक्ति धर्मश्रवण और व्रतग्रहण से वंचित रह सकते हैं।

3. तीसरा अतिशय सेवा की ऐच्छिकता है। आचार्य का कार्य है कि वे सूत्र, अर्थ, मन्त्र, विद्या, योगशास्त्र आदि का परावर्तन करें तथा उनका गण में प्रवर्त्तन करें। सेवा आदि में प्रवृत्त होने पर इन कार्यों में विक्षेप आ सकता है।

4-5. आचार्य को विशिष्ट ध्यान साधना करनी हो या मन्त्र-विद्यादि को सिद्ध करना हो तो अकेले रह सकते हैं। फिर छेदसूत्र आदि रहस्यपूर्ण सूत्रों के गुणन-पठन के लिए एकान्त स्थान अपेक्षित होता है। कारण, अपरिणामक और अतिपरिणामक शिष्य रहस्यों को सुनकर अनर्थ कर सकते हैं। अयोग्य व्यक्ति मन्त्र आदि को सुनकर उसका दुरूपयोग कर सकता है। जनसंकुल स्थान हो तो ध्यानादि साधना में विक्षेप भी हो सकता है। अतः पूर्वोक्त अतिशय आचार्य एवं उपाध्याय हेतु अवश्य आचरणीय हैं।

उपाध्याय की विहार-वर्षावास सम्बन्धी सामाचारी

आगम मत के अनुसार आचार्य-उपाध्याय को हेमन्त ऋतु और ग्रीष्म ऋतु में अकेले विहार नहीं करना चाहिए, उनके लिए एकाकी विहार का निषेध है। सामान्यतया वे एक साधु के साथ ऐसे कुल दो साधु विहार कर सकते हैं।

आचार्य- उपाध्याय को वर्षावास में एक साधु के साथ रहना नहीं कल्पता है, इस समय न्यूनतम दो साधुओं के साथ (कुल तीन साधु) रह सकते हैं।[45]

इस आचारसंहिता के अनुसार यह निर्णीत होता है कि उक्त पदवीधर कभी भी अकेले विचरण नहीं कर सकते हैं और एकाकी चातुर्मास भी नहीं कर सकते हैं, इन्हें कम से कम एक या अनेक साधुओं को साथ में रखना आवश्यक होता है।

ज्ञातव्य है कि व्यवहारसूत्र में एक या दो साधुओं के साथ रहने का जो विधान किया गया है उस निर्दिष्ट संख्या से अधिक साधुओं के रहने का निषेध नहीं समझना चाहिए। स्थान आदि की सुविधानुसार अधिक मुनि भी साथ रह सकते हैं किन्तु अधिक संख्या में साथ रहने पर संयम की क्षति अर्थात एषणा समिति एवं परिष्ठापनिका समिति आदि भंग होती हो तो अल्प संख्या में विचरण करना चाहिए।[46]

आगमिक व्याख्या साहित्य में आचार्य- उपाध्याय को निम्न कारणों से दो मुनियों के साथ रहने का भी विधान बतलाया गया है[47]–

1. आचार्य और उपाध्याय वज्रऋषभनाराच संहननधारी और वज्र की कीलिका के समान धृति सम्पन्न हों।

2. बृहद् गच्छ में रहते हुए नवीन या गृहीत सूत्र या अर्थ के स्मरण में व्याघात होता हो, तो एक या दो साधु के साथ में ही रहें।

व्यवहारभाष्य में आचार्य को अनेक साधुओं के साथ रहने का निषेध भी किया गया है। भाष्यकार ने इसके बाधक कारण बतलाते हुए कहा है-[48]

- **उपदेश** – यदि आचार्य लब्धिसम्पन्न एवं धर्मकथा वाचक हों, तो उनके पास श्रोताओं का जमघट रहता है, महर्द्धिक राजा आदि उनके पास आते हैं। इस स्थिति में अन्य साधु उच्चारणपूर्वक सूत्र-अर्थ का परावर्तन नहीं कर सकते हैं अत: ज्ञानादि की विशिष्ट आराधना हेतु शिष्यों को अल्प संख्या में रहना चाहिए।

- **आवश्यकी-नैषेधिकी** – समुदाय में अनेक साधु हों तो वे वसति से बाहर जाते समय 'आवस्सही' तथा वसति में प्रवेश करते समय 'निसीहि' का उच्चारण करते हैं। इस मर्यादा का निरीक्षण भी आवश्यक है। बार-बार याद दिलाए बिना सामाचारी का सम्यक निर्वाह कठिन हो जाता है।

• **आलोचना** – संघाटक मुनि भिक्षा ग्रहण करने के बाद गुरु के समीप आकर आलोचना करते हैं। यदि उस समय गुरु अध्ययनरत हो तो सम्यक् आलोचना के अभाव में चरणहानि होती है।

• **प्रतिपृच्छा** – अनेक शिष्यगण साथ में हों तो सभी की प्रतिपृच्छा का प्रत्युत्तर देना आवश्यक होता है।

• **वादि ग्रहण** – बहुश्रुत आचार्य के पास अन्यदर्शनी विद्वान् बहुत आते हैं उनके प्रश्नों का समाधान करना होता है, अन्यथा जिनधर्म की प्रभावना नहीं होती।

• **रोगी आदि** – बड़े समुदाय में कई साधु अस्वस्थ हो जाते हैं तो उनकी सार सम्भाल करना प्राथमिक कर्त्तव्य बन जाता है। इससे सूत्र व्याघात होता है।

• **दुर्लभ भिक्षा** – क्षेत्र छोटा और साधु अधिक हों तो भिक्षा के लिए दूरवर्ती घरों में भेजने की व्यवस्था करनी होती है।

• नया सीखा हुआ नवें-दसवें पूर्व का ज्ञान सतत स्मरण के बिना विस्मृत हो जाता है।

अतएव विशाल गच्छ में रहते हुए नवें-दसवें पूर्व का स्मरण, योनिप्राभृत आदि ग्रन्थों का गुणन, आकाशगमन आदि विद्याओं का परावर्तन, मन्त्र-योग आदि का अभ्यास और छेदसूत्रों का परावर्तन करना दुष्कर हो तो आचार्य-उपाध्याय को एक-दो साधु के साथ ही रहना चाहिए, क्योंकि इन सबका अभ्यास एकान्त में सुखपूर्वक हो सकता है।

आचार्य-उपाध्याय को एकाकी विचरण या वर्षावास करने का इसलिए निषेध किया गया है कि ये संघ के प्रतिष्ठित एवं जनमान्य पदवीधर होते हैं अत: लब्धिसम्पन्न एवं परिपक्व होने के बाद भी इनका अकेले विहार आदि करना संघ के लिए शोभाजनक नहीं होता है।

उपाध्याय पदस्थापना हेतु शुभ मुहूर्त्त विचार

उपाध्याय योग्य शिष्य की पदस्थापना कौनसे मुहूर्त्त आदि में की जानी चाहिए? इस विषय में स्वतन्त्र उल्लेख तो पढ़ने में नहीं आए हैं। यद्यपि आचार्य जिनप्रभसूरि के संकेतानुसार जिस शुभ योग (मुहूर्त्त) में वाचनाचार्य की पद स्थापना की जाती है उसी शुभ मुहूर्त्त के आने पर उपाध्याय की पद स्थापना करनी चाहिए क्योंकि विधिमार्गप्रपाकार ने उपाध्याय पदस्थापना-विधि को

वाचनाचार्य पदस्थापना के समान बतलाया है। साथ ही तदयोग्य कृत्यों का सूचन भी किया है।[49]

आचारदिनकर के अनुसार आचार्यपद हेतु निर्दिष्ट मुहूर्त्त के उपस्थित होने पर उपाध्याय पद की अनुज्ञा करनी चाहिए, क्योंकि इसमें उपाध्याय पदस्थापना की विधि आचार्य पदस्थापना के समान कही गई है।[50]

इस प्रकार उपाध्याय पद के लिए शुभ मुहूर्त्त आदि के सन्दर्भ एवं आवश्यक सामग्री प्राप्त हो जाती है।

उपाध्याय पद की आराधना से होने वाले लाभ

उपाध्याय पद की आराधना, भक्ति एवं विनय से जीव उपाधि रहित होता है, स्वाध्याय में एकाग्रचित्त बनता है, श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है, संशय आदि का निवारण होता है, आत्मा में शीतलता की अनुभूति होती है, श्रुतमद नष्ट होता है एवं अस्खलित वाणी की प्राप्ति होती है। ज्ञान प्राप्ति से आत्मा अकार्य से निवृत्त होती है फलतः मोक्ष की प्राप्ति होती है।[51]

उपाध्याय पद का वर्ण हरा क्यों?

जैन विचारकों ने उपाध्याय का हरा वर्ण बतलाया है। इसका रहस्य यह है कि उपाध्याय पाठक कहलाते हैं। साधु-साध्वियों के अध्यापन कार्य की महत्त्वपूर्ण जवाबदारी का निर्वहन करते हैं। अतः जिस प्रकार किसी व्यक्ति के आंखों का ऑपरेशन करने के बाद उसकी आंख पर हरे रंग की पट्टी बांध दी जाती है और उन्हें कहा जाता है कि तुम हरे वृक्षों को देखों, हरे रंग के चित्रों को देखों, चूंकि हरा रंग नेत्र ज्योति को बढ़ाने में प्रबल निमित्त होता है उसी प्रकार उपाध्याय ज्ञान रूपी नेत्र प्रदान करते हैं, इसलिए उन्हें हरे रंग की उपमा दी है।

दूसरा हेतु यह है कि जिस प्रकार वृक्ष के पत्तों की छाया में पथिक को आराम मिलता है, उसी प्रकार धर्म रूपी वृक्ष के पत्ते समान उपाध्याय भगवंत के सान्निध्य में संसार के ताप से संतप्त आत्मा को परम शांति मिलती है अतः उनका हरे वर्ण से ध्यान किया जाता है।

एक कारण यह माना जाता है कि जैसे मंत्र शास्त्र में उपद्रव निवारण के लिए हरे वर्ण को श्रेष्ठ माना है वैसे ही उपाध्याय भगवंत ज्ञान मार्ग में आने वाले विघ्नों को दूर करने वाले होने से उनका ध्यान हरे वर्ण से करते हैं।

उपाध्याय पद का वैशिष्ट्य

जैन धर्म में पंचपरमेष्ठियों का सर्वोपरि स्थान है जिसमें तीर्थङ्कर भगवान शासन की स्थापना कर धर्म की नींव रखते हैं वहीं आचार्य तीर्थङ्कर परमात्मा की अनुपस्थिति में कुशल राजा की तरह जिनशासन की बागडोर सम्भालते हैं।

वर्तमान में आचार्य को गच्छ विशेष से प्रतिबंधित समझा जाता है और आचार्य भी स्वयं को गच्छ विशेष का ही समझते हैं, लेकिन जब भी जिनशासन की आन-बान और शान का प्रश्न आता है, तब आचार्य गच्छ-विशेष के होते हुए भी पूरे जैन समाज के लिए स्वयं को न्योछावर करने में तत्पर रहते हैं। आचार्य पर कई प्रकार की जिम्मेदारियाँ होती है उनमें सहवर्ती मुनियों एवं शिष्यों को ज्ञान दान देने एवं स्वाध्याय-अध्यापन करवाने का विशेष कार्य होता है। स्वाध्याय मुनि जीवन का प्राण है अतः उसे मूल्यवत्ता देना परमावश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति उपाध्याय के द्वारा की जाती है।

जिस प्रकार किसान मेहनत कर खेत को हरा-भरा बनाता है, उसी प्रकार उपाध्याय अन्य साधुओं के अध्ययन पर मेहनत कर जिनशासन को हरा-भरा कर देते हैं, इसी कारण उपाध्याय का वर्ण हरा रखा गया है।

पंचपरमेष्ठियों में सामान्य केवली को पाँचवें पद में स्थान दिया गया है, किन्तु उपाध्याय को चतुर्थ पद में स्थान दिया गया है, क्योंकि आचार्य एवं उपाध्याय भगवन्तों पर शासन-गच्छ की जवाबदारी होती है। तभी तो जब तीर्थङ्कर परमात्मा की देशना पूर्ण होती है, तब अन्य केवली देशना न देकर छद्मस्थ प्रथम गणधर देशना देते हैं और उस समय भी सर्वज्ञ केवली भगवंत विराजमान रहते हैं। जिनशासन में पद देने की भी अपनी परम्पराएँ हैं। जवाबदारी युक्त आचार्य या उपाध्याय पद उन्हें ही दिया जाता है, जो श्रेष्ठ संयम पालन के साथ उच्च कुलीन हो, जिसका संयम ग्रहण करने से पूर्व का इतिहास कलंकित न हो आदि।

इतिहास के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि आचार्यों की भाँति उपाध्यायों की यशोगाथाएँ भी दिग-दिगन्त में प्रसरित रही है। उपाध्याय यशोविजयजी, उपाध्याय देवचन्द्रजी एवं उपाध्याय समयसुन्दरजी द्वारा लिखी गई रचनाएँ सैकड़ों वर्ष बाद आज भी पाठकों के लिए अमूल्य सम्पत्ति के रूप में आदरणीय हैं।

विविध सन्दर्भों में उपाध्याय पद की उपयोगिता

सामान्य रूप में उपाध्याय शब्द शिक्षक आदि के लिए प्रयुक्त होता है। जैन धर्म में आचार्य के बाद उपाध्याय पद को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यदि उपाध्याय पद की मनोवैज्ञानिक समीक्षा करें तो उपाध्याय सद्ज्ञान के द्वारा सत् दिशा में गमन करने वाले एवं करवाने वाले हैं। यह वाचना दान द्वारा अविवेक एवं अज्ञान का हरण करके मन में अहंकार या पूजा-सत्कार के भाव उत्पन्न नहीं होने देते, जिससे मन में अपेक्षा वृत्ति जागृत नहीं होती। सूत्रार्थ के ज्ञाता होने से धर्म के प्रति उत्पन्न होने वाली शंकाओं का समाधान करते हैं जिससे मानसिक शान्ति की प्राप्ति होती है और आप्तवाणी के प्रति श्रद्धा एवं समर्पण दृढ़ बनता है।

व्यक्तिगत दृष्टिकोण से उपाध्याय पद की समीक्षा करें तो ज्ञानदान के लिए सदा तत्पर रहने से ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय करते हैं तथा स्व एवं पर के ज्ञान में वृद्धि करते हैं। अनेकान्त, स्याद्वाद आदि के ज्ञाता होने से आग्रहवाद का शिकार नहीं होते। इसी प्रकार आर्जव, मार्दव, सरलता, निखालिसता, लघुता आदि गुणों से युक्त होने के कारण साधना अखण्ड रहती है तथा समस्त व्याघातों एवं बाधाओं का निवारण सरलता से होता है। व्यक्तित्व विकास में ये गुण अत्यन्त सहायक बनते हैं। अध्ययन-अध्यापन से ज्ञान स्थायी एवं परिपक्व बनता है। उपाध्याय जैसे श्रुतस्थविर से ज्ञान लेने पर प्रत्येक व्यक्ति को सही दिग्दर्शन मिलता है।

यदि समाज को केन्द्र में रखकर उपाध्याय पद की उपयोगिता के विषय में चिन्तन करें तो उपाध्याय अगाध श्रुतधनी होने से सामाजिक दुष्प्रवृत्तियों को मिटाने में सक्षम होते हैं। वे बावना चन्दन के समान कषायों से तप्त जीवों को जिनवाणी के माध्यम से शान्त, उपशान्त करते हैं। अपने ज्ञान प्रकाश द्वारा समाज को उज्ज्वल एवं आलोक युक्त करते हैं। समस्त जीवों के प्रति मैत्री, करुणा एवं समभाव रखते हुए निष्पक्ष भाव से धर्म मार्ग की प्ररूपणा करते हैं। द्वादशांगी के ज्ञाता बनकर आत्म हितकारी श्रुत संवर्धन का कार्य करते हैं तथा मार्ग भ्रमित जीवों को सद्मार्ग पर लाकर धर्म में स्थिर करते हैं।

प्रबन्धन या Management के क्षेत्र में यदि उपाध्याय पद की भूमिका पर विचार किया जाए तो निम्न उपयोगिता परिलक्षित होती है –

• उपाध्याय अर्थात शिक्षक। एक प्रधान शिक्षक (HOD) किस प्रकार अपने विभाग (Department) या गच्छ का कार्य भार सम्भाले, इस क्षेत्र में सही दिशा मिलती है।

• अयोग्य को योग्य और योग्य को सफलता के चरम तक निस्वार्थ भाव से किस प्रकार लाया जा सकता है इसके लिए उपाध्याय श्रेष्ठ उदाहरण है।

• एक व्यवस्थापक को सम्पूर्ण व्यवस्था किस प्रकार सम्भालनी चाहिए, अपने कर्त्तव्यों का निरपेक्ष भाव से वहन करते हुए कार्य में किस तरह सफलता मिल सकती है इसका सुगम मार्ग उपाध्याय पद के द्वारा प्राप्त हो सकता है।

• उपाध्याय स्वयं तो मैनेजमेण्ट या प्रबन्धन गुरु होते ही हैं किन्तु समस्त शिष्य मण्डली एवं संघ में भी वैसी ही व्यवस्था की स्थापना करते हैं।

• जिस प्रकार उपाध्याय अन्य गच्छ से आगत मुनि आदि को वाचना देकर निर्मल एवं उदार भाव से ज्ञानदान करते हैं वैसे ही सामाजिक जीवन में उदारता एवं सहयोग के भाव सभी के प्रति रखे जाएँ तो सामाजिक उत्थान एवं देश के विकास में विशेष सहयोग प्राप्त हो सकता है।

यदि वर्तमान समस्याओं के सन्दर्भ में उपाध्याय पद के प्रभाव का अध्ययन करें तो आज शिक्षा जगत में उत्पन्न होती समस्याएँ जैसे-शिक्षा का व्यापारीकरण, भौतिकीकरण, गुरु-शिष्य सम्बन्धों में बढ़ती औपचारिकता, अध्यापकों की बढ़ती स्वार्थवृत्ति, शिष्यों में बढ़ती उद्दण्डता एवं उच्छृंखलता को रोकने में उपाध्याय की निरपेक्ष अध्ययन शैली बहुपयोगी हो सकती है।

वर्तमान शिक्षा का हेतु मात्र अर्थोपार्जन होने से समाज में आर्थिक प्रगति भले ही हो रही हो परन्तु नैतिक एवं मौलिक दृष्टि से समाज का पतन ही हो रहा है। ऐसी स्थिति में उपाध्याय आध्यात्मिक ज्ञान दान से समाज का आध्यात्मिक विकास करते हैं जैसे उपाध्याय आचार्य के समस्त कार्यों में उनको सहयोग करते हैं तथा उन्हें सुझाव भी प्रदान करते हैं और समस्त साधु-साध्वी मण्डल को ज्ञान दान का कार्य भी करते हैं वैसे ही यदि समाज में निरपेक्ष एवं निष्पक्ष भाव से कार्य किये जायें तो प्रत्येक क्षेत्र में समाज को सफलता प्राप्त हो सकती है।

उपाध्यायपद-विधि का ऐतिहासिक अनुशीलन

जैन संस्कृति में उपाध्याय का विशिष्ट स्थान है। देव, गुरु और धर्म में उपाध्याय का पद मध्यस्थ है। वे मध्यवर्ती होकर देव-धर्म की पहचान कराते हैं।

जिस प्रकार अंधेरे में स्थित व्यक्ति को कोई भी पदार्थ दिखाई नहीं देता है, उसी प्रकार अज्ञान-मिथ्यात्व से ग्रस्त मानव आत्मा के स्वाभाविक गुणों की पहचान नहीं कर पाता है । उपाध्याय अज्ञान रूपी अंधकार को दूर कर ज्ञान नेत्र प्रदान करते हैं। शिक्षार्थी के जीवन को चरम लक्ष्य तक पहुँचाने में उपाध्याय सदैव आदर्श रहे हैं।

प्राचीन काल में आचार एवं व्यवहार की शिक्षा आध्यात्मिक मूल्यों एवं शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर दी जाती थी। बालक आध्यात्मिक ज्ञान एवं मानवीय मूल्यों से ओत-प्रोत शिक्षाएँ उपाध्याय सदृश गुरुजनों की छत्रछाया में रहकर प्राप्त करते थे। उपाध्याय (शिक्षक) के चारित्रिक बल का प्रभाव होता था कि शिष्यगण बौद्धिक, मानसिक एवं भावनात्मक विकास प्राप्त कर आध्यात्मिक उत्कर्ष की प्राप्ति हेतु तत्पर रहते थे। वास्तव में विद्यार्थी का पूर्ण शिक्षाक्रम चारित्र शुद्धि पर आधारित होता था। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह शिक्षा के विशेष अंग थे। सन्तोष, शुचिता, निश्छलता, जितेन्द्रियता, मितभाषण आदि शिक्षा के मुख्य प्रयोजन थे। पाठक गुरु विद्यार्थी की समस्त जिम्मेदारियाँ अपने कर्त्तव्य के रूप में स्वीकारते थे। इस तरह विद्यार्थी गुरुकुल में केवल शिक्षण ही प्राप्त नहीं करता था, अपितु सफल जीवन जीने का राजमार्ग भी प्राप्त करता था। वर्तमान में योगोद्वहन, वाचना आदि इसी के व्यापक रूप हैं।

यहाँ विवेच्य यह है कि जैन इतिहास-क्रम में उपाध्याय का स्वरूप किस रूप में प्राप्त है? यदि हम गहराई से अध्ययन करें तो सुज्ञात होता है कि तीर्थंकर प्रणीत मूलागम, श्रुतधरों द्वारा रचित आगमिक व्याख्याएँ एवं जैनाचार्यों द्वारा लिखित परवर्ती साहित्य आदि सभी में इस विषयक सन्दर्भ एवं अपेक्षित सामग्री उपलब्ध है।

जब हम मूल आगमों को देखते हैं तब आचारचूला में सर्वप्रथम आहार वितरण हेतु अनुमति प्राप्त करने के सम्बन्ध में 'उपाध्याय' का नाम निर्दिष्ट है। उस पाठांश का सार यह है कि भिक्षाचरी मुनि असाधारण आहार प्राप्त होने पर गुरुजनों के समीप आएं तथा आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर, गणी, गणधर या गणावच्छेदक से निवेदन पूर्वक कहें-यदि आपकी अनुमति हो तो मैं अमुक मुनियों को पर्याप्त आहार दूं।[52] इस प्रकार उपाध्याय को श्रेष्ठ गुरु के रूप में उल्लिखित किया गया है।

इसमें शय्या-संस्तारक की प्रतिलेखना के क्रम में भी उपाध्याय को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इस पाठांश में कहा गया है कि साधु-साध्वी शय्या-संस्तारक हेतु आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर, गणी, गणधर, गणावच्छेदक, बाल, वृद्ध, शैक्ष, ग्लान एवं अतिथि साधु द्वारा स्वीकृत भूमि को छोड़कर उपाश्रय के अन्दर, मध्यस्थान या सम-विषम स्थान में, वातयुक्त या निर्वात स्थान में भूमि का बार-बार प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करें। उसके बाद अपने लिए युक्त एवं प्रासुक शय्या-संस्तारक बिछाएं।[53]

इसी तरह विहार करते समय आचार्य या उपाध्याय साथ हो तो किसी के द्वारा प्रश्न करने पर उसका प्रत्युत्तर शिष्य न दें, वह ईर्यासमिति का शोधक बना रहे। आचार्यादि ही यथोचित उत्तर दें। यहाँ भी उपाध्याय की श्रेष्ठता को दर्शाया गया है।[54]

स्थानांगसूत्र में पृथक-पृथक विषयों के सन्दर्भ में 'उपाध्याय' का नाम निर्देश हुआ है। जैसे– देवलोक में उत्पन्न हुआ जीव शीघ्र ही तीन कारणों से मनुष्य लोक में आना चाहता है और आ भी सकता है। उसमें पहला कारण परम उपकारी आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर, गणी, गणधर, गणावच्छेदक को वन्दन, सत्कार एवं सम्मानादि करना बतलाया है।[55]

देव तीन कारणों से परितप्त होता है। उनमें पहला कारण यह प्रज्ञप्त है कि देव चिन्तन करता है – अहो! मैंने बल, वीर्य, पराक्रम, क्षेम, सुभिक्ष तथा आचार्य और उपाध्याय की उपस्थिति एवं नीरोग शरीर के होते हुए भी श्रुत का पर्याप्त अध्ययन नहीं किया।[56]

इस आगम में गुरु की अपेक्षा तीन प्रत्यनीक (प्रतिकूल व्यवहार करने वाले) बतलाए गये हैं – 1. आचार्य प्रत्यनीक 2. उपाध्याय प्रत्यनीक 3. स्थविर प्रत्यनीक।[57] इसमें आचार्य एवं उपाध्याय के लिए सात संग्रह के हेतु कहे गये हैं।[58] आचार्य उपाध्याय के पाँच-सात अतिशयों का वर्णन भी किया गया है।[59]

श्रमण नौ कारणों से सांभौगिक (समान धर्मी) साधु को विसांभौगिक[60] करता हुआ आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है जैसे आचार्य प्रत्यनीक-आचार्य के प्रतिकूल आचरण करने वाले को, उपाध्याय प्रत्यनीक-उपाध्याय के प्रतिकूल आचरण करने वाले को इस प्रकार नौ स्थानों का निरूपण है।[61]

वैयावृत्य करने योग्य दस प्रकारों में आचार्य, उपाध्याय, स्थविर आदि का नाम लिया गया है।[62] इस प्रकार विभिन्न दृष्टियों से उपाध्याय का नामोल्लेख है। समवायांगसूत्र में मोहनीय कर्मबंधन के कारणभूत तीस स्थान आख्यात हैं उनमें आचार्य - उपाध्याय की आशातना करने को चौबीसवां स्थान माना गया है।[63]

भगवतीसूत्र में आचार्य- उपाध्याय के सम्बन्ध में कहा गया है कि जो आचार्य और उपाध्याय अपने कर्त्तव्य और दायित्व का भलीभांति वहन करते हैं वे उसी भव में मुक्त हो जाते हैं अथवा एक, दो या अधिक से अधिक तीन भव में मुक्त हो जाते हैं, किन्तु वे तीन से अधिक भव नहीं करते।[64]

ज्ञाताधर्मकथा में उपाध्याय की सन्निधि का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि जो साधु-साध्वी आचार्य-उपाध्याय के निकट दीक्षित होकर इन्द्रियों को संयमित-नियन्त्रित नहीं करते, वे इसी भव में चतुर्विध संघ द्वारा हीलना योग्य होते हैं और परलोक में भी दण्डित (दुःखी) होते हैं।[65]

इसी तरह आचार्य-उपाध्याय के सन्निकट दीक्षित होकर महाव्रतों का सम्यक पालन न करने वाला लोक-निन्दनीय एवं अनादरणीय होता है।[66]

इस प्रकार मूलागमों में उपाध्याय की विशिष्टता एवं प्रभावशीलता का स्वर ही अधिक मुखरित हुआ है। उपाध्याय पदस्थापना-विधि का कहीं उल्लेख नहीं है।

इससे परवर्ती उपांग-छेद-मूल आदि सूत्रों का अध्ययन किया जाए तो निश्चित रूप से कुछ विशिष्ट बिन्दु ज्ञात होते हैं जैसे- उत्तराध्ययनसूत्र में उपाध्याय की उपमाएँ, व्यवहारसूत्र में उपाध्याय के अतिशय एवं विशिष्ट सामाचारी प्रतिबद्ध नियम, योग्यता आदि का वर्णन है।

यदि हम आगमिक व्याख्या साहित्य का पर्यवेक्षण करें तो इसके सम्बन्ध में अपेक्षाकृत विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है जैसे– आचारांगटीका,[67] आवश्यकनिर्युक्ति,[68] विशेषावश्यकभाष्य[69], व्यवहारभाष्य,[70] दशवैकालिक-चूर्णि[71] आदि में उपाध्याय शब्द की परिभाषाएँ, उसके अधिकार एवं सामाचारी सम्बन्धी वर्णन किया गया है।

यदि हम पूर्वकालीन अथवा मध्यकालीन ग्रन्थों का अवलोकन करें तो विक्रम की 12वीं शती से 16वीं शती पर्यन्त के उपलब्ध साहित्य में

प्रतिपाद्यमान विषय का समग्र स्वरूप प्राप्त हो जाता है। अत: उपाध्याय पद स्थापना विधि के सन्दर्भ में सामाचारीसंग्रह, प्राचीनसामाचारी, सुबोधा सामाचारी, विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर आदि ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

यदि उत्तरकालीन साहित्य का निरीक्षण किया जाए तो संबोधप्रकरण, चारित्रप्रकाश, जिनेन्द्रपूजासंग्रह, नवपदपूजा आदि कुछ रचनाएँ इससे सम्बन्धित पायी जाती हैं परन्तु उनमें इस पद-विधि का कोई वर्णन नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपाध्याय पद का सामान्य वर्णन प्राक् साहित्य से अर्वाचीन साहित्य तक बहुतों में उपलब्ध है, किन्तु इस पदस्थापना की विधि मध्यकालीन (विक्रम की 11वीं से 15वीं शती तक के) साहित्य में ही प्राप्त होती है।

उपाध्याय पदस्थापना की मौलिक विधि

विधिमार्गप्रपा में उपाध्याय पद स्थापना की निम्न विधि प्रवेदित है–[72]

खरतर परम्परा मान्य आचार्य जिनप्रभसूरि के अनुसार उपाध्यायपद स्थापना की विधि पूर्व निर्दिष्ट वाचनाचार्यपद स्थापना के समान की जाए, किन्तु सभी आलापक पाठ उपाध्यायपद के अभिलाप (नाम) से बोलने चाहिए। विशेष इतना है कि

- नूतन उपाध्याय को कंबल परिणाम के दो आसन दिए जाएं।
- आचार्य को छोड़कर ज्येष्ठ-कनिष्ठ सभी साधु उपाध्याय पदस्थ को वन्दन करें।
- शुभ लग्न के आने पर नूतन उपाध्याय के दाहिने कर्ण पर चन्दन का लेप कर वर्धमानविद्या का मन्त्र सुनाएँ –

मन्त्र – "ओम् नमो अरिहंताणं, ओम् नमो सिद्धाणं, ओम् नमो आयरियाणं, ओम् नमो उवज्झायाणं, ओम् नमो सव्वसाहूणं, ओम् नमो ओहिजिणाणं,ओम् नमो परमोहि जिणाणं, ओम् नमो सव्वोहिजिणाणं, ओम् नमो अणंतोहि जिणाणं, ॐ नमो भगवओ अरहओ महइ महावीर वद्धमाणसामिस्स सिज्झउ मे भगवइ महइ महाविज्जा, ॐ वीरे-वीरे, महावीरे, जयवीरे, सेणवीरे, वद्धमाणवीरे, जये विजये जयंते अपराजिए अणिहए ओं ह्रीँ स्वाहा।"

• इस वर्धमानविद्या मन्त्र को वाचनाचार्य पदस्थापना में कही गई विधि के अनुसार सिद्ध करें।

• इस महोत्सव के दिन ऋद्धिमान् श्रावक या संघ साधर्मी वात्सल्य आदि शासन प्रभावना करें।

शेष देववन्दन, नन्दीश्रवण, वासदान, प्रदक्षिणा, सप्त थोभवंदन, प्रवेदन, शिक्षावचन आदि क्रियानुष्ठान पूर्ववत ही सम्पादित करें।

तपागच्छ आम्नाय में उपाध्याय पदस्थापना की विधि लगभग पूर्ववत् ही सम्पन्न करते हैं, यद्यपि स्पष्ट बोध के लिए यह आलेख पठनीय है[73]–

• सर्वप्रथम पदग्राही मुनि शुभ मुहूर्त्त में नन्दी रचना की तीन प्रदक्षिणा दें।

• फिर वसति प्रवेदन करें।

• उसके बाद एक खमासमण पूर्वक मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें।

• फिर उपाध्यायपद के अनुज्ञापनार्थ वासचूर्ण ग्रहण करें।

• देववन्दन करें।

• नन्दी पाठ सुनें। तत्पश्चात गुरु तीन नमस्कारमन्त्र का उच्चारण कर तीन बार निम्न पाठ सुनाएं –

''ॐ नमो आयरियाणं भगवंताणं नाणीणं पंचविहायार सुट्ठियाणं इह भगवते आयरिया अवयरंतु, साहूसाहूणी सावयसावियाकयं पूयं पडिच्छंतु सव्वसिद्धिं दिसंतु स्वाहा।''

• फिर सात बार थोभवन्दन करें।

• फिर गुरु भगवन्त वर्धमानविद्या का मन्त्र सुनाएं जो किञ्चित् परिवर्तन के साथ इस प्रकार है–

**''ॐ नमो अरिहंताणं, ॐ नमो सिद्धाणं, ॐ नमो आयरियाणं,
ॐ नमो उवज्झायाणं, ॐ नमो सव्वसाहूणं, ॐ नमो ओहिजिणाणं,
ॐ नमो परमोहि जिणाणं, ॐ नमो सव्वोहि जिणाणं, ॐ नमो
अणंतोहिजिणाणं, ॐ वीरे वीरे महावीरे जयवीरे सेणवीरे
वद्धमाणवीरे जये विजये जयंते अपराजिए अणिहए ओं ह्रीं स्वाहा।''**

• फिर तीन बार नामकरण करें।

• पवेयणा का आदेश लें।

• प्रत्याख्यान ग्रहण करें एवं **'बइसणं'** का आदेश लें।

उपर्युक्त विधि से यह अवगत होता है कि प्रेमसूरि समुदायवर्ती तपागच्छ परम्परा में नूतन उपाध्याय को दो कंबल परिमाण का आसन नहीं दिया जाता है और एक पाठ अतिरिक्त बोलते हैं, शेष विधि लगभग समान है।

अचलगच्छ, पायच्छन्दगच्छ, त्रिस्तुतिकगच्छ आदि एवं स्थानकवासी, तेरापंथी आदि परम्पराओं में यह पदस्थापना किस विधि पूर्वक की जाती है? तत्सम्बन्धी प्रामाणिक सामग्री प्राप्त नहीं हो पायी है। सम्भवत: मूर्तिपूजक सम्प्रदाय की अन्य परम्पराएँ तपागच्छ सामाचारी का ही अनुसरण करती हैं।

दिगम्बर परम्परा में उपाध्याय पदस्थापना की निम्न विधि है–[74]

सर्वप्रथम शुभ मुहूर्त्त में पददाता गुरु गणधरवलय (मन्त्रपट्ट) और द्वादशांगी (श्रुतआगम) की पूजा करवाएँ। उसके बाद स्वच्छ भूमि पर चन्दन रस के छींटे देकर वहाँ अक्षतों से स्वस्तिक करें। फिर उस स्थान पर एक पट्टा (चौकी) की स्थापना करें। फिर उपाध्यायपद योग्य शिष्य को उस चौकी पर पूर्वाभिमुख करके बिठाएं। तदनन्तर **'उपाध्यायपदस्थापनं क्रियायां पूर्वाचार्येति'** यह पद कहकर सिद्धभक्ति एवं श्रुतभक्ति का पठन करें। उसके बाद गुरु आह्वान योग्य मन्त्रों का उच्चारण कर उस मुनि के मस्तक पर लवंग-पुष्प-अक्षत का क्षेपण करें।

आह्वान मन्त्र यह है – **''ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं, उपाध्याय परमेष्ठिन् अत्र एहि एहि संवौषट् आह्वाननं, स्थापनं, सन्निधि करणं।''**

तत्पश्चात् उपाध्याय पदग्राही शिष्य के मस्तक पर निम्न मन्त्र का चन्दन से न्यास (आलेखन) करें – **''ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं, उपाध्याय परमेष्ठिने नमः''**

तदनन्तर शिष्य शान्तिभक्ति एवं समाधिभक्ति पढ़ें। फिर गुरुभक्ति पढ़कर गुरु का वन्दन करे और गुरु आशीर्वाद प्रदान करें।

तुलनात्मक विवेचन

जिनमत में उपाध्याय का गौरवपूर्ण स्थान है। जब हम पूर्व विवेचित उपाध्याय पदस्थापना-विधि की तुलनात्मक मीमांसा करते हैं तो इसके सम्बन्ध में सामाचारीसंग्रह, प्राचीनसामाचारी, तिलकाचार्य सामाचारी, सुबोधासामाचारी, विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर आदि रचनाएँ उपयोगी सिद्ध होती हैं। इन ग्रन्थों में उपाध्याय-विधि सम्यक् रूप से कही गई है। उनके आधार से तुलनात्मक परिणाम निम्नानुसार है –

पदस्थापन विधि की अपेक्षा– सामाचारीसंग्रह,[75] प्राचीनसामाचारी,[76] तिलकाचार्य सामाचारी,[77] सुबोधासामाचारी[78] एवं आचारदिनकर[79] इन ग्रन्थों में उपाध्याय-विधि स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादित है, परन्तु वहाँ इस विधि का विस्तृत वर्णन न करके उसे आचार्य पदस्थापना की भांति सम्पादित करने का उल्लेख किया गया है, जबकि विधिमार्गप्रपा में इसे वाचनाचार्य पदस्थापना के समान निष्पादित करने का सूचन है।[80]

ध्यातव्य है कि प्राचीनसामाचारी आदि ग्रन्थों का अनुसरण करने वाली परम्पराएँ तद् ग्रन्थों में उल्लिखित आचार्यपद स्थापना के समान उपाध्याय पद स्थापना विधि सम्पन्न करें। जैसे कि तिलकाचार्यसामाचारी के अनुसार उपाध्याय अनुज्ञा की विधि सम्पन्न करवाने वाला गुरु इसी में वर्णित आचार्य पदस्थापना के समान यह विधि करवाएं, अन्य ग्रन्थों के आधार से नहीं, क्योंकि सभी में सामान्य रूप से सामाचारी भेद हैं।

सामाचारीसंग्रह आदि में यह निर्देश भी दिया गया है कि उपाध्याय योग्य शिष्य को अक्षमुष्टि न दें, आचार्य उसे वन्दन न करें। उस दिन कालग्रहण न लें और सभी आलापक पाठ 'उपाध्याय' के अभिलाप से बोलें। तिलकाचार्य सामाचारी में कुछ अक्षमुष्टि देने का सूचन है।

आसनविधि की अपेक्षा– सामान्य मुनियों की अपेक्षा उपाध्याय उच्च स्थानीय होते हैं अतः इस पद की शोभार्थ उनका आसन अपेक्षाकृत ऊँचा होना चाहिए। विधिमार्गप्रपाकार[81] ने इस सम्बन्ध में दो कंबल परिमाण आसन देने का सूचन किया है। इससे ज्ञात होता है कि उपाध्याय को ऊंचे आसन पर बैठना चाहिए। सामाचारीसंग्रह[82] एवं प्राचीनसामाचारी[83] में आसन दान का निर्देश तो है, किन्तु वह किस परिमाण का होना चाहिए? इसकी कोई चर्चा नहीं की है।

तिलकाचार्यसामाचारी,[84] सुबोधासामाचारी[85] एवं आचारदिनकर[86] में इस विषयक किसी तरह का निर्देश नहीं दिया गया है। सम्भवतः आचार्य पदस्थ के समान ही इन्हें नवनिर्मित आसन दिया जाता है, क्योंकि निर्दिष्ट ग्रन्थों के अनुसार यह विधि आचार्यपद स्थापना के समान की जाती है। यद्यपि इनमें आसन परिमाण का कोई सूचन नहीं है।

नन्दीपाठ विधि की अपेक्षा– जैन आम्नाय में गृहीत पद के स्थिरीकरण

एवं मंगल हेतु नन्दीसूत्र या उसका कुछ भाग सुनाने की परिपाटी है। इस विधि-प्रक्रिया में जैनाचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं।

सामाचारीसंग्रह में आचार्य पदस्थापना के समान नन्दी क्रिया करने का उल्लेख है। विधिमार्गप्रपा में वाचनाचार्य पदस्थापना के समान एक बार लघुनन्दी पाठ सुनाने का सूचन है। आचारदिनकर में बृहद् नन्दी के स्थान पर तीन बार लघुनन्दी का पाठ कहने का संकेत है। प्राचीनसामाचारी एवं सुबोधासामाचारी में नन्दीपाठ सुनाने का निषेध है यद्यपि लघुनन्दी का नियम होना चाहिए। तिलकाचार्यसामाचारी में इस विषयक कुछ भी नहीं कहा गया है।

मन्त्रश्रवण विधि की अपेक्षा– पूर्व परम्परा से उपाध्याय योग्य शिष्य को अनुज्ञा के दिन (शासन प्रभावनार्थ) मन्त्र सुनाया जाता है। इस विधि के सम्बन्ध में सामाचारी ग्रन्थों का प्राय: एक मत है।

अतएव सामाचारीसंग्रह आदि ग्रन्थों के अनुसार नूतन उपाध्याय को तीन बार वर्धमानविद्या मन्त्र सुनाया जाता है और वह मन्त्र सभी में समान ही है।

मन्त्रसाधना विधि की अपेक्षा – प्राचीनसामाचारी,[87] सुबोधासामाचारी,[88] तिलकाचार्यसामाचारी[89] एवं विधिमार्गप्रपा[90] में वर्धमानविद्या मन्त्र को एक उपवास पूर्वक हजार जाप करके सिद्ध करने का उल्लेख है।

आचारदिनकर[91] में इस मन्त्र साधना का तत्सम्बन्धी विधि में कोई निर्देश नहीं है जबकि सामाचारीसंग्रह[92] में जाप विधि के साथ-साथ जाप दिन का भी उल्लेख है। इसमें कहा गया है कि भगवान महावीर के जन्म नक्षत्र के दिन उपवास सहित एक आसन में बैठकर तथा समाधि एवं शुक्लध्यान के भावों में निमग्न होकर हजार बार जाप करने से यह मन्त्र सिद्ध होता है।

तिलकाचार्य ने यह भी सूचित किया है कि उपाध्याय इस मन्त्र को सिद्ध करके वासचूर्ण इसी मन्त्र से अभिमन्त्रित करें और वही शिष्यों के लिए प्रदान करें।

विद्यामण्डलपट्ट की अपेक्षा– उपाध्याय पद को प्रभावशाली एवं शासन हितावही बनाने के प्रयोजन से नूतन उपाध्याय को वर्द्धमानविद्या मण्डलपट्ट दिया जाता है। इस यन्त्रपट्ट में साधना योग्य मन्त्रों एवं सम्यक्त्वी देवी-देवताओं के नाम अंकित रहते हैं। उपाध्याय द्वारा इसे सिद्ध किया जाता है।

आचारदिनकर के अनुसार उपाध्याय को चार द्वार वाला वर्द्धमानविद्यापट्ट

दिया जाता है। विधिमार्गप्रपा के संकेतानुसार भी नूतन उपाध्याय को वर्धमानविद्या मण्डलपट्ट प्रदान किया जाता है। तिलकाचार्यसामाचारी एवं सुबोधासामाचारी में वर्धमानविद्या का उपदेश देते हैं, ऐसा वर्णन है।

इस प्रकार उपलब्ध ग्रन्थों में स्थापनाविधि, नन्दीश्रवण, आसनदान, मन्त्र साधना आदि के सम्बन्ध में किञ्चित् सामाचारी भेद हैं यद्यपि बहुत कुछ समरूपता भी है।

त्रिविध परम्परा की अपेक्षा– यदि जैन, वैदिक एवं बौद्ध परम्परा की अपेक्षा से तुलना की जाए तो कहा जा सकता है कि जैन धर्म की सभी उपशाखाओं में यह विधि निज आम्नाय के अनुसार आज भी प्रचलित है तथा परम्परागत प्राप्त विधि पूर्व में कह चुके हैं।

वैदिक परम्परा में उपाध्याय शब्द की व्याख्या तो मिलती है, किन्तु वहाँ उपाध्याय का अर्थ भिन्न है। मनुस्मृति के अनुसार जो द्रव्योपार्जन के उद्देश्य से वेद के एक देश अथवा अंग का अध्ययन करवाता है वह उपाध्याय है।[93] भविष्यपुराण में भी उपाध्याय की यही परिभाषा कही गयी है। इसका फलितार्थ यह है कि जैन परम्परा में उपाध्याय एक मात्र स्व-पर कल्याण के ध्येय से आगम सिद्धान्तों का पठन-पाठन करवाते हैं जबकि वैदिक-परम्परा में उपाध्याय आजीविका का उपार्जन करने के लक्ष्य से शिष्यों को अध्ययन करवाते हैं। इस प्रकार जैन परम्परा के उपाध्याय एवं वैदिक परम्परा के उपाध्याय की अध्यापन दृष्टि में महत अन्तर है।

बौद्ध-परम्परा में शिक्षक या गुरु को आचार्य और उपाध्याय की संज्ञा दी गयी है। महावग्ग के अनुसार उपाध्याय वरिष्ठ अधिकारी होते हैं तथा वे नये भिक्षुओं को शास्त्र एवं सिद्धान्त का शिक्षण देते हैं जबकि आचार्य नूतन भिक्षुओं के आचरण की देख-रेख करते हैं।

बौद्ध ग्रन्थों में अध्यात्म गुरु के लिए भी 'उपज्झाय' शब्द का प्रयोग हुआ है। डॉ. मदनमोहनसिंह के मत से जो निकट चला गया हो, वह 'उपज्झाय' है। बौद्ध-साहित्य में गुरु के लिए विप्र, शास्त्रकर्त्ता शब्द भी व्यवहृत है। इनके अतिरिक्त सुतंतक, विनयधर, मातिकाधर आदि शब्द भी वर्णित है। कुछ विद्वानों के अनुसार उक्त तीनों शब्द उपाध्याय के पर्याय है।[94]

विनयपिटक में उपाध्याय के शिष्य सम्बन्धी कुछ कर्त्तव्य कहे गये हैं यथा-

1. शिष्य पर अनुग्रह करना 2. शिष्य को उपदेश देना 3. पात्र देना 4. चीवर प्रदान करना 5. शिष्य रूग्णावस्था में हो तो यथा समय जलादि देना।[95]

मिलिन्दप्रश्न में उपाध्याय (शिक्षक) के निम्नलिखित पच्चीस कर्त्तव्य प्रतिपादित है[96]–

1. शिष्य का यथोचित ध्यान रखना 2. सतर्कता रखने योग्य कृत्यों का उपदेश देना 3. कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सदा उपदेश देते रहना 4. शिष्य के शयन आदि का ध्यान रखना 5. शिष्य के रूग्ण होने पर उसकी सेवा करना 6. शिक्षार्थी ने क्या पाया क्या खोया? इसका ध्यान रखना 7. शिक्षार्थी के चरित्र को विशिष्ट रूप से जानना 8. भिक्षापात्र में जो मिले उसे बांटकर खाना 9. शिष्य को सदा उत्साहित करते रहना 10. सत्संगति का निर्देश करना 11. अमुक गांव में जा सकते हों, ऐसा सूचित करना 12. अमुक प्रान्तों में विहार (पदयात्रा) कर सकते हो, ऐसा निर्देश देना 13. अमुक के साथ बातचीत न करने का सूचन करना 14. शिक्षार्थी के अपराधों को क्षमा करना 15. शिष्य को उद्यम के साथ शिक्षाभ्यास करवाना 16. अनवरत रूप से ज्ञानार्जन करवाना 17. शिक्षार्थी की त्रुटियों को छिपाना नहीं 18. शिक्षार्थी को मुष्टि नहीं दिखाना 19. शिष्यों से पुत्रवत् स्नेह करना 20. सदैव यह प्रयत्न करना कि शिष्य अपने उद्देश्य से पतित न हो जाए 21. शिक्षा के सभी आयामों से उसे अभिवृद्ध करना 22. शिक्षार्थी के साथ मैत्री भाव रखना 23. विपदग्रस्त स्थिति में शिष्य का त्याग नहीं करना 24. शिक्षा देने योग्य सीख में भूल नहीं करना 25. शिष्य को धर्म से गिरते हुए देख उसे सम्भालना अथवा पतित होने से बचाना।

बौद्ध मान्यतानुसार दस वर्ष या इससे अधिक काल तक भिक्षु जीवन का पालन करने वाला शिष्य उपाध्याय पदस्थ (शिक्षक) हो सकता है।

इस प्रकार बौद्ध पद्धति में उपाध्याय के लक्षण, कर्त्तव्य आदि का समुचित विवेचन प्राप्त होता है तथा जैन एवं बौद्ध दोनों धाराओं में उपाध्याय को आदर्श गुरु के रूप में स्वीकार किया गया है। इनमें मूल अन्तर यह है कि आचार्य को प्रथम एवं उपाध्याय को द्वितीय स्थान दिया गया है जबकि बौद्ध-परम्परा में उपाध्याय को प्रथम एवं आचार्य को द्वितीय स्थान प्राप्त है।

निष्कर्ष है कि जैन, सनातनी एवं बौद्ध तीनों परम्पराओं में उपाध्याय की नियुक्ति है, यद्यपि उनके उद्देश्यों और कर्त्तव्यों में यत्किञ्चित वैभिन्य है।

उपसंहार

जिस गच्छ का साधु-साध्वी वर्ग विशाल हो, जिसमें अनेक संघाटक अलग-अलग विचरते हों अथवा जिस गच्छ में नवदीक्षित, बाल या तरूण साधु-साध्वियाँ हों, वहाँ अनेक पदवीधरों का होना अनिवार्य है तथा कम से कम आचार्य- उपाध्याय इन दो पदवीधरों का होना तो नितान्त आवश्यक है।

उपाध्याय का मुख्य उत्तरदायित्व अध्ययन करवाना है, जिसमें शिष्यों के अध्ययन सम्बन्धी व्यवस्था की देख-रेख उन्हें करनी पड़ती है अत: इस पद के लिए जघन्यतम तीन वर्ष का दीक्षा पर्याय होना आवश्यक कहा गया है।

वस्तुत: जैन संघ में आचार्य के तुल्य ही उपाध्याय का महत्त्व है। संघ-व्यवस्था की दृष्टि से भले ही उपाध्याय का स्थान आचार्य के पश्चात् हो, परन्तु जो गौरव आचार्य को प्राप्त है वही उपाध्याय को दिया जाता है जैसे आचार्य के पाँच अतिशय हैं तो उपाध्याय के भी वही पाँच अतिशय हैं। शासन-व्यवस्था की अपेक्षा आचार्य की महत्ता है तो यथार्थ ज्ञान को प्रसरित, विकसित एवं उपकारी बनाने में उपाध्याय का अग्रणी स्थान है। इसी हेतु से आचार्य एवं उपाध्याय इन पदों का बहुत-सी जगह पर एक साथ कथन किया गया है।

इसका आशय यह भी है कि ये दोनों पदवीधर गच्छ में बाह्य एवं आभ्यन्तर ऋद्धि सम्पन्न होते हैं तथा इन दोनों पदवीधरों का प्रत्येक गच्छ में होना नितान्त आवश्यक है।

सन्दर्भ-सूची

1. *संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 215*
2. *बृहत्-हिन्दी कोश, पृ. 199*
3. *पाइयसद्दमहण्णवो, पृ. 175*
4. *'उ'त्ति उवगरण 'वे' ति, वेयज्झाणस्स होइ निद्देसे।*
   एएण होइ उज्झा, एसो अण्णो वि पज्जाओ।।
   अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 2, पृ. 883
5. *आवश्यक टीका, पृ. 883*
6. *उपाध्याय अध्यापक:। आचारांग टीका सूत्र, 279*
7. *भगवतीआराधना, विजयोदयाटीका, पृ. 86*

8. बारसंगो जिणक्खाओ, सज्झाओ कहिओ बहेहिं।
तं उवइसंति जम्हा, उवझाया तेण वुच्चंति।।
आवश्यकनिर्युक्ति, 997

9. उत्ति उवओगकरणे, वत्ति अ पावपरिवज्जणे होइ।
झत्ति आ झाणस्स कए, उत्ति अ ओसक्कण कम्मे।।
आवश्यकनिर्युक्ति, 999

10. उवगम्म जओऽहीयइ, जं चोवगयमज्झयाविंति।
जं चोवायज्झाया हियस्स, तो ते उवज्झाया।।
विशेषावश्यकभाष्य, 3199

11. धम्मोवदेस दिक्खा, बओअदेस दिस वायणा गुरवो।
एत्थेव उवज्झाओ, गहिओ सुयवायणायरिओ।।
विशेषावश्यकभाष्य, 1818 की कोट्याचार्य वृत्ति, पृ. 393

12. सुत्तत्थतदुभयविऊ, उज्जुत्ता नाण-दंसण-चरित्ते।
निफादगसिस्साणं, एरिसया होंतुवज्झाया।।
व्यवहारभाष्य, 956

13. अविदिण्णदिसो गणहरपदजोग्गो उवज्झातो।
दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 15

14. नमो सिद्धाणं पद: समीक्षात्मक परिशीलन, पृ. 242

15. मूलाचार, 4/155-156 की टीका

16. अभिषेक: उपाध्याय:। बृहत्कल्पभाष्य, 6110 की टीका

17. वही, 4338 की टीका

18. व्यवहारभाष्य, 957

19. बृहत्कल्पभाष्य, 1070 की टीका

20. व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 3/3 की टीका

21. स्थानांगसूत्र, स्थान 8 की टीका

22. तिविहो बहुस्सुओ खलु, जहन्नओ मज्झिमो य उक्कोसो।
आचारपकप्पे कप्पे, णवम-दसमे य उक्कोसो।।
बृहत्कल्पसूत्र, 1/1

23. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. 6, पृ. 215

24. चारित्रप्रकाश, 115

25. संबोधप्रकरण, 166-184
26. उत्तराध्ययनसूत्र, 11/15-30
27. (क) व्यवहारभाष्य, 957
    (ख) भिक्षुआगमविषयकोश, भा. 2, पृ. 581
28. विशेषावश्यकभाष्य, 3200
29. ओघनिर्युक्तिटीका, पृ. 3.
30. वायणायरिओ नाम जो उवज्झायसंदिट्ठो उद्देसादि करेति।
    आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 217
31. वाचका उपाध्यायस्तेषां वंशस्तम्।
    विशेषावश्यकभाष्य, 1062 की टीका, पत्र. 418
32. आवश्यकचूर्णि, भा. 1, पृ. 86
33. नन्दीचूर्णि, पृ. 9
34. व्यवहारसूत्र, 3/3-4
35. व्यवहारसूत्र, मधुकरमुनि, पृ. 313-315
36. वही, पृ. 315
37. वही, पृ. 317
38. सम्मत्तनाणसंजमजुत्तो, सुत्तत्थ तदुभय विहिन्नू।
    आयरियठाणजुग्गो, सुत्तं वाए उवज्झाओ॥
    प्राचीनसामाचारी, पृ. 28
39. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 192
40. व्यवहारसूत्र, मधुकरमुनि, 6/2/1-5
41. स्थानांगसूत्र, मधुकरमुनि, 7/81
42. व्यवहारभाष्य, मुनि दुलहराज, गा. 2675
43. व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, पृ. 378
44. व्यवहारभाष्य, मुनि दुलहराज, गा. 2529,30,43,2600
45. व्यवहारसूत्र, 4/1-2, 5-6
46. वही, पृ. 340
47. व्यवहारभाष्य, गाथा 1735
48. वही, गा. 1736-37, 1739
49. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 192

50. *आचारदिनकर, पृ. 112*
51. *जिनेन्द्रपूजासंग्रह, पृ. 7-9*
52. *सेत्तमायाए तत्थ गच्छेज्जा, गच्छित्ता पुव्वामेव एवं वदेज्जा – आउसंतो समणा! संति मम पुरेसंथुया वा पच्छासंथुया वा, तं जहा – आयरिए वा उवज्झाए वा पवत्ती वा थेरे वा गणी वा गणधरे वा गणावच्छेइए वा, अवियाइं ऐतेसिं खद्धं खद्धं दाहामि ? आचारचूला, संपा. मधुकरमुनि, 2/1/10/399*
53. *से भिक्खवा अभिकंखेज्जा सेज्जासंथारगभूमिं पडिलेहित्तए, अण्णत्थ आयरिएण वा उवज्झाएण वा जाव ...... संजयामेव बहुफासुयं सेज्जासंथारगं संथरेज्जा। आचारचूला, 2/3/460*
54. *जे तत्थ आयरिए वा उवज्झाए वा से भासेज्ज वा वियागरेज्ज वा आयरिय-उवज्झायस्स भासमाणस्स ...... आहारातिणियाए दूइज्जेज्जा।*
आचारचूला, 3/3/507
55. *तिहिं ठाणेहिं अहुणोववण्णे देवे देवलोगेसु इच्छेज्ज माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्ताए, संचाएह हव्वमागच्छित्तए।*
ठाणं, संपा. नथमल, 3/3/362
56. *तिहिं ठाणेहिं देवे परितप्पेज्जा, तं जहा- अहो! णं मए संते बले संते वीरिए ...... भोगासंसगिद्धेणं णो विसुद्धे चरित्तेफासिते इच्चे तेहिंतिहिं ठाणेहिं देवे परितप्पेज्जा।। ठाणं, 3/364*
57. *गुरूं पडुच्च तओ पडिणीया पण्णत्ता, तं जहा - आयरियपडिणीए, उवज्झायपडिणीए, थेरपडिणीए। ठाणं, 3/488.*
58. *आयरिय- उवज्झायस्स णं गणंसि सत्त संगहठाणा पण्णत्ता, तं जहा ...... आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि पुव्वुपण्णाइं उवकरणाइं सम्मं सारक्खेत्ता संगोवित्ता भवति णो असम्मं सारक्खेत्ता संगोवित्ता भवति। ठाणं, 7/6.*
59. *आयरिय-उवज्झायस्स णं गणंसि सत्त अइसेसा पण्णत्ता, तं जहा- आयरिय-उवज्झाए अंतो उवस्सयस्स पाए णिगिज्झिय ...... उवकरणतिसेसे, भत्तपाणातिसेसे। ठाणं, 7/81.*
60. *सम्भोग का अर्थ है - सम्बन्ध। समवायांगसूत्र में मुनियों के पारस्परिक सम्बन्ध बारह प्रकार के बतलाए गये हैं। जिनमें ये सम्बन्ध प्रवर्तित होते हैं वे सांभौगिक और जिनके साथ इन सम्बन्धों का विच्छेद कर दिया जाता है, वे विसांभौगिक कहलाते हैं।*

61. णवहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे संभोइयं विसंभोइयं करेमाणे णातिक्कमति तं जहा - आयरियपडिणीयं, उवज्झायपडिणीयं ...... चरित्तपडिणीयं।

ठाणं, 9/1

62. दसविधे वेयावच्चे पण्णत्ते तं जहा- आयरियवेयावच्चे, उवज्झायवेयावच्चे ...... साहम्मियवेयावच्चे। ठाणं, 10/17

63. आयारिय-उवज्झाएहिं, सुयं विणयं च गहिए।
ते चेव खिंसई बाले, महामोहं पकुव्वइ।।
आयरिय-उवज्झायाणं, सम्मं नो पडितप्पइ।
अप्पडिपूयए थद्धे, महामोहं पकुव्वइ।।

समवायांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, समवाय 30, 196/24-25

64. आयरिय उवज्झाए णं भंते ! सविसयंसि गणं अगिलाए ...... तच्चं पुण भवग्गहणं नातिक्कमति। भगवतीसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 5/6/19

65. एवामेव समणाउसो! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा आयरियउवज्झायाणं अंतिए ...... दंडणाणि जाव अणुपरियट्टइ, जहा कुम्मए अगुत्तिंदिए।

ज्ञाताधर्मकथासूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 4/10

66. एवामेव समणाउसो! जो अम्हं निग्गंथी वा आयरिय-उवज्झायाणं अंतिए पव्वइए समाणे पंचमहव्वएसु, ... चाउरंतं संसारकंतारं भुज्जोभुज्जो अणुपरियट्टिस्सइ। वही, 3/20

67. आचारांगटीका, सू. 279

68. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1000

69. विशेषावश्यकभाष्य, गा. 3199

70. व्यवहारभाष्य, गा. 956

71. दशवैकालिकचूर्णि, पृ. 15

72. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 192

73. श्रीप्रव्रज्यायोगादिविधिसंग्रह, पृ. 103-106

74. हुम्बुजश्रमणभक्तिसंग्रह खण्ड-1, पृ. 499

75. सामाचारीसंग्रह, पृ. 75

76. प्राचीनसामाचारी, पृ. 28

77. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ. 50

78. सुबोधासामाचारी, पृ. 19

79. आचारदिनकर, भा.1, पृ. 112

80. *विधिमार्गप्रपा-सानुवाद पृ. 193*
81. *विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 192*
82. *सामाचारीसंग्रह, पृ. 75*
83. *प्राचीनसामाचारी, पृ. 28*
84. *तिलकाचार्यसामाचारी, पृ. 50*
85. *सुबोधासामाचारी, पृ. 19*
86. *आचारदिनकर, पृ. 112*
87. *प्राचीनसामाचारी, पृ. 28*
88. *सुबोधासामाचारी, पृ. 19*
89. *तिलकाचार्यसामाचारी, पृ. 50*
90. *विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 192*
91. *आचारदिनकर, पृ. 112*
92. *सामाचारीसंग्रह, पृ. 75.*
93. *हिन्दूधर्मकोश, पृ. 197.*
94. *जैन एवं बौद्ध शिक्षा दर्शन : एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 155-156*
95. *वही, पृ. 157-158*
96. *मिलिन्दपन्हपालि, पृ. 76*

●

अध्याय-8

आचार्य पदस्थापना विधि का शास्त्रीय स्वरूप

जैन धर्म का मूलमन्त्र पंचपरमेष्ठी का वाचक है। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु पंचपरमेष्ठी कहलाते हैं। अरिहन्त और सिद्ध देवस्थानीय हैं तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु गुरुस्थानीय हैं। इस पंचम काल में जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में तीर्थङ्कर (अरिहन्तदेव) का साक्षात अभाव होने से आचार्य को तीर्थङ्कर के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया जाता है। आचार्य धर्म संघ रूप नौका के नायक होते हैं। जिस प्रकार खेत खलियान के बीच गड़ी हुई खूंटी के सहारे बैल निर्भीक होकर घूमते रहते हैं उसी प्रकार आचार्य धर्म संघ के मेढ़ीभूत (केन्द्र के समान) आलम्बन रूप होते हैं।

आचार्य शब्द का अर्थ एवं विभिन्न परिभाषाएँ

• आचार्य शब्द आ+चर्+ण्यत - इन तीन पदों के संयोग से व्युत्पन्न है। 'आ' उपसर्ग मर्यादाबोधक और 'चर्' धातु गत्यार्थक है। इसका फलितार्थ है कि सम्यक प्रकार से आचरण करने वाला, मर्यादा एवं यतना पूर्वक प्रवृत्ति करने वाला अथवा आचार मार्ग का अनुसरण करने वाला महामुनि आचार्य कहलाता है।[1]

• आचार्य शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ है – जिनके द्वारा जिनशासन (धर्मसंघ) की अभिवृद्धि के लिए विनय आदि गुण रूप आचार का सम्यक आचरण किया जाता है वह आचार्य है।[2] • जिनके द्वारा आगम सूत्रार्थ का अवबोध करने के लिए सम्यक आचरण किया जाता है और मोक्षाभिलाषी साधकों के द्वारा तद्रूप आचरण करवाया जाता है वह आचार्य है।[3]

• आचार्य का सामान्य अर्थ है - आचारनिष्ठ। जो स्वयं आचारयुक्त हों और अपने निश्रावर्ती एवं अनुयायीवृन्द को आचार सम्पन्न करते हों।

स्पष्ट रूप से कहा जाए तो जो स्वयं पंचाचार का पालन करते हैं और दूसरों से करवाते हैं, जो स्वयं शास्त्रों के यथार्थ का अनुशीलन करते हैं और

अन्यों से करवाते हैं तथा आगम सूत्रों के अध्ययन-अध्यापन द्वारा बुद्धि को परिमार्जित एवं परिष्कृत करते हैं वे आचार्य हैं।[4]

• भगवतीटीका में आचार्य का स्वरूप विश्लेषित करते हुए कहा गया है कि जो सूत्र-अर्थ का ज्ञाता, आचार्य के लक्षणों से संयुक्त और गच्छ का आधारस्तम्भ होता है तथा स्वयं ताप से मुक्त होते हुए अधीनस्थ संघ को सन्ताप से मुक्त करते हैं और शिष्यों को अर्थ का मर्म समझाते हैं, वह आचार्य है।[5]

• संस्कृत-हिन्दी कोश के अनुसार आचार्य आध्यात्मिक गुरु है, जो अपने शिष्यों को प्रशिक्षित करते हैं। वे विशिष्ट ग्रन्थों के ज्ञाता होते हैं।[6]

• बृहत्कल्पभाष्य में आचार्य योग्य मुनि का स्वरूप दर्शाते हुए कहा है जिसने निशीथचूला का सूत्रतः पूर्ण अध्ययन कर लिया हो, गुरु के समीप उसके अर्थ को ग्रहण कर चुका हो, परावर्त्तना और अनुप्रेक्षा द्वारा सूत्रार्थ का सम्यक अभ्यास कर लिया हो, विधि-निषेध के विधान में कुशल हो, पंचमहाव्रत एवं छट्ठे रात्रिभोजन विरमण-व्रत में जागरूक हो वह आचार्य पद के योग्य होता है।[7]

• व्यवहारभाष्य में आचार्य का योग साधना प्रधान अर्थ करते हुए निर्दिष्ट किया गया है कि जो ज्ञानयोग, दर्शनयोग और चारित्रयोग को सम्प्राप्त हो तथा इस योगत्रयी की शुद्धि करने वाला हो, वह आचार्य है।[8]

• आवश्यकनिर्युक्ति के अभिमतानुसार जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य का अनुपालन करते हैं, उसके अनुरूप अर्थ की व्याख्या करते हैं और दूसरों को आचार की क्रियाओं का सक्रिय प्रशिक्षण देते हैं, वे आचार्य हैं।[9]

• दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि के अनुसार जो सूत्र, अर्थ और तदुभय का ज्ञाता है तथा अपने गुरु प्रदत्त पद पर स्थापित है, वह आचार्य है।[10]

• दशवैकालिक जिनदासचूर्णि में जो शिष्य सूत्रार्थ का ही ज्ञाता है किन्तु गुरु द्वारा पद पर स्थापित किया गया है उसे भी आचार्य कहा गया है।[11]

• दशवैकालिक टीका के अनुसार सूत्र-अर्थ के ज्ञाता अथवा गुरुस्थानीय ज्येष्ठ मुनि आचार्य कहलाते हैं।[12]

• विद्वत परिभाषा के अनुसार जो सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रों के अर्थ का मननपूर्वक संचयन अथवा संग्रहण करते हैं, निरतिचार आचार का सम्यक अनुपालन करते हैं और धर्म संघ को आचार में स्थापित करते हैं, वे आचार्य कहे जाते हैं।[13]

• भगवती आराधना के निर्देशानुसार जो मुनि पाँच प्रकार के आचार का निरतिचार पालन करते हुए दूसरों को भी पंचाचार में प्रवृत्त करता है तथा शिष्यों को आचार पालन का उपदेश देता है, वह आचार्य है।[14]

• नियमसार में पाँच आचारों से परिपूर्ण, पंचेन्द्रिय रूपी हाथी के मद का दलन करने वाले, धीर और गुण गम्भीर मुनि को आचार्य कहा है।[15]

• सर्वार्थसिद्धि के अनुसार जिसके निमित्त से शिष्यगण व्रतों का आचरण करते हैं वह आचार्य हैं।[16]

• धवला टीकाकार के मतानुसार जिनकी बुद्धि प्रवचनरूपी समुद्र के मध्य में स्नान करने से निर्मल हो गयी है, जो निर्दोष रूप से छह आवश्यक का पालन करते हैं, मेरू के समान निष्कम्प हैं, शूरवीर हैं, सिंहवत निर्भीक हैं, श्रेष्ठ हैं, देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं, सौम्य स्वभावी हैं, बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित हैं, आकाश की भाँति निर्लेप हैं, संघ के संग्रह (दीक्षा) और निग्रह (शिक्षा या प्रायश्चित्त देने) में कुशल हैं, सूत्र के अर्थ में विशारद हैं, विश्वव्यापी कीर्ति वाले हैं, सारण (आचरण), वारण (निषेध) और साधन अर्थात व्रतरक्षण की क्रियाओं में निरन्तर उद्यमवन्त हैं, चौदह विद्या स्थानों में पारंगत हैं, आचारांग आदि अंगों के धारक हैं, स्व-पर सिद्धान्त में निपुण हैं, मेरू सम निश्चल हैं, पृथ्वी सम सहिष्णु हैं और सप्त भयों से रहित हैं वे सही अर्थों में आचार्य कहलाने योग्य हैं।[17]

• पंचाध्यायी के अनुसार जो मुनि अन्य संयमियों से पाँच प्रकार के आचारों का आचरण करवाता है अथवा व्रत खण्डित होने पर पुनः प्रायश्चित्त द्वारा उस व्रत में स्थिर होने के इच्छुक साधु को प्रायश्चित्त देता है, वह आचार्य कहलाता है।[18]

समाहारतः जो स्वयं पाँच आचारों का पालन करते हैं और दूसरों से आचार का पालन करवाते हैं, जो शिष्यों को सूत्र और अर्थ की वाचना देते हैं, तीर्थङ्कर के प्रतिनिधि होते हैं तथा नमस्कार महामन्त्र में तीसरे पद के वाचक हैं, वे आचार्य कहलाते हैं।

जैन साहित्य में आचार्य के लक्षण

सामान्यतया जो आचार कुशल होते हैं, वे आचार्य कहे जाते हैं। व्यवहारभाष्य में आचारकुशल का विस्तृत अर्थ प्रतिपादित है। तदनुसार जो

अभ्युत्थान- गुरु आदि के आने पर खड़ा होता है, **आसन**– उन्हें आसन प्रदान करता है, **किंकर**– प्रातः गुरु चरणों में उपस्थित हो पूछता है कि 'किं करोमि'- मुझे क्या करना है? आज्ञा दें, **अभ्यासकरण**– सदा गुरु के समीप रहता हुआ सूत्रादि का अभ्यास करता है, **अविभक्ति**– शिष्य और (आगम के अध्ययनार्थ) उपसम्पदा हेतु आगत मुनियों में अभेद बुद्धि रखता है, **प्रतिरूपयोग**– अभ्युत्थान आदि में जागरूक रहता है, **नियोग**– जो शिष्य जिस कार्य के योग्य है, उसे उसमें नियुक्त करता है, **पूजा**– गुरु का यथायोग्य बहुमान करता है, **अपरुष**– हमेशा मधुर वचन बोलता है, **अवलय**– ऋजु होता है, **अचपल**– स्वभाव से स्थिर होता है, **अकुत्कुच**– मुख आदि से विद्रूप चेष्टा नहीं करता, **अदम्भक**– किसी व्यक्ति को छलता नहीं है, **सहित**– 'काले कालं समायरे' का प्रतिरूप होता है यानी स्वाध्याय, प्रतिलेखना, तप आदि सब कार्य समय पर करता है, **समाहित**– उपशम भाव में रहता है और **उपहित**– ज्ञान आदि में रमण करता हुआ सदा गुरु सन्निधि में रहता है वह आचार कुशल होता है। यथार्थतः वही आचार्य होता है।[19]

व्यवहारभाष्य टीका के अनुसार जो दात्रसदृश (लकड़ी छिलने वाले आरा के समान) पंचविध आचार के द्वारा कर्मकुश को काटता है वह भावकुशल आचार्य है।[20]

आवश्यकचूर्णिकार ने आचार्य के अनेक लक्षण बतलाए हैं। तदनुसार आचार्य आचारकुशल, संयमकुशल, प्रवचनकुशल, संग्रहकुशल (देश-काल के अनुसार शिष्य, वस्त्र, पात्रादि का संग्रह करने वाला), उपग्रहकुशल, अनुपग्रहकुशल, स्व-पर सिद्धान्त में निपुण, ओजस्वी, तेजस्वी, यशस्वी, अपराजयी, उदारहृदयी, क्रोधजयी, जितेन्द्रिय, भय विमुक्त, परिषहजयी, ब्रह्मस्थित, निर्मोही, निरहंकारी, अननुतापी (किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाने वाले), अनुकूल-प्रतिकूल में सहिष्णु, अचपल, अशबल (दोष रहित), क्लेश रहित, निर्मल चारित्रवान, दशविध आलोचना दोष के ज्ञाता, अष्टविध आचार स्थान के विज्ञाता, अष्टविध आलोचना गुणों के उपदेशक, आलोचनार्ह सूत्रों के मर्मज्ञ, प्रायश्चित्त दान में कुशल, मार्ग-कुमार्ग के परीक्षक, अवग्रह-ईहा-अपाय-धारणा आदि बुद्धि में निष्णात, अनुयोग ज्ञाता, नयज्ञ, शिष्यगण को विविध उपायपूर्वक आचारोपदेश कारक, अश्व के समान बिना देखे ही

स्वच्छन्द शिष्यों का अभिप्रायविज्ञ, पृथ्वी सम सहिष्णु, कमलपत्र की भाँति निर्लेप, वायु की तरह अप्रतिबद्ध, पर्वत सम निष्कम्प, सागर सम अक्षोभी, कछुआ की तरह गुप्तेन्द्रिय, स्वर्ण की भांति तेजमय, चन्द्र सम शीतल, गगन की तरह अपरिमित ज्ञानी, अतीन्द्रियार्थदर्शी, सूत्रार्थ में अति निपुण, मोक्ष गवेषक, तीन दण्ड- तीन गारव- तीन शल्य से रहित, पंच समिति से समित, तीन गुप्ति से युक्त, निदान ज्ञाता, विकल्प विधिज्ञ, षट्स्थान रूप विशुद्ध प्रत्याख्यान के उपदेशक, अष्टविध मद के मर्दक, अष्टविध कर्म ग्रन्थियों के भेदक, नवविध ब्रह्मचर्य गुप्ति के पालक, द्वादश भिक्षु प्रतिमा स्पर्शक, द्वादश तप एवं भावना भावित मतिवान, द्वादशांग सूत्रार्थ पारगामी और शिष्यादि समुदायवान इत्यादि लक्षणों से युक्त होते हैं।[21]

आदिपुराण के अनुसार आचार्य निम्न गुणों से सम्पन्न होते हैं[22]– 1. सदाचारी 2.स्थिरबुद्धि 3. जितेन्द्रिय 4. अन्तरंग और बहिरंग सौम्यता 5. व्याख्यान शैली की प्रवीणता 6. सुबोध व्याख्या शैली 7. प्रत्युत्पन्नमतित्व 8. गम्भीरता 9. प्रतिभा सम्पन्नता 10. तार्किकता 11. दयालुता 12. शिष्य के अभिप्रायों को अवगत करने की क्षमता वाला 13. समस्त विद्याओं का ज्ञाता 14. संस्कृत, प्राकृत आदि अनेकविध भाषाओं के जानकार 15. स्नेहशीलता 16. उदारता 17. सत्यवादिता 18. सत्कुलोत्पन्नता 19. परहित तत्परता आदि।

महानिशीथसूत्र में आचार्य के अनेक गुणों का वर्णन है। तदनुसार आचार्य 1. सुन्दर व्रत वाला 2. सुशील 3. दृढ़व्रती 4. दृढ़ चारित्री 5. अखण्ड अंग वाला 6. अपरिग्रही 7. राग-द्वेष विजेता 8. मोह- मिथ्यात्व रूपी मल कलंक से रहित 9. उपशान्त 10. स्वप्न शास्त्र का ज्ञाता 11. मोक्षमार्ग का परिज्ञाता 12. स्त्रीकथा- भक्तकथा- राजकथा- देश कथाओं से मुक्त 13. अत्यन्त अनुकम्पाशील 14. परलोक में प्राप्त होने वाले विघ्नों से डरने वाला 15. कुशील का शत्रु 16. शास्त्रों के भावार्थ को जानने वाला 17. अहिंसा आदि व्रत तथा क्षमादि दसधर्म में लीन रहने वाला 18. शास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता 19. द्वादशविध तपों में मग्न रहने वाला 20. पाँच समिति का पालक 21. तीन गुप्तियों से युक्त 22. अठारह हजार शीलांग की आराधना करने वाला 23. शत्रु-मित्र के साथ समभाव रखने वाला 24. सात भय स्थानों से मुक्त 25. नौ ब्रह्मचर्य व गुप्ति की विराधना से डरने वाला 26. बहुश्रुती 27. आर्यकुल में जन्मा हुआ

28. साध्वी वर्ग के संसर्ग से दूर रहने वाला 29. निरन्तर धर्मोपदेश करने वाला 30. सतत ओघ सामाचारी की प्ररूपणा करने वाला 31. साधु मर्यादा में रहने वाला 32. सामाचारी का पालक 33. शिष्य को आलोचना योग्य प्रायश्चित्त कराने में समर्थ 34. वन्दन- प्रतिक्रमण- स्वाध्याय- व्याख्यान- आलोचना- उद्देश और समुद्देश आदि सात समूहों की विराधना के जानकार 35. द्रव्य- क्षेत्र- काल और भाव के अन्तर को जानने वाले 36. द्रव्य- क्षेत्र- काल और भावादि आलम्बन से विमुक्त 37. घनी केशराशियुक्त 38. वृद्ध, शैक्ष साधु-साध्वी को मोक्षमार्ग की ओर प्रवर्त्तन करने में कुशल 39. ज्ञान-दर्शन और चारित्र रूपी रत्नत्रय की प्ररूपणा करने वाले 40. चरण और करण गुण के धारक 41. ज्ञानादि रत्नत्रय में निरत 42. दृढ़ सम्यक्त्वी 43. सतत परिश्रमी 44. धैर्यवान 45. गम्भीर 46. अतिशयवान 47. तपरूपी तेज से दूसरों के द्वारा पराजित न होने वाले 48. दान-शील-तप और भावना रूपी चतुर्विध धर्म में उत्पन्न विघ्नों को दूर करने वाला 49. सभी तरह की आशातनाओं से दूर रहने वाले 50. ऋद्धि-रस-सुख आदि तथा आर्त्त-रौद्र ध्यानों से अत्यन्त मुक्त 51. आवश्यक क्रियाओं में उद्यत 52. विशेष लब्धियों से युक्त 53. अल्प निद्रालु 54. अल्पभोजी 55. सभी आवश्यक, स्वाध्याय, ध्यान, अभिग्रह आदि में अत्यन्त परिश्रमी 56. परीषह और उपसर्ग में सहिष्णु 57. योग्य शिष्य को संगृहीत करने में कुशल 58. अयोग्य शिष्य का परिहार करने में समर्थ 59. दृढ़ संघयण 60. स्व-पर शास्त्रों का मर्मज्ञ 61. क्रोध- मान- माया- लोभ आदि अहितकारी प्रवृत्तियों से दूर रहने वाले 62. विषयाभिलाषी व्यक्ति को धर्मोपदेश द्वारा वैराग्य उत्पन्न कराने में समर्थ 63. प्रतिबोध द्वारा भव्य जीवों को गच्छ में सुस्थित करने वाले इत्यादि गुणयुत होते हैं।[23]

अध्याहारत: जैसे एक दीपक सैकड़ों दीपों को प्रज्वलित करता हुआ स्वयं भी प्रदीप्त रहता है वैसे ही आचार्य स्वयं के विशुद्ध ज्ञान के आलोक से दूसरों को आलोकित करते रहते हैं और स्वयं भी आलोकित रहते हैं।[24]

उपर्युक्त वर्णन में हमने पाया कि जैनाचार्यों ने आचार्य के भिन्न-भिन्न लक्षण निरूपित किये हैं यद्यपि उनमें परस्पर बहुत कुछ साम्य है।

आचार्य के शास्त्रोक्त गुण

जैन शास्त्रों में आचार्य को छत्तीस गुणों से युक्त माना गया है अत: उनके जीवन में निम्न 36 गुण होना आवश्यक है – (1-5) पाँच इन्द्रियों पर संयम रखना (6-14) नव ब्रह्मचर्य गुप्तियों का पालन करना (15-18) क्रोध आदि चार कषायों का निग्रह करना (19-23) अहिंसा आदि पांच महाव्रतों का पालन करना (24-28) ज्ञानाचार आदि पंच आचार का परिपालन करना (29-33) ईर्या आदि पांच समिति को धारण करना तथा (33-36) तीन गुप्तियों का आचरण करना।

इन छत्तीस गुणों के अतिरिक्त आचार्य में अन्य अनेक विशेषताएँ भी होती है। आचार्य हेमतिलकसूरि ने 'गुरुगुणषट्त्रिंशत्षट्त्रिंशिका बालावबोध' में आचार्य के छत्तीस गुणों का वर्णन प्रकारान्तर से किया है। इसे छत्तीस छत्तीसी कहते हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने भी इस सम्बन्ध में नवपदपूजा में कहा है कि

'वर छत्तीस गुणेकरी सोहे, युग प्रधान जन मोहे'

अर्थात आचार्य श्रेष्ठ 36 गुणों से परिपूर्ण होते हैं।[25] यहाँ छत्तीस-छत्तीसी का अभिप्राय 36×36 = 1296 गुणों से है। इन छत्तीसियों की गणना निम्न प्रकार जाननी चाहिए[26] –

1.) चार प्रकार की देशना, चार प्रकार की कथा, चार प्रकार का धर्म, चार प्रकार की भावना, चार प्रकार की स्मारणा (सारणादि), चार प्रकार के ध्यान और इन प्रत्येक के चार-चार भेद के ज्ञाता ऐसे (4×4 = 16, 4 + 4 + 4 + 4 + 4 + 16 = 36) गुण को धारण करने वाले हैं।

2.) पांच सम्यक्त्व, पांच चारित्र, पांच महाव्रत, पांच व्यवहार, पांच आचार, पांच समिति, पांच स्वाध्याय, एक संवेग, ऐसे (5+5+5+5+5+5+5+1 = 36) गुण को धारण करने वाले हैं।

3.) पांच इन्द्रिय, पांच इन्द्रिय के विषयों के ज्ञाता, पांच प्रमाद, पांच आस्रव, पांच निद्रा, पांच संक्लिष्ट भावना के त्यागी, षट्जीव निकाय के रक्षक ऐसे (5+5+5+5+5+5+6 = 36) गुण के धारक हैं।

4.) छह वचन दोष, छह लेश्या, छह आवश्यक, छह द्रव्य, छह दर्शन, छह भाषा के ज्ञाता ऐसे (6+6+6+6+6+6 = 36) गुण के धारक हैं।

5.) सात भय, सात पिण्डैषणा, सात पात्रैषणा, सात सुख, आठ मद के

सम्यक जानकार ऐसे (7+7+7+7+8 = 36) गुण के धारक हैं।

6.) आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, आठ चारित्राचार, आठ वादी गुण, चार बुद्धि के धारक, ऐसे (8+8+8+8+4 = 36) गुण के पालक हैं।

7.) आठ कर्म, आठ अष्टांगयोग, आठ महासिद्धि, आठ योगदृष्टि, चार अनुयोग के ज्ञाता होने से (8+8+8+8+4 = 36) गुण के धारक हैं।

8.) नौ तत्त्व, नौ ब्रह्मचर्य गुप्ति, नौ निदान, नौ कल्पी विहार के ज्ञाता एवं पालक, ऐसे (9+9+9+9 = 36) गुणधारी हैं।

9.) दस असंवर, दस संक्लेश, दस उपघात, छह हास्यादि षट्क के ज्ञाता, ऐसे (10+10+10+6 = 36) गुणधारक हैं।

10.) दस सामाचारी व दस चित्तसमाधि के पालक एवं सोलह कषाय के त्यागी होने से (10+10+16 = 36) गुणधारी हैं।

11.) दस प्रतिसेवा, दस आलोचना दोष, चार विनयसमाधि, चार श्रुतसमाधि, चार तपसमाधि, चार आचार समाधि के ज्ञाता, ऐसे (10+10+4+4+4+4 = 36) गुण के धारक हैं।

12.) दस वैयावृत्य, दस विनय, क्षमा आदि दस धर्म के पालक, छह अकल्प के ज्ञाता, ऐसे (10+10+10+6 = 36) गुणधारक हैं।

13.) दस रुचि, बारह अंग, बारह उपांग, दो प्रकार की शिक्षा में निष्णात, ऐसे (10+12+12+2 = 36) गुणधारक हैं।

14.) ग्यारह उपासक प्रतिमा, बारह व्रत, तेरह क्रिया स्थान के ज्ञाता, ऐसे (11+12+13 = 36) गुण पालक हैं।

15.) बारह उपयोग, दस प्रायश्चित्त, चौदह उपकरण के परिज्ञाता होने से (12+10+14 = 36) गुणधारी हैं।

16.) बारह तप, बारह भिक्षु प्रतिमा, बारह भावना के अनुपालक होने से (12+12+12 = 36) गुणधारी हैं।

17.) चौदह गुणस्थान, चौदह प्रतिरूपादि गुण (प्रतिरूप, तेजस्वी, युगप्रधान, आगमवन्त, मधुरभाषी, गम्भीर, धैर्यवान, उपदेश कुशल, अपरिस्रावी, सौम्य, संग्रहशील, अभिग्रहमति, अविकथ्य, अचपल, प्रशान्तचित्त से युक्त) एवं आठ सूक्ष्म दृष्टि के ज्ञाता, ऐसे (14+14+8 = 36) 36 गुणधारी हैं।

18.) पन्द्रह योग, पन्द्रह संज्ञा, तीन गारव, तीन शल्य के परित्यागी, ऐसे (15+15+3+3 = 36) गुणधारी हैं।

19.) सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादना दोष, चार अभिग्रह के पालक एवं उपदेशक, ऐसे (16+16+4 = 36) गुणधारी हैं।

20.) सोलह वचनविधि, सत्रह संयम, तीन विराधना के ज्ञाता, ऐसे (16+17+3 = 36) गुणधारी हैं।

21.) दीक्षा अयोग्य अठारह प्रकार के पुरुष एवं अठारह पापस्थान के ज्ञायक होने से (18+18 = 36) गुणधारी हैं।

22.) अठारह शीलांग एवं अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य के उपदेष्टा होने से (18+18 = 36) गुणधारी हैं।

23.) कायोत्सर्ग के उन्नीस दोष एवं सत्रह प्रकार के मरण का स्वरूप जानने वाले होने से (19+17 = 36) गुणधारी हैं।

24.) बीस समाधिस्थान, दस एषणा दोष एवं पाँच ग्रासैषणा दोष के ज्ञाता होने से (20+10+6 = 36) गुणधारी हैं।

25.) इक्कीस शबल दोष एवं पन्द्रह प्रकार की शिक्षा के ज्ञाता होने से (21+15 = 36) गुणधारी हैं।

26.) बाईस परीषह विजेता एवं चौदह आभ्यन्तर ग्रन्थि के ज्ञाता होने से (22+14 = 36) गुणधारी हैं।

27.) पांच वेदिका सम्बन्धी दोष, छह आरभट आदि प्रतिलेखन सम्बन्धी दोष एवं पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना के ज्ञाता होने से (5+6+25 = 36) गुणधारी हैं।

28.) सत्ताईस साधु के गुण एवं नव कोटि विशुद्धि के ज्ञाता होने से (27+9 = 36) गुणधारी हैं।

29.) अट्ठाईस लब्धि के धारक एवं आठ प्रकार के प्रभावक होने से (29+8 = 36) गुणधारी हैं।

30.) उनतीस पापश्रुत एवं सात प्रकार की विशुद्धि के ज्ञाता होने से (29+7 = 36) गुणधारी हैं।

31.) तीस मोहनीय स्थान एवं छह अन्तरंग शत्रु के परिज्ञाता होने से (30+6 = 36) गुणधारी हैं।

32.) इकतीस सिद्ध के गुण एवं पांच ज्ञान के स्वरूप के ज्ञाता होने से (31+5 = 36) गुणधारी हैं।

33.) बत्तीस प्रकार के जीव के भेद एवं चार प्रकार के उपसर्ग स्वरूप को जानने वाले होने से (32+4 = 36) गुणधारी हैं।

34.) वन्दन के बत्तीस दोष एवं चार प्रकार की विकथा के त्यागी होने से (32+4 = 36) गुणधारी हैं।

35.) गुरु की तैंतीस आशातना के परिहारी एवं तीन प्रकार के वीर्याचार में उद्यमी होने से (33+3 = 36) गुणधारी हैं।

36.) बत्तीस प्रकार की गणिसम्पदा के धारक एवं चार प्रकार के विनय स्वरूप के ज्ञाता होने से (32+4 = 36) गुणधारी हैं।

भगवती आराधना के अनुसार आचार्य आचारवान, आधारवान, व्यवहारवान, कर्त्ता, आयापायदर्शनोद्योत, उत्पीलक, अपरिस्रावी, निर्वापक, प्रसिद्ध, कीर्तिमान और निर्यापक गुणों से परिपूर्ण होते हैं।[27]

बोधपाहुड टीका के अनुसार आचार्य आचारवान, श्रुताधार, प्रायश्चित्त ज्ञाता, आसनादिहः (आचार्य पद पर बैठने योग्य), आयापायकथी, दोषाभावक, अस्रावक, सन्तोषकारी, निर्यापक- इन आठ गुणों तथा अनुद्दिष्टभोजी, शय्यासान, आरोगभुक, क्रियायुक्त, व्रतवान, ज्येष्ठ सद्गुणी, प्रतिक्रमी, षण्मासयोगी, द्विनिषद्यक, बारह तप के आचरण कर्त्ता और छह आवश्यक के पालन कर्त्ता– इन छत्तीस गुणों से युक्त होते हैं।[28]

अनगारधर्मामृत में बताया गया है कि आचार्य आचारत्व- आधारत्व आदि आठ, बारह प्रकार के तप, आचेलक्य आदि दस स्थितिकल्प और छह आवश्यक (8+12+10+6 = 36) इन छत्तीस गुणों से समायुक्त होते हैं।[29]

रत्नकरण्डकश्रावकाचार के अनुसार आचार्य बारह तप, छह आवश्यक, पांच आचार, दस धर्म, तीन गुप्ति (12+6+5+10+3 = 36) इन छत्तीस गुणों से सम्पन्न होते हैं।[30]

निष्पत्ति – हम देखते हैं कि जैन धर्म की श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों ही धाराओं में आचार्य के छत्तीस गुण स्वीकृत हैं, यद्यपि संख्या में समरूपता होने पर भी नाम एवं क्रम में विभिन्नता है। श्वेताम्बर परम्परानुसार जो पाँच इन्द्रियों को नियन्त्रित रखते हैं, नौ वाड़ से विशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, पाँच

महाव्रतों से युक्त हैं, पंचाचार के अनुपालन में समर्थ हैं, अष्टप्रवचनमाता के आराधक हैं तथा कषाय चतुष्क से मुक्त हैं, ऐसे (5+9+5+5+5+3+4 = 36) छत्तीस गुणों से जो युक्त होते हैं वह आचार्य है।

दिगम्बर-परम्परा में आचार्य के छत्तीस गुणों के नामों को लेकर मतभेद हैं। भगवतीआराधना में आचारवान आदि को आचार्य कहा है। बोधपाहुड़ में श्रुतवान, प्रायश्चित्त दानी आदि को आचार्य माना है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार में बारह तप, छह आवश्यक, पांच आचार आदि से सम्पन्न मुनि को आचार्य की उपमा दी गई है।

जैन वाङ्मय में आचार्य के विविध प्रकार

जैन साहित्य में आचार्य के अनेक प्रकार उल्लिखित हैं। अभिधानराजेन्द्रकोश में आचार्य के निम्न तीन प्रकारों का वर्णन है।[31]

1. **कलाचार्य** – बहत्तर कलाओं की शिक्षा देने वाले कलाचार्य कहलाते हैं।
2. **शिल्पाचार्य** – शिल्प, विज्ञान आदि की शिक्षा देने वाले शिल्पाचार्य कहलाते हैं।
3. **धर्माचार्य** – धर्म स्वरूप का प्रतिबोध कराने वाले धर्माचार्य कहलाते हैं।

इनमें प्रारम्भिक दो आचार्यों का महत्त्व बाह्य ज्ञान की दृष्टि से है वहीं धर्माचार्य का मूल्य आध्यात्मिक अपेक्षा से है। धर्माचार्य पांच प्रकार के कहे गये हैं[32]–

1. **प्रव्राजकाचार्य** – सामायिक आदि व्रतों का आरोपण करवाने वाले प्रव्राजकाचार्य कहलाते हैं।

2. **दिगाचार्य** – सचित्त (शिष्य-शिष्याएँ), अचित्त और मिश्र वस्तु (वस्त्रादियुक्त शिष्य-शिष्याएँ) ग्रहण करने की एवं विहार आदि की आज्ञा प्रदान करने वाले दिगाचार्य कहलाते हैं।

3. **उद्देशाचार्य** – श्रुत का प्रारम्भिक उपदेश देने वाले तथा मूलागमों का अध्ययन कराने वाले उद्देशाचार्य कहलाते हैं।

4. **समुद्देशाचार्य** – श्रुत की गम्भीर वाचना देने वाले और श्रुत में स्थिर करने वाले समुद्देशाचार्य कहलाते हैं।

5. **आम्नाचार्य (वाचकाचार्य)**– उत्सर्ग और अपवाद रूप सूत्रार्थ का प्रतिपादन करने वाले वाचकाचार्य कहलाते हैं।

स्थानांगसूत्र में ज्ञान, उपशम आदि गुणों की अपेक्षा आचार्य के निम्न चार प्रकार निरूपित हैं[33]–

1. **आमलक फल के समान** – कोई आचार्य आँवले के फल के समान अल्प मधुर होते हैं।

2. **मुद्धीका फल के समान** – कोई आचार्य दाख फल के समान मधुर होते हैं।

3. **क्षीरमधुर फल के समान** – कोई आचार्य खीर के समान अधिक मधुर होते हैं।

4. **मिश्री फल के समान** – कोई आचार्य मिश्री के समान बहुत अधिक मधुर होते हैं।

स्पष्ट है कि जैसे आँवले से अंगूर आदि फल उत्तरोत्तर मधुर या मीठे होते हैं उसी प्रकार आचार्यों के स्वभाव भी तरतमभाव से मधुर होते हैं।

आचार्य के चार प्रकार करण्डक (मंजूषा) की उपमा के आधार पर भी बतलाए गये हैं[34]–

(i) **चर्मकार करण्डक के समान** – जैसे चर्मकार के करण्डक में चमड़े को छीलने-काटने आदि के उपकरणों और चमड़े के टुकड़े आदि के रखे रहने से वह असार या निकृष्ट कोटि का माना जाता है वैसे ही जो आचार्य षट्काय-प्रज्ञापक गाथादि रूप अल्पसूत्र के धारक और क्रियाहीन होते हैं वे चाण्डाल करण्डक तुल्य होते हैं।

2. **वेश्या करण्डक के समान** – जैसे वेश्या का करण्डक दिखावटी स्वर्ण आभूषणों से युक्त होता है वैसे ही जो आचार्य अल्पज्ञानी होने पर भी बाह्याडम्बरों से जनसामान्य को प्रभावित करते हैं वे वेश्या करण्डक तुल्य होते हैं।

3. **गृहपति करण्डक के समान** – जो आचार्य स्व-पर सिद्धान्त के ज्ञाता और चारित्र सम्पन्न होते हैं वे गृहपति करण्डक तुल्य माने जाते हैं।

4. **राजा करण्डक के समान** – जैसे राजा का करण्डक मणि-माणक आदि बहुमूल्य रत्नों से भरा होता है वैसे ही जो आचार्य अपने पद के योग्य सर्व गुणों से सम्पन्न होते हैं वे राजा करण्डक तुल्य होते हैं।

उक्त चारों प्रकार के आचार्यों को करण्डक की भांति असार, अल्पसार, सारवान और सर्वश्रेष्ठ जानना चाहिए।

गुरु और शिष्य की चतुर्भंगी के आधार पर आचार्य के चार प्रकार निम्न हैं[35]–

1. **प्रव्राजनाचार्य, न उपस्थापनाचार्य** – कोई आचार्य प्रव्रज्या (दीक्षा) देने वाले होते हैं, किन्तु महाव्रतों का आरोपण नहीं करते हैं।

2. **उपस्थापनाचार्य, न प्रव्राजनाचार्य** – कुछ आचार्य महाव्रतों का आरोपण करने वाले होते हैं, किन्तु प्रव्रज्या नहीं देते हैं।

3. **प्रव्राजनाचार्य, उपस्थापनाचार्य** – कुछ आचार्य दीक्षा देने वाले भी होते हैं और उपस्थापना करने वाले भी होते हैं।

4. **न प्रव्राजनाचार्य न उपस्थापनाचार्य** – कुछ आचार्य न दीक्षा देते हैं और न उपस्थापित करते हैं। वे धर्म के प्रतिबोधक होते हैं।

भाष्यकार ने इस सम्बन्ध में यह शंका उठायी है कि जो न प्रव्रज्या देता है और न उपस्थापना करता है वह आचार्य कैसे? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि यहाँ धर्माचार्य से आशय यह है कि जो धर्मोपदेश देता है, प्रथम बार धर्म में प्रेरित करता है। फिर चाहे वह गृहस्थ या श्रमण कोई भी हो।

धर्माचार्य, प्रव्राजनाचार्य और उपस्थापनाचार्य – ये तीनों पृथक-पृथक भी हो सकते हैं और एक मुनि भी तीनों प्रकार का आचार्य हो सकता है।[36]

व्यवहारसूत्र के अनुसार आचार्य के निम्न चार प्रकार भी हैं[37]–

1. **उद्देशनाचार्य, न वाचनाचार्य** – कुछ आचार्य उद्देशनाचार्य (शिष्यों को सूत्र पढ़ने का आदेश) देते हैं, किन्तु वाचनाचार्य (पढ़ाने वाले) नहीं होते है।

2. **वाचनाचार्य, न उद्देशनाचार्य** – कुछ आचार्य पढ़ाने वाले होते हैं, किन्तु पढ़ने-पढ़ाने का आदेश नहीं देते हैं।

3. **उद्देशनाचार्य, वाचनाचार्य** – कुछ आचार्य पढ़ने-पढ़ाने का आदेश और वाचना दोनों देते हैं।

4. **न उद्देशनाचार्य, न वाचनाचार्य** – कुछ आचार्य सूत्र पढ़ने-पढ़ाने का आदेश भी नहीं देते हैं और वाचना भी नहीं देते हैं, केवल धर्म का प्रतिबोध देते हैं।

इस प्रकार धर्माचार्य, उद्देशनाचार्य और वाचनाचार्य तीनों पृथक-पृथक भी हो सकते हैं अथवा एक भी हो सकते हैं।

महानिशीथ में निक्षेप की अपेक्षा आचार्य के निम्न चार प्रकार प्रतिपादित हैं[38]–

1. **नामाचार्य –** जो नाम मात्र से आचार्य हो।

2. **स्थापनाचार्य –** किसी आचार्य की प्रतिकृति के रूप में मूर्ति, फोटो, चित्र आदि।

3. **द्रव्याचार्य –** जो वर्तमान में आचार्य पद पर स्थित नहीं है, किन्तु भूतकाल में थे अथवा भविष्यकाल में होंगे वे द्रव्याचार्य कहलाते हैं।

4. **भावाचार्य –** आचार्य के समग्र गुणों से युक्त भावाचार्य कहे जाते हैं।

इहलौकिक-पारलौकिक हित की अपेक्षा से आचार्य के चार विकल्प इस प्रकार हैं–

1. कुछ आचार्य इहलोक में हितकारी होते हैं, परलोक में नहीं –

जो शिष्य के लिए वस्त्र, पात्र, आहार आदि अपेक्षाओं को पूरा करते हैं, किन्तु सारणा-वारणा नहीं करते।

2. कुछ आचार्य परलोक में हितकारी बनते हैं, इहलोक में नहीं –

जो शिष्यों के द्वारा प्रमाद किये जाने पर विधि-निषेध का समुचित प्रयोग तो करते हैं, किन्तु आहारादि की समुचित व्यवस्था नहीं करते।

3. कुछ आचार्य इहलोक एवं परलोक दोनों में हितकारी बनते हैं –

जो शिष्यों के लिए आहारादि की व्यवस्था और सारणा-वारणा दोनों करते हैं।

4. कुछ आचार्य इहलोक और परलोक दोनों में हितकारी नहीं होते हैं–

जो उपधि, आहार आदि के द्वारा भी गच्छ पर अनुग्रह नहीं करते हैं और सारणा-वारणा भी नहीं करते हैं।[39]

गीतार्थ एवं सारणा की अपेक्षा से आचार्य के चार प्रकार निम्नांकित हैं –

1. कोई आचार्य अगीतार्थ है और गच्छ की सारणा भी नहीं करते।
2. कोई आचार्य अगीतार्थ है किन्तु गच्छ की सारणा करते हैं।
3. कोई आचार्य गीतार्थ है किन्तु गच्छ की सारणा नहीं करते।
4. *कोई आचार्य गीतार्थ है और गच्छ की सारणा भी करते हैं।*

भाष्यकर्त्ता संघदासगणि ने इस बात को समझाते हुए कहा है कि जैसे कोई देश महामारी या उपद्रव आदि से आक्रान्त हो जाये, वहाँ का राजा व्यसनी या

अज्ञानी हो, राज्य की उचित सम्भाल न करता हो, तो उस राजा से राज्य सारहीन हो जाता है उसी प्रकार गच्छ की सारणा न करने वाला आचार्य गच्छ को निस्सार बना देता है।

यहाँ प्रथम भंग उपद्रवयुक्त देश की तरह, दूसरा भंग अज्ञानी राजा की तरह और तीसरा भंग व्यसनी राजा की तरह त्याज्य है चौथा विकल्प शुद्ध है। आचार्य को चौथे विकल्प के समान होना चाहिए।[40]

दिगम्बर परम्परानुसार आचार्य के कुछ प्रकार निम्नलिखित हैं[41]–

1. **गृहस्थाचार्य** – व्रती श्रावक गृहस्थाचार्य कहलाता है। व्रती गृहस्थ आचार्य की भांति आदेश-उपदेश कर सकता है। गृहस्थाचार्य को आचार्य के सदृश दीक्षा दी जाती है।

2. **एलाचार्य** – दिगम्बर मत में उत्कृष्ट श्रावक के दो प्रकार मान्य हैं – 1. क्षुल्लक और 2. एलक। इन दोनों के कर्म निर्जरा उत्तरोत्तर अधिकाधिक होती है। एलक मात्र कौपीन धारण करता है, दाढ़ी-मूंछ एवं मस्तक की केशराशि का लोंच करता है और पीछी-कमण्डलू रखता है। कोपीन धारण के अतिरिक्त उसकी समस्त क्रियाएँ मुनि के समान होती हैं। वह या तो किसी चैत्यालय में रहता है या मुनियों के संघ में रहता है अथवा किसी शून्य मठ में या अन्य निर्दोष-पवित्र स्थान में रहता है। मध्याह्नकाल में घरों की संख्या का नियम लेकर हाथ में ही आहार करता है। धर्मोपदेश देता है। बारह प्रकार का तपश्चरण करता है। व्रतादि में दोष लगने पर प्रायश्चित्त लेता है।

जिनेन्द्रवर्णी के अनुसार अचेलक का रूपान्तरित स्वरूप एलक है। एलक को आचार्य की तरह दीक्षा देना एलाचार्य है।

3. **प्रतिष्ठाचार्य** – वसुनन्दि श्रावकाचार के मतानुसार जो देश, कुल और जाति से शुद्ध हो, निरुपम अंग का धारक हो, विशुद्ध सम्यग्दृष्टि हो, प्रथमानुयोग में कुशल हो, प्रतिष्ठा की लक्षण-विधि का ज्ञाता हो, श्रावक गुणों से युक्त हो, उपासकाध्ययन नामक शास्त्र में स्थिर बुद्धि वाला हो, वह प्रतिष्ठाचार्य कहलाता है।

4. **बालाचार्य** – जो आचार्य अपनी आयु को अल्प जानकर जिस शिष्य को अपने पद पर स्थापित करता है वह शिष्य बालाचार्य कहलाता है।

पद स्थापना के अनुसार आचार्य के दो भेद

आगमिक व्याख्याओं के अनुसार दो प्रकार के आचार्य होते हैं। द्विविध आचार्य की स्थापना भिन्न-भिन्न हेतुओं से की जाती है।[42]

1. इत्वरिक और 2. यावत्कथिक।

1. निरपेक्ष और 2. सापेक्ष।

• इत्वरिक (अल्पकाल के लिए) आचार्य की स्थापना निम्न दो कारणों से की जाती है –

जब आचार्य पद के योग्य कोई साधु न हो तथा किसी कारण से नूतन आचार्य बनाने से पहले ही पूर्व आचार्य कालधर्म को प्राप्त हो गये हों।

किसी भी गच्छ-समुदाय में आचार्य की उपस्थिति होना अनिवार्य है इसीलिए इत्वरिक आचार्य की स्थापना की जाती है। यदि इत्वरिक आचार्य की स्थापना न की जाये तो संघ विनष्ट की सम्भावना रहती है। उत्सर्गतः पूर्व आचार्य को अपने जीवनकाल में ही अन्य गणनायक की स्थापना कर देनी चाहिए। आज भी अनेक गच्छों में यह परम्परा प्रवर्तित है। इससे आचार्य के कालगत होने पर भी समुदाय खिन्न या छिन्न-भिन्न नहीं होता। इसके विपरीत जैसे नये राजा का अभिषेक किये बिना दिवंगत राजा की घोषणा से राज्य में क्षोभ उत्पन्न होता है, वैसे ही गच्छ में नये आचार्य की स्थापना किये बिना पूर्व आचार्य के कालगत होने की घोषणा से अनेक दोषों की संभावनाएँ रहती है। जैसे–

• आचार्य के बिना हम अनाथ हो गये हैं, यह सोचकर कई मुनि अन्य गच्छ में जा सकते हैं।

• कई मुनि स्वच्छन्दाचारी बन सकते हैं।

• कुछ मुनि आचार्य के अभाव में अन्यमनस्क हो सकते हैं।

• कुछ निराश्रित लता की भांति परीषह आदि में असहिष्णु हो सकते हैं।

• कई मुनि आचार्य दिवंगत के सामाचार सुनकर, विशिष्ट ज्ञान आदि की प्राप्ति हेतु अन्य आचार्यों के समीप जा सकते हैं।

• कुछ मुनि सारणा आदि के अभाव में भी गच्छान्तर हो सकते हैं। क्रमशः गच्छ छिन्न-भिन्न होकर विनष्ट हो जाता है।[43]

उपर्युक्त दोषों के निवारणार्थ इत्वरिक आचार्य स्थापना का विधान है।

इत्वरिक आचार्य की स्थापना करते समय संघ के प्रमुख एवं गच्छ के ज्येष्ठ मुनियों के समक्ष यह घोषणा करते हैं कि जब तक मुख्य आचार्य के पद पर योग्य शिष्य की स्थापना नहीं की जाए, तब तक यही आपका आचार्य रहेगा।

यावत्कथिक (जीवनपर्यन्त के लिए) आचार्य-स्थापना के दो हेतु इस प्रकार हैं[44]–

- पूर्व आचार्य अभ्युद्यत मरण के लिए द्वादश वर्षीय सल्लेखना धारण कर रहे हों।
- पूर्व आचार्य अभ्युद्यत विहार (जिनकल्प, परिहारकल्पादि) के लिए तपोभावना आदि रूप परिकर्म कर रहे हों। इन दो स्थितियों में पूर्व आचार्य स्वयं की विद्यमानता में ही उत्तर आचार्य की स्थापना कर दें, ताकि संघीय व्यवस्था समुचित रूप से प्रवर्तित हो सके। इसके अतिरिक्त मूलाचार्य स्वयं की मृत्यु को समीप जान लें या उन्हें कोई असाध्य रोग उत्पन्न हो जाये तो उस स्थिति में भी उत्तरवर्ती आचार्य की उद्घोषणा की जा सकती है।

इत्वरिक स्थापना अपवादमार्ग है, वैकल्पिक है। जबकि यावत्कथिक स्थापना उत्सर्गमार्ग और अवैकल्पिक है। इस तरह स्थापना की दृष्टि से दो प्रकार के आचार्य होते हैं।

आचार्य का महिमा मंडन

जैन-साहित्य में आचार्य के महिमाशील व्यक्तित्व को उजागर करने वाले अनेक उपमान हैं।

दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि जिस प्रकार दिन में दीप्त होता हुआ सूर्य सम्पूर्ण भारत (भरतक्षेत्र) को प्रकाशित करता है उसी प्रकार श्रुत, शील और बुद्धि से सम्पन्न आचार्य विश्व को प्रकाशित करते हैं। जिस प्रकार देवताओं के बीच इन्द्र शोभित होता है, उसी प्रकार साधुओं के बीच आचार्य सुशोभित होते हैं।[45]

जिस प्रकार कार्तिक पूर्णिमा की रात्रि में तारागण से घिरा हुआ चन्द्रमा शोभित होता है उसी प्रकार शिष्यों के बीच आचार्य शोभा पाते हैं।[46]

जैसे कमलों से परिमण्डित व पक्षियों से आसेवित सरोवर सुहावना लगता है वैसे ही गृहस्थों, परतीर्थिकों और जिज्ञासु साधुओं से निरन्तर आसेव्यमान आचार्य सुशोभित होते हैं।[47]

जैसे लौकिक जन चक्रवर्ती की आज्ञा की आराधना करते हैं वैसे ही इंगियागार सम्पन्न और गुरु अभिप्राय के अनुकूल वर्तन करने वाले शिष्य गुरु सदृश आचार्य की सदा आराधना करते हैं।[48]

जैसे समुद्र मीन-मकरों से संक्षुब्ध नहीं होता वैसे ही आचार्य भी परवादियों से क्षुब्ध नहीं होता, वह गण का संग्रहण करता हुआ क्लान्त नहीं होता।[49]

जिस प्रकार विशाल पद्म सरोवर सदैव पक्षियों व तृषित जनों से पूरित रहता है उसी प्रकार आचार्य के पास भी सदा जनसंकुलता रहती है।[50]

भाष्यकार संघदासगणि ने आचार्य को श्रीगृह की उपमा देते हुए कहा है कि जैसे तोसलिक नृप ने श्रीगृह में मणि प्रतिमाओं की रक्षा की थी, वैसे ही आचार्य की रक्षा (पूजा) करनी चाहिए। गुरु की पूजा करने से इहलोक और परलोक में महान गुणों की प्राप्ति होती है अर्थात विपुल श्रुतलाभ और मोक्षमार्ग की आराधना होती है।[51]

आचार्य की महिमा दर्शाते हुए यह भी कहा गया है कि जैसे अहिताग्नि ब्राह्मण विविध आहुति और मन्त्र पदों से अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है वैसे ही शिष्य अनन्त ज्ञान सम्पन्न होते हुए भी आचार्य की विनय पूर्वक सेवा करें।[52]

जैसे अहिताग्नि ब्राह्मण अग्नि की शुश्रुषा करता हुआ जागरूक रहता है, वैसे ही जो शिष्य आचार्य की शुश्रुषा करता हुआ जागरूक रहता है। आचार्य के इंगित को जानकर उनके इच्छानुकूल वर्तन करता है, वह पूज्य है।[53]

आचार्य के प्रभुत्व के विषय में यह भी कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्योदय के साथ ही अन्धकार एवं शीत दोनों तिरोहित हो जाते हैं उसी प्रकार आचार्य की उपस्थिति में अज्ञानरूपी अन्धकार एवं मोहरूपी शीत को गायब होने में समय नहीं लगता।

इस तरह आचार्य सूर्य सम तेजस्वी, इन्द्र सम ऋद्धिधारी, चन्द्र सम शोभायमान, पद्म सरोवर की भांति जन-सामान्य से परिवृत्त, अभिषिक्त अग्नि के समान पूज्य होते हैं।

आचार्य का हृदय इतना अकम्प और स्थिर होता है कि उन्हें चक्रवर्ती के शीतगृह की उपमा दी गयी है। चक्रवर्ती का वातानुकूलित भवन इस प्रकार

बनाया जाता है कि चाहे कितनी ही सर्दी हो या गर्मी, आंधी हो या वर्षा, चक्रवर्ती के उस महल पर किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता उसी प्रकार आचार्य बाह्य वातावरण या परिस्थिति से पूर्णतः अकम्प और अविचल रहते हैं।

आचार्य संयम के प्रति पूर्ण निष्ठावान होते हैं। उसी संयम बल के प्रभाव से सम्पूर्ण जिनशासन में उनका एकच्छत्र अनुशासन होता है और युग-युगान्त तक आदर्श के चरम शिखर के रूप में अनुयायियों के दिल में विराजमान रहते हैं। शास्त्रों में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं जैसे– आचार्य माणिक्यसूरि एक बार जैसलमेर के रेगिस्तानी प्रदेश में विचरण कर रहे थे। विशाल शिष्य समुदाय साथ था। पंचमी का दिन होने से आचार्य ने उस दिन उपवास किया। भयंकर गर्मी का मौसम और ऊपर से उस रेतीले प्रदेश की बरसती प्रचण्ड आग। विहार करते हुए सन्ध्या के समय एक गाँव में पहुँचे। प्यास तीव्र हो उठी और इधर पानी का अभाव। शिष्यवर्ग आसपास दिख रही झोपड़ियों में निर्दोष पानी की गवेषणा में गया।

आचार्य श्री की प्यास वेदना चरम सीमा पर पहुँच गयी। सूर्यास्त की तैयारी थी। पानी समय पर नहीं मिल पाया और आचार्यश्री ने सूर्यास्त की स्थिति देखकर पूर्ण दृढ़ता और संयम पालन की प्रखरता के साथ चौविहार उपवास के प्रत्याख्यान कर लिए। इधर सूर्यास्त हुआ और उधर से शिष्य-प्रशिष्यों का प्रासुक जल लेकर आना हुआ।

शिष्यों के द्वारा पानी ग्रहण हेतु आग्रह किए जाने पर गुरु महाराज ने कहा – 'सब कुछ बाद में है, मुख्य है मेरा संयम। प्राणान्त हो जाये, इसकी चिन्ता नहीं। शरीर तो वैसे भी अशाश्वत है। अशाश्वत के लिए अपवाद सेवन करना गलत है। मैं अपने महाव्रतों का उल्लंघन नहीं कर सकता।'

ओजस्वी और दृढ़ता भरी उस संकल्प युक्त वाणी ने शिष्यों को निरुत्तर कर दिया। इतिहास साक्षी है कि आचार्यश्री का उसी रात स्वर्गवास हो गया, पर आज भी उनकी चारित्रनिष्ठा दीपशिखा की तरह देदीप्यमान है।

आचार्यपद की उपादेयता

जैन जगत में आचार्य को पूज्यतम स्थान है। उनकी उपादेयता के सम्बन्ध में निम्न बिन्दु उल्लेखनीय हैं –

आचार्य स्वच्छन्द व्यक्तियों को अनुशासित करते हैं। जो अनुशासित हैं उनमें गण के प्रति महान श्रद्धा समुत्पन्न करते हैं। वे आत्मोत्साह से शिष्यों आदि का संग्रहण कर यथाशक्ति गण की वृद्धि करते हैं।[54] उनके वचन आदेय, शरीर के अवयव परिपूर्ण और वे आहार- वस्त्र आदि की लब्धि से सम्पन्न होते हैं। इससे शिष्यों की अभिवृद्धि होती है और लोगों में पूज्य बनते हैं।[55]

दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि जैसे पिता अपनी कन्या को यत्न पूर्वक योग्य कुल में स्थापित (प्रेषित) करता है वैसे ही आचार्य अपने शिष्यों को योग्य मार्ग में स्थापित करते हैं। इतना ही नहीं, माननीय, तपस्वी, जितेन्द्रिय और सत्यरत आचार्य का सम्मान करने वाला शिष्य भी पूजनीय बन जाता है।[56]

ओघनिर्युक्ति के अभिमतानुसार आचार्य के अनुकूल आहार की गवेषणा करने मात्र से अनेक लाभ होते हैं जैसे सूत्र- अर्थ का सुखपूर्वक स्थिरीकरण होता है, विनय सामाचारी का पालन होता है, नवदीक्षित के मन में आचार्य के प्रति बहुमान के भाव पैदा होते हैं, दाता के चित्त में भी श्रद्धाभाव की वृद्धि होती है, आचार्य का दैहिक बल एवं बुद्धिबल बढ़ने से शासन प्रभावना के उत्तमोत्तम कार्य सम्पन्न होते हैं तथा शिष्यों के कर्मों की महान निर्जरा होती है।[57] इस तरह आचार्य सदैव स्व-पर उपकारी बनते हैं।

व्यवहारभाष्य में कहा गया है कि आचार्य (गुरु) की अनुकम्पा से शक्ति सम्पन्न गच्छ अनुगृहीत होता है और गच्छ की अनुकम्पा द्वारा गुरु तीर्थ की अविभाज्यता में निमित्तभूत बनते हैं।

आचार्य स्वयं स्थिर स्वभावी होते हैं अतः अपने आचरण-बल से संघस्थ मुनियों को आचार्य आदि दशविध वैयावृत्य में नियोजित कर स्व-पर का निस्तार करते हैं।[58]

आचार्य भव रूपी व्याधि को दूर करने में साक्षात चिकित्सक के समान कहे गये हैं अतः उनका बहुमान करने से तीर्थङ्कर पुण्य प्रकृति का उपार्जन और मोक्ष की प्राप्ति होती है।[59]

आचार्य को भाव पूर्वक किया गया नमस्कार बोधिलाभ (सम्यक्त्व) कारक एवं सर्व पापों का प्रणाशक होता है।

इस प्रकार अनेक कारणों से इस पद की सार्थकता एवं आवश्यकता सिद्ध होती है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आचार्यपद की प्रासंगिकता

आचार्यपद एक गरिमामय पद है। इस पद की महत्ता जिनशासन के इतिहास में अनेक स्थानों पर परिलक्षित होती है। आचार्य एक सक्षम नेता के रूप में गच्छ का संचालन एवं मार्गदर्शन करते हुए शासन उन्नति में सहायक बनते हैं।

यदि आचार्यपद का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन किया जाए तो निम्न तथ्य सामने आते हैं। आचार्य दृढ़ मनोबल के कारण स्वयं शुद्ध आचरण करते हैं तथा समस्त श्रमण समुदाय को शुद्ध पंचाचार पालन में प्रवृत्त करते हैं। सफल मनो चिकित्सक की भाँति शिष्य की मानसिक स्थिति का परिज्ञान करने में समर्थ होने से तदनुसार वर्तन कर उन्हें विशुद्ध कोटि के धर्म मार्ग में प्रवृत्त करते हैं। आचार्य धैर्य, गांभीर्य आदि गुणों से युक्त होने के कारण उनके संपर्क में आने वाला विरोधी एवं उग्रस्वभावी व्यक्ति भी शांत मन:स्थिति को प्राप्त करता है। उनकी स्थिरता, जितेन्द्रियता, दृढ़ता, सौम्यता एवं कार्यशीलता सुप्त एवं प्रमादी जीवों को आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हुए मनोबल वृद्धि में सहायक बनती है। इसी प्रकार समस्त संघ में भी सृजनात्मक कार्यों को निष्पन्न करते हैं।

आचार्यपद के वैयक्तिक प्रभाव का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि आचार्य मिथ्याग्रह को दूर करने वाले होते हैं अत: 'स्व' एवं 'पर' दोनों की गलत धारणाओं को दूर करते हैं। निश्चय और व्यवहार दोनों से समन्वित आचरण करने से लौकिक एवं लोकोत्तर कल्याण के कारक बनते हैं। इनकी सन्निधि में आने वाला तदनुरूप गुणों एवं नेतृत्व कला का विकास करता हैं।

उदारहृदयी, क्रोधजयी, निरहंकारी, मधुर वक्ता होने से लोगों को धर्माभिमुख बनाने में आसानी होती है तथा स्वयं कषायों से निर्मल बनते हैं। आचार्य के ओजस्वी आभामंडल, बहुगुणी व्यक्तित्व एवं सार्वजनिक कर्तृत्व को देखकर कार्यक्षमता में स्वयमेव वर्धन हो जाता है। जिस प्रकार आचार्य भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले एवं अलग-अलग परिवारों से आए शिष्यों में समन्वय बनाकर रखते हैं एवं उन्हें विविध क्षेत्रों में पारंगत बनाते हैं वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार, कार्यालय आदि में भी समन्वय बनाकर रख सकता है तथा वैयक्तिक शांति एवं समाधि के साथ प्रतिष्ठा को भी प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार वैयक्तिक जीवन में आध्यात्मिक एवं व्यवहारिक उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त होता है।

आचार्यपद का सामाजिक महत्त्व इस प्रकार आंका जा सकता है कि वे अपनी अतुल साधनाबल, मनोबल एवं तपोबल के माध्यम से एक विधेयात्मक ऊर्जा का निर्माण करते हैं। अपनी मधुर एवं प्रभावी वाणी से कई जीवों को प्रतिबोध देकर संयम मार्ग पर लाते हैं, तो कई लोगों को श्रेष्ठ श्रावक धर्म धारण करवाते हैं। संस्कृति का स्थिरीकरण करते हुए श्रुत संवर्धन, चैत्य निर्माण, प्राचीन ग्रन्थ आदि के संरक्षण का कार्य करवाते हैं तथा आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना भी करते हैं। आचार-विचार एवं व्यवहार तीनों का उदात्तीकरण करते हुए उत्तम समाज एवं संघ का निर्माण करते हैं। इसी तरह कई प्रकार से सामाजिक विकास एवं व्यवस्थापन में आचार्य पद का योगदान प्राप्त हो सकता है।

प्रबन्धन के क्षेत्र में आचार्यपद एक महत्त्वपूर्ण दिशाबोधक हो सकता है। इसके द्वारा इन्द्रिय प्रबन्धन, समाज प्रबन्धन, स्व प्रबन्धन आदि कई क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण योगदान प्राप्त होता है।

यदि व्यक्तिगत स्तर पर चिंतन किया जाए तो आचार्य जिस प्रकार सामुदायिक कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए भी स्वयं में रमण करते हैं। अन्य के प्रति अपवाद मार्ग का निरूपण करते हुए भी स्वयं उत्कृष्ट मार्ग का अनुसरण करते हैं। वैसे ही साधारण व्यक्ति स्वयं को हर स्थिति में Adjust करते हुए अपने लक्ष्य के प्रति जागरूक रहकर जीवन के हर क्षण का उपयोग एवं Management कर सकता है।

आचार्य स्वयं साधु जीवन की नियमावली का पालन करते हुए समस्त श्रमण एवं श्रमणी संघ को उसका पालन कठोरता से करवाते हैं। स्वभाव में ऋजुता, मधुरता, निर्दम्भता, गम्भीरता आदि गुणों को धारण किए होने से समुदाय, गच्छ आदि का सम्यक संचालन कर सकते हैं तथा समाचारी का पूर्ण ज्ञान होने एवं परिस्थिति अनुसार निर्णय करने में सक्षम होते है। वह उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का ज्ञान रखते हुए देश, काल और परिस्थिति के अनुसार धर्म मार्ग का निरूपण करते हैं। इसी तरह प्राचीन परम्पराओं का एवं सामाजिक रीति-रिवाजों का निरूपण भी परिस्थिति अनुसार करते हुए रूढ़िवादिता के नाम पर फैल रहे सामाजिक वैमनस्य एवं साम्प्रदायिक द्वन्द्वों को नियन्त्रित कर समाज की शक्ति का संचय एवं समाज के विविध वर्गों में समन्वय स्थापित कर सकते

हैं। जिस प्रकार एक आचार्य नवीन आचार्य को स्थापित कर स्वयं उसके अभिवादन रूप वन्दन करते हैं। वैसे ही कार्यालय या किसी भी क्षेत्र में नये व्यक्ति के प्रवेश को लेकर उचित मार्गदर्शन प्राप्त होता है। सामुदायिक स्थानों का संचालन कैसे किया जाए? किस प्रकार प्रत्येक सदस्य में शत-प्रतिशत कार्य निष्ठा का निर्माण किया जाए एवं उन्हें हर परिस्थिति में कार्य से जोड़कर रखा जाए? इस विषय में आचार्य की संचालन व्यवस्था विशेष सहायक हो सकती हैं। इस प्रकार सामूहिक कार्य के स्थानों का व्यवस्थापन करने हेतु आचार्य पद का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

यदि वर्तमान समस्याओं के सन्दर्भ में आचार्य पद की उपादेयता पर विचार किया जाए तो जिस प्रकार किसी भी देश का राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री अपने देश का नेतृत्व करते हुए वहाँ का नायक या Representative कहलाता है वैसे ही आचार्य संघ के नायक होते हैं तथा संघ में आने वाली समस्याओं, विपदाओं, क्लेशादि के वातावरण का उपशमन करते हैं। वह अपनी दूर दृष्टि से साम्प्रदायिक मतभेदों को समाप्त कर नूतन पीढ़ी को धर्म मार्ग से जोड़ने हेतु नित नये उपक्रम करते हैं। साधु संघ में व्याप्त शिथिलताओं को दूर कर उन्हें सतपथ प्रदर्शित करते हैं तथा अपनी प्रभावी वाणी के माध्यम से सामाजिक विद्वेष, कुरीतियों एवं रूढ़ परम्पराओं का उन्मूलन करते हैं।

आचार्य के विशेष अधिकार

सामान्य साधुओं की अपेक्षा आचार्य और उपाध्याय को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं, उन्हें अतिशय कहा गया है।

आगमकारों ने आचार्य और उपाध्याय के क्रमशः पाँच और सात अतिशय बतलाये हैं।[60] यह वर्णन उपाध्याय पदस्थापना-विधि में कर चुके हैं। यद्यपि व्यवहारभाष्य में अन्तिम दो अतिशयों के स्थान पर पाँच अतिशय विशेष कहे गये हैं जो निम्न हैं[61]–

1. **उत्कृष्ट भक्त** – क्षेत्र-काल के अनुकूल आचार्य को निर्दोष आहार देना।

2. **उत्कृष्ट पान** – आचार्य को तिक्त- कटुक- आम्ल आदि रसों से रहित अचित्त जल देना अथवा जिस क्षेत्र या काल में जो उत्कृष्ट पेय हो, वह देना।

3. **प्रक्षालन** – आचार्य के देह अनुकूल या क्षेत्र अनुकूल वस्त्र देना एवं

उनके मलिन वस्त्र आदि उपकरणों का यथोचित प्रक्षालन करना।

4. **प्रशंसन** – आचार्य गम्भीर, मृदु, कृतज्ञ, तपस्वी, बहुश्रुती आदि जिन गुणों से युक्त हो, उन विद्यमान गुणों की प्रशंसा करना। सद्गुणों का कीर्तन करने से महान निर्जरा होती है, अवर्णवादियों का प्रतिघात होता है तथा ज्ञानी आचार्य के बारे में सुनकर राजा, मन्त्री, विद्वान आदि विशिष्ट व्यक्ति आकृष्ट होते हैं और आचार्य के पास उनका आगमन होता है। वे साधु धर्म या श्रावक धर्म भी स्वीकार करते हैं।

5. **शौच** – आचार्य के हाथ, पाँव, मुख आदि को प्रक्षालित कर शुद्ध रखना। मुख-दांत को धोने से जठराग्नि प्रबल होती है, हाथ एवं पैर धोने से बुद्धि और वाणी की पटुता बढ़ती है तथा शरीर का सौन्दर्य वृद्धिंगत होता है।

भाष्यकार के अनुसार ये अतिशय अपवाद रूप हैं। यदि आचार्य दृढ़ संहननी,निर्मल देही, तेजस्वी एवं यशस्वी हों तो उन्हें उपर्युक्त अतिशयों का आसेवन नहीं करना चाहिए।

आचार्य मधुकर मुनि के उल्लेखानुसार अन्य साधुओं को सामान्य आहार आदि से जीवन का निर्वाह करना चाहिए किन्तु रोगादि कारणों से सामान्य भिक्षु भी उक्त आचरणों को स्वीकार कर सकता है।[62]

पूर्व निर्दिष्ट अतिशयों का तात्पर्य यह है कि

1. आचार्य उपाश्रय के भीतर भी पांव का प्रमार्जन कर शुद्धि कर सकते हैं।

2. गाँव के बाहर शुद्ध स्थण्डिल होते हुए भी उपाश्रय के समीपवर्ती स्थण्डिल में मल त्याग कर सकते हैं।

3. गोचरी आदि अनेक सामूहिक कार्य या वस्त्र प्रक्षालन आदि सेवा के कार्य इच्छा हो तो कर सकते हैं अन्यथा शक्ति होते हुए भी अन्य से करवा सकते हैं।

4-5. विद्या मन्त्र आदि के पुनरावर्तन हेतु अथवा अन्य किन्हीं कारणों से वे उपाश्रय के किसी एकान्त भाग में या उपाश्रय से बाहर अकेले एक या दो दिन रह सकते हैं। आगमों में इन विद्या मन्त्रों का उपयोग गृहस्थ हेतु करने का निषेध है किन्तु साधु-साध्वी के लिए अपवाद स्थिति में इनका प्रयोग किया जा सकता है।

निष्पत्ति – उपरोक्त विवेचन से सुस्पष्ट होता है कि आचार्य में गुणों की अधिकता होने के कारण उनके लिए आपवादिक कई नियम अतिशय रूप हो जाते हैं जिसका सेवन करने से उन्हें किसी तरह का दोष नहीं लगता, प्रत्युत पद के अनुरूप उनकी महिमा प्रसरित होती है। उक्त अतिशयों का उल्लेख आगम एवं आगमिक व्याख्या साहित्य में ही देखा जाता है। इससे परवर्ती साहित्य में इसकी चर्चा लगभग नहीं है।

आचार्य और उपाध्याय के गण निर्गमन के कारण

स्थानांगसूत्र में आचार्य और उपाध्याय के द्वारा गण से बाहर निर्गमन करने के पांच कारण उल्लिखित हैं[63]–

1. आचार्य और उपाध्याय गण के प्रधान होते हैं। संघ या गण का सम्यक संचालन करना उनका मुख्य कर्त्तव्य है। किन्तु जब वे यह अनुभव करते हैं कि गण में मेरी आज्ञा या धारणा की अवहेलना हो रही है, तो वे गण छोड़कर चले जाते हैं।

2. यद्यपि आचार्य और उपाध्याय का गण में सर्वोपरि स्थान है तथापि प्रतिक्रमण और क्षमायाचना आदि के समय उनसे दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ और विशिष्ट श्रुतज्ञानी मुनियों का विशेष सम्मान करना उनका दायित्व है। यदि वे अपने पद के गर्व से रत्नाधिकों एवं श्रुतज्ञानियों के प्रति वन्दन और विनय का सम्यक प्रयोग नहीं करते हैं तो गण में विग्रह खड़ा हो सकता है ऐसी स्थिति में उन्हें गण से निकाल देना चाहिए।

3. आचार्य और उपाध्याय जितने श्रुत को धारण करते हैं उनकी समय-समय पर गण को वाचना देना आवश्यक है। यदि वे स्वयं जानते हुए भी गणस्थ साधुओं को सूत्र, अर्थ या उभय की यथोचित वाचना नहीं दें तो गण में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है और आचार्य या उपाध्याय पर पक्षपात का दोषारोपण होने लगता है। इस स्थिति में गण उनका परिहार कर देता है अथवा उन्हें गण का परिहार कर देना चाहिए।

4. आचार्य और उपाध्याय स्वगण की या परगण की साध्वी में आसक्त हो जाए तो इससे संघ की निन्दा होती है और स्वयं की प्रतिष्ठा गिरती है। इस स्थिति में आचार्य या उपाध्याय स्वयं ही गण से बाहर चले जाते हैं।

5. आचार्य और उपाध्याय के मित्र, ज्ञातिजन आदि किसी कारणवश गण

से बाहर चले जाएं तो उन्हें पुनः संयम में स्थिर करने या गण में वापस लाने के लिए भी गण से निर्गमन करते हैं।

सारांश यह है कि यदि आचार्य या उपाध्याय की किसी भी प्रवृत्ति के द्वारा संघ या गण की प्रतिष्ठा, मर्यादा और कीर्ति खण्डित होती हो, तो उस स्थिति में उन्हें गण निर्गमन कर लेना चाहिए।

आचार्य के व्यावहारिक उत्तरदायित्व

जब किसी श्रमण को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करते हैं तब वह सम्पूर्ण संघ का अनुशास्ता या धर्म संघ का शास्ता बन जाता है। उस समय उनके लिए संघ संरक्षण एवं संवर्द्धन के अनेक कर्त्तव्यों का निर्वाह करना अत्यावश्यक होता है। दशाश्रुतस्कन्ध में आचार्य के प्रमुख रूप से चार कर्तव्य माने गये हैं। ये कर्त्तव्य विनय प्रशिक्षण रूप हैं। आचार्य अपने शिष्यों को चार प्रकार का विनय सिखाकर संघ ऋण से मुक्त हो सकते हैं। अतः इन्हें चार प्रकार का विनय प्रतिपत्ति और ऋण मुक्ति के मार्ग का सारथी भी कहा गया है। दशाश्रुतस्कन्ध में विनय प्रतिपत्ति का सामान्य वर्णन ही प्राप्त होता है, किन्तु दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि में इस विषय का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

विनय प्रतिपत्ति सम्बन्धी चार प्रकारों के नाम निम्न हैं–

1. आचार विनय 2. श्रुत विनय 3. विक्षेपण विनय 4. दोष निर्घातना विनय।

1. **आचार विनय –** आचार्य अपने शिष्यों को सबसे पहले आचार विषयक शिक्षा दें। वह आचार-सम्बन्धी शिक्षा चार प्रकार की होती है।[64]

(i) **संयम सामाचारी –** संयम की सामाचारी सिखाना अर्थात स्वयं संयम का समाचरण करना, शिष्यों से संयम का आचरण करवाना, संयम से पतित होने वालों को स्थिर करना तथा उद्यमशील साधु को उत्प्रेरित कर आगे बढ़ाना।

(ii) **तप सामाचारी –** तप की सामाचारी सिखाना अर्थात बारह प्रकार के तप में स्वयं को तथा दूसरों को नियोजित करना।

(iii) **गण सामाचारी –** प्रतिलेखना आदि क्रियाओं में प्रमाद नहीं करने देना, नव दीक्षित आदि की वैयावृत्य-सम्बन्धी व्यवस्था करना, सेवा करने वालों को उत्साहित करना।

(iv) **एकल विहार सामाचारी –** गण की सामूहिक चर्या का त्यागकर

एकाकी विहार करने की योग्यता का एवं विचरणकाल में सावधानियाँ रखने का ज्ञान करवाना। भिक्षु का यह द्वितीय मनोरथ है कि "कब मैं गच्छ के सामूहिक कर्त्तव्यों से मुक्त होकर एकाकी विहार चर्या धारण करूंगा।" अत: एकाकी विहारचर्या की विधि का बोध कराना आचार्य का चौथा आचार विनय है।

2. **श्रुत विनय** – आचार्य का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि वह आचारधर्म का प्रशिक्षण देने के साथ-साथ संघस्थ मुनियों (शिष्यों) को सूत्र एवं अर्थ की समुचित वाचना देकर उन्हें श्रुत सम्पन्न बनायें।

श्रुत विनय रूप शिक्षा चार तरह से दी जाती है[65]–

(i) **सूत्र वाचना** – आचार सम्पन्न शिष्यों को सूत्र की वाचना देकर स्वयं को एवं शिष्यों को मोक्षमार्ग की ओर ले जाना।

(ii) **अर्थ वाचना** – आचारयुक्त शिष्यों को अर्थ की वाचना देकर जिन प्रवचन की महिमा का अभिवर्द्धन करना।

(iii) **हित वाचना** – शिष्य की योग्यतानुसार सूत्र-अर्थ की वाचना देना हितकारी वाचना है जैसे - शास्त्रज्ञान को जीवन में क्रियान्वित करवाना अथवा समय-समय पर उन्हें हितशिक्षा देना। परिणामी शिष्य को वाचना देने से इहलोक-परलोक में हित होता है।

(iv) **निःशेष वाचना** – सूत्र रुचिवान शिष्यों को नय-निक्षेप-प्रमाण आदि के द्वारा सूत्रार्थ का समग्रता से बोध कराना अथवा छेदसूत्र आदि आगमों की क्रमश: वाचना के समय आने वाले विघ्नों का शमन कर श्रुतवाचना पूर्ण करना।

3. **विक्षेपण विनय** – विविध प्रकार के उपायों से शिष्यों को सम्यक्त्व धर्म में प्रतिष्ठित करना विक्षेपणविनय है। विक्षेपण विनय के चार प्रकार हैं[66]–

(i) **अदृष्ट-दृष्टपूर्वकगत** – जो शिष्य धर्म के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं उन्हें धर्म का स्वरूप समझाना। जिसने धर्म के सम्यक स्वरूप को पूर्ण रूप से नहीं समझा है उन्हें सम्यक्त्व का स्वरूप समझाकर दृढ़ श्रद्धा वाला बनाना।

(ii) **दृष्टपूर्वक साधर्मिकगत** – जो अनगार (संयम) धर्म के प्रति उत्सुक नहीं हैं, उन्हें अनगार धर्म स्वीकार करने के लिए उत्प्रेरित करना अथवा श्रावकों को समानधर्मी अर्थात संयमी बनाना।

(iii) **च्युतधर्म का धर्म में स्थापन** – किसी शिष्य की संयम धर्म से अरुचि हो जाये या दर्शन (धर्म श्रद्धा) से भ्रष्ट हो जाये तो उसे विवेकपूर्वक उसी धर्म में स्थापित करना।

(iv) **धर्म अभ्युद्यत** – संयम धर्म में स्थित शिष्य के हित के लिए, सुख के लिए, सामर्थ्य के लिए, मोक्ष के लिए और भवान्तर में भी धर्म की प्राप्ति हो, इसके लिए सदैव तत्पर रहना।

4. दोषनिर्घातना विनय– दोष का अर्थ है – कर्मबंध के हेतु कषाय आदि, निर्घातना का अर्थ है - पूर्णतः समाप्त करना। शिष्यों का समुचित रूप से पालन करते हुए भी छद्मस्थ अवस्था के कारण कोई कषायों के वशीभूत होकर किसी दोष विशेष का पात्र हो सकता है अतः सम्यक शिक्षा द्वारा शिष्य के कषाय-कांक्षा आदि को दूर करना दोषनिर्घातन विनय है। दोषनिर्घातना के चार उपाय हैं[67]–

(i) **क्रोधविनय** – अपने शीतल स्वभाव से वंजुल वृक्ष की भांति क्रोधी शिष्य के क्रोध को दूर करना।

(ii) **दोषनिग्रहण** – जो शिष्य कषाय और विषयों से दूषित हो उसके राग-द्वेषात्मक परिणति का तटस्थता पूर्वक उपशमन या निवारण करना।

(iii) **कांक्षाविच्छेद** – जो शिष्य भक्तपान, परसिद्धान्त, उपधि आदि अनेक प्रकार की आकांक्षाओं के अधीन हैं उनकी कांक्षायुक्त भावनाओं को उचित उपायों से दूर करना।

(iv) **सुप्रणिहित आत्मा** – शिष्यों का समुचित निर्वाह करते हुए भी अपनी आत्मा को संयम गुणों में स्थिर रखना। जब गुरु राग-द्वेष-कांक्षा में वर्तन नहीं करते हैं तब वे सुप्रणिधान से युक्त होते हैं तथा ऐसे आचार्य के निश्रागत शिष्य ही उपगृहीत होते हैं।

समाहारतः जो राजा ऐश्वर्य सम्पन्न हो वही प्रजापालक और यशस्वी होता है वैसे ही जो आचार्य शिष्य समुदाय के आवश्यक कर्त्तव्यों का परिपालन करते हुए संयम की आराधना करते हो वे शीघ्र मोक्ष गति को प्राप्त करते हैं। भगवतीसूत्र में कहा गया है कि जो आचार्य या उपाध्याय सम्यक प्रकार से गण की परिपालना करते हैं वे उसी भव में या दूसरे-तीसरे भव में निश्चित रूप से मुक्ति प्राप्त करते हैं।[68] आचार्य के उक्त कर्त्तव्य स्व-पर उभय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं एवं संघ के अभ्युदय में सहायक होते हैं।

आचार्य के प्रति शिष्य के कर्त्तव्य

दशाश्रुतस्कन्ध में आचार्य (गणी) और गण के प्रति योग्य शिष्य के प्रमुख चार कर्त्तव्य प्रतिपादित हैं, जो निम्न हैं[69]–

1. **उपकरण उत्पादन** – संयम उपयोगी वस्त्र-पात्र आदि प्राप्त करना उपकरण उत्पादन है। उपकरण उत्पादन चार प्रकार का प्रज्ञप्त है –

(i) गवेषणा करके वस्त्र-पात्र आदि नवीन उपकरणों को प्राप्त करना।

(ii) प्राप्त उपकरणों को सुरक्षित रखना।

(iii) जिस मुनि को जिस उपधि की आवश्यकता है, उसकी पूर्ति करना।

(iv) शिष्यों के लिए यथायोग्य उपकरणों का विभाग करके देना अथवा जिसके योग्य जो उपधि हो उसे वही देना।

2. **सहायक होना** – अशक्त साधुओं की सहायता करना सहायक विनय नामक गुण है। सहायक विनय चार प्रकार का होता है–

(i) गुरु के अनुकूल वचन बोलने वाला होना अर्थात जो गुरु कहे उस आदेश को 'तहत्ति' कहते हुए विनयपूर्वक स्वीकार करना।

(ii) गुरु के अनुकूल अथवा जैसा गुरु कहे वैसी प्रवृत्ति करने वाला होना।

(iii) गुरु की पगचम्पी आदि सेवा कार्य विवेक पूर्वक करना।

(iv) सभी कार्यों में गुरु इच्छा के अनुकूल व्यवहार करना।

3. **वर्ण संज्वलनता- गुणानुवाद** – गण और गणी के गुण प्रकट करना गुणानुवाद है। गुणानुवाद विनय चार तरह से होता है –

(i) आचार्य आदि के गुणों की प्रशंसा करना।

(ii) अवर्णवाद, निन्दा या असत्य आक्षेप करने वाले को उचित प्रत्युत्तर देकर निरुत्तर करना।

(iii) आचार्य आदि की गुण प्रशंसा करने वालों को धन्यवाद देकर उत्साहित करना अथवा उनका गुण कीर्तन कर उनका यश फैलाना।

(iv) ज्येष्ठ या वृद्धों की सेवा-भक्ति करते हुए उनका यथाशक्ति आदर करना।

4. **भार-प्रत्यारोहण** – आचार्य के कार्यभार को सम्भालना अथवा गण के भार का निर्वाह करना भार-प्रत्यारोहण विनय है। इस विनय के चार प्रकार हैं–

(i) धर्मप्रचार आदि के द्वारा नये-नये शिष्यों की वृद्धि हो, इस तरह प्रयत्न करना।

(ii) नवीन दीक्षित शिष्यों को आचारविधि का ज्ञान कराने में और शुद्ध आचार का अभ्यास कराने में प्रवृत्त रहना।

(iii) सहवर्ती मुनियों में जब जिसको सेवा की आवश्यकता हो, तब स्वयं मनोयोगपूर्वक उनकी सेवा करना।

(iv) श्रमणों में परस्पर कलह या विवाद हो जाये तो उसका निष्पक्ष भाव से निराकरण करना तथा इस तरह की व्यवस्था या उपाय करना कि सहवर्ती साधुओं में कलह आदि होने की सम्भावना ही न बने और उन साधु-साध्वियों की संयमयात्रा उत्तरोत्तर प्रवर्द्धित होती रहे।

इस प्रकार गच्छ हित के कार्य करने वाला, आचार्य के आदेशों का पालन करने वाला एवं चार प्रकार की विनय प्रतिपत्ति करने वाला शिष्य घनीभूत कर्मों की निर्जरा करता हुआ सुगति को प्राप्त होता है अत: प्रत्येक शिष्य को निर्दिष्ट कर्त्तव्यों का परिपालन अवश्य करना चाहिए। इससे अन्य भी अनेक सुफल प्राप्त होते हैं।

आचार्य पद का अधिकारी कौन?

दशाश्रुतस्कन्ध में आचार्य को 'गणि' कहा गया है। साधु समुदाय को गण कहते हैं। जो गण के अधिपति होते हैं वे गणि कहलाते हैं। वर्तमान में गणि, गच्छाधिपति एवं आचार्य तीनों ही पृथक-पृथक पद हैं।

आचार्य की आठ सम्पदाएँ मानी गयी हैं।[70] वस्तुत: आचार्य के गुण समूह को सम्पदा कहते हैं। गणि (आचार्य) को उन गुणों से पूर्ण होना चाहिए क्योंकि बिना गुणों के वह गण की रक्षा नहीं कर सकता है और गण की रक्षा करना उनका प्रमुख कर्त्तव्य है। अतएव उन्हें आठ सम्पदाओं से युक्त होना आवश्यक है। इन गुणों से युक्त मुनि गणि पद के योग्य होता है। जैन-साहित्य में वे गुण 'गणिसंपदा' के नाम से उल्लिखित हैं। उनका सामान्य स्वरूप निम्न प्रकार है[71]–

1. आचार सम्पदा 2. श्रुत सम्पदा 3. शरीर सम्पदा 4. वचन सम्पदा 5. वाचना सम्पदा 6. मति सम्पदा 7. प्रयोगमति सम्पदा 8. संग्रहपरिज्ञा सम्पदा।

1. आचार सम्पदा – सर्वप्रथम आचार्य का आचार-सम्पन्न होना आवश्यक है, क्योंकि आचार शुद्धि से ही व्यवहार शुद्ध होता है। आचार सम्पदा चार प्रकार की कही गयी है[72]–

(i) **संयमध्रुवयोगयुक्तता** – संयम धर्म की सभी क्रियाओं में योगों को सदैव स्थिर रखना, क्योंकि स्थिर योग में ही उन क्रियाओं का समुचित पालन हो सकता है।

(ii) **असंप्रग्रहिता** – जाति, पद, श्रुत आदि का अहंकार नहीं करना। जैसे- मैं आचार्य हूँ, बहुश्रुत हूँ, तपस्वी हूँ- इस प्रकार के गर्व से मुक्त रहना, क्योंकि विनय से ही अन्य सभी गुणों का विकास होता है।

(iii) **अनियतवृत्ति** – एक स्थान पर दीर्घ समय तक नहीं रहना, अनियत विहारी होना। दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि के अनुसार गाँव में एक दिन तथा नगर में पांच दिन प्रवास करना, अलग-अलग मार्गों से भिक्षाचर्या करना। उपवास आदि तपस्या करना, अभिग्रह विशेष धारण करना भी अनियत वृत्ति है। इस सम्पदा का तात्पर्य यह है कि आचार्य के विचरण करने से धर्म प्रभावना अधिक होती है और वह आचार धर्म में स्थिर रह सकता है।

(iv) **वृद्धशीलता** – वृद्ध पुरुषों के समान गम्भीर स्वभाव वाला होना। दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि में विशुद्धशीलता, अबालशीलता, अचंचलशीलता और मध्यस्थशीलता को वृद्धशीलता का पर्याय बतलाया है। आशय यह है कि लघुवय में भी आचार्य पद पर स्थित रहते हुए शान्त स्वभावी एवं दृढ़ संकल्पी होना।

2. श्रुत सम्पदा – आचार्य अनेक जीवों का श्रेष्ठ मार्गदर्शक होता है अत: उसे श्रुतज्ञान से सम्पन्न होना भी आवश्यक है। बहुश्रुत ही सर्वत्र निर्भय विचरण कर सकता है। श्रुतसम्पदा चार प्रकार की बतलायी गयी हैं–[73]

(i) **बहुश्रुत** – जिसने मुख्य शास्त्रों का अध्ययन किया हो, उनमें आगत पदार्थों को भली-भांति जान लिया है और उनका प्रचार करने में समर्थ हो, क्योंकि आगम ज्ञाता के चारित्र पर्याय बहुत निर्मल होते हैं।

(ii) **परिचितश्रुत** – जो सब शास्त्रों को जानता हो या सभी शास्त्र जिसे अपने नाम की तरह स्मरण में हो। जिसका उच्चारण शुद्ध हो और जो शास्त्राभ्यासी हो।

(iii) **विचित्रश्रुत** – जिसने अपने और दूसरे मतों को जानकर शास्त्रीय ज्ञान में विचित्रता उत्पन्न कर ली हो। जो सभी दर्शनों की तुलना करके भलीभांति कथन कर सकता हो। जो सुन्दर उदाहरणों से अपने व्याख्यान को मनोहर बना

सकता हो तथा श्रोताओं पर प्रभाव डाल सकता हो अथवा उत्सर्ग-अपवाद सूत्रों को जानने वाला हो।

(iv) **घोषविशुद्धिश्रुत** – शास्त्र का उच्चारण करते समय उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ आदि स्वरों तथा व्यञ्जनों का पूरा ध्यान रखना घोषविशुद्धि है। इस प्रकार जिसका घोष विशुद्ध हों, वह घोष विशुद्धिश्रुत है। इसी तरह गाथा आदि का उच्चारण करते समय षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि स्वरों का भी पूरा ध्यान रखता हो, शिष्यों को स्पष्ट सूत्र उच्चारण का अभ्यास कराने में कुशल हो, क्योंकि उच्चारण की शुद्धि के बिना अर्थ की शुद्धि नहीं होती है और उसके अभाव में सर्व क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं।

3. **शरीर सम्पदा** – शरीर का प्रभावशाली एवं सुगठित होना शरीरसम्पदा है। ज्ञान और क्रिया भी शारीरिक सौष्ठव होने पर ही प्रभावक हो सकते हैं, रूग्ण या निर्बल शरीर धर्म-प्रभावना में सहायक नहीं होता है। इसके भी चार भेद हैं[74]–

(i) **आरोह परिणाह** – जिनके शरीर की ऊँचाई और चौड़ाई प्रमाणयुक्त हो, अति लम्बा या अति बौना तथा अति दुर्बल या अति स्थूल न हो।

(ii) **अनपत्रप** – शरीर के सभी अंगोपांग सुव्यवस्थित हों अथवा सभी अंग पूर्ण हो, कोई अंग अधूरा या बेडौल न हो जैसे - काना आदि।

(iii) **स्थिरसंहनन** – शरीर का संगठन स्थिर एवं सुदृढ़ हो, ढीलाढाला न हो।

(iv) **प्रतिपूर्णेन्द्रिय** – सभी इन्द्रियाँ परिपूर्ण हों, पूर्ण शरीर सुगठित हो, आंख-कान आदि में विकलता न हो।

4. वचन सम्पदा – धर्म के प्रचार-प्रसार में वाणी भी प्रमुख साधन है अतः आचार्य के लिए वचनसम्पदा का होना अत्यन्त आवश्यक है। मधुर, प्रभावशाली और आदेय वचन वाला होना वचनसम्पदा है।

वचनसम्पदा चार प्रकार की निर्दिष्ट है[75]–

(i) **आदेय वचन** – जिसके वचन सभी के लिए ग्राह्य हो।

(ii) **मधुर वचन** – चूर्णि के अनुसार इसके तीन अर्थ हैं –

1. अर्थयुक्त वचन 2. अपरुष वचन- मृदु वचन 3. क्षीरास्रव आदि लब्धियों से युक्त वचन अर्थात जो सारगर्भित और मधुरभाषी हो, निरर्थक या मोक्षमार्ग निरपेक्ष वचन न बोलते हो।

(iii) **अनिश्रित वचन** – जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के वशीभूत होकर न बोलते हो। हमेशा शान्त चित्त से सबका हित करने वाला वचन कहते हो।

(iv) **असन्दिग्ध वचन** – जो सर्वभाषा विशारद अथवा व्यक्त वचन बोलने वाले, स्पष्ट वचन बोलने वाले और निर्णायक शब्द का प्रयोग करने वाले हो अथवा श्रोता को किसी प्रकार सन्देह न रहे ऐसा अभीष्टार्थ वचन कहने वाले हो।

5. **वाचना सम्पदा** – बाह्य प्रभाव के साथ-साथ योग्य शिष्यों की सम्पदा भी आवश्यक है, क्योंकि सर्वगुण सम्पन्न अकेला व्यक्ति भी विस्तृत कार्य क्षेत्र में अधिक सफल नहीं हो सकता। अत: वाचना के द्वारा प्रतिभा सम्पन्न शिष्यों को तैयार किया जाता है। शिष्यों को शास्त्र आदि पढ़ाने की योग्यता होना वाचनासम्पदा है। इसके भी चार भेद हैं[76] –

(i) **विचयोद्देश** – विचय का अर्थ है- अनुप्रेक्षा, विचार, चिन्तन आदि। इसका स्पष्टार्थ यह है कि शिष्य विनय, उपशान्ति, जितेन्द्रियता आदि श्रुत ग्रहण योग्य प्रमुख गुणों से युक्त है या नहीं? तथा किस सूत्र का कितना पाठ या कितना अर्थ देने योग्य है ? इस प्रकार की अनुप्रेक्षा करके मूल पाठ एवं अर्थ की वाचना देने वाले हो।

(ii) **विचय वाचना** – शिष्य की बुद्धि देखकर अथवा वह जितना ग्रहण कर सकता हो, उसके अनुसार पढ़ाने वाले हो।

(iii) **परिनिर्वाप्य वाचना** – शिष्य को पहले दी गयी वाचना को पूर्ण हृदयंगम कराकर आगे की वाचना देने वाले हो अथवा पूर्व प्रदत्त वाचना की स्मृति का निरीक्षण-परीक्षण करके जितना उपयुक्त हो उतना पढ़ाने वाले हो।

(iv) **अर्थ निर्यापकत्व** – अर्थ की संगति करते हुए पढ़ाते हो अथवा सूत्र के अर्थ और उसके पौर्वापर्य का बोध कराकर शिष्य को वाचना देते हो।

6. **मतिसम्पदा** – शिष्य भी विभिन्न तर्क, बुद्धि, रुचि, आचार वाले होते हैं, अत: आचार्य को सभी के योग्य बुद्धि सम्पन्न होना आवश्यक है। मति का अर्थ है– बुद्धि। 1. औत्पातिकी 2. वैनयिकी 3. कार्मिकी और 4. पारिणामिकी – इन चारों प्रकार की बुद्धि से सम्पन्न होना मतिसम्पदा है। इसके चार प्रकार हैं[77]–

(i) **अवग्रहमति सम्पदा** – जो पदार्थ के सामान्य अर्थ को जानने वाले हो। अवग्रहमति के छह प्रकार हैं[78]–

• **क्षिप्र अवग्रहण** – शिष्य के उच्चारण मात्र से शुद्धाशुद्धि को ग्रहण कर लेने वाले हो।

• **बहु अवग्रहण** – एक साथ बहुत-सा ग्रहण कर लेने वाले हो, जैसे- पांच सौ, सात सौ श्लोकों को एक साथ ग्रहण कर लेना।

• **बहुविध अवग्रहण** – अनेक व्यक्तियों द्वारा उच्चारित शब्दों को एक साथ ग्रहण कर लेने वाले हो।

• **ध्रुव अवग्रहण** – चिरकाल तक विस्मृत न करते हो।

• **अनिश्रित अवग्रहण** – पुस्तक, श्रवण आदि का सहारा लिए बिना ग्रहण करते हो।

• **असन्दिग्ध अवग्रहण** – किसी वस्तु के अर्थ को शंका रहित होकर ग्रहण करते हो।

ईहा और अवाय के भी ये ही छः-छः भेद हैं।

(ii) **ईहामति सम्पदा** – सामान्य रूप से जाने हुए अर्थ को विशेष रूप से जानने की इच्छा रखने वाले हो।

(iii) **अवायमति सम्पदा** – प्रत्येक पदार्थ के सामान्य और विशेष गुणों को समझकर सम्यक निर्णय करने वाले हो।

(iv) **धारणामति सम्पदा** – निर्णीत अर्थ को लम्बे समय तक स्मृति में रखने वाले हो।

दशाश्रुतस्कन्ध में धारणामति के भी छह प्रकार कहे गये हैं[79]–

• **बहुधारण** – बहुत अर्थ को धारण करने वाले हो।

• **बहुविधधारण** – अनेकविध श्रुत पाठों या अर्थों को एक साथ धारण करने वाले हो।

• **पुराणधारण** – पूर्व पठित पाठों को धारण करने वाले हो।

• **दुर्धरधारणा** – कठिन से कठिन अर्थ को धारण करने वाले हो।

• **अनिश्रित धारण** – बिना किसी अन्य आलम्बन के स्वयं ही इष्ट अर्थ को धारण करने वाले हो।

• **असन्दिग्धधारण** – पठित अर्थ को सन्देह रहित होकर अवधारण करने वाले हो।

7. प्रयोगमति सम्पदा – विशाल संघ में रहते हुए अनेक समस्याएं उपस्थित होती रहती हैं। उनका यथासमय शीघ्र समाधान करने हेतु मतिसम्पदा और प्रयोगमतिसम्पदा का होना अत्यावश्यक है। साथ ही अन्य मत-मतान्तरों के सैद्धान्तिक विवाद या शास्त्रार्थ का प्रसंग होने पर भी उनका योग्य प्रतीकार करना आवश्यक होता है। इस स्थिति में बुद्धि, तर्क और श्रुत का प्रयोग धर्मप्रभावक होता है। अत: शास्त्रार्थ के समय श्रुत और बुद्धि के प्रयोग करने की कुशलता होना प्रयोगमतिसम्पदा है।

प्रयोगमति सम्पदा के चार प्रकार निम्न हैं[80]–

(i) **आत्म परिज्ञान** – अपने सामर्थ्य को देखकर शास्त्रार्थ करने वाले हो। यानी शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होने से पूर्व भलीभांति समझने वाला हो कि इस वाद में प्रवृत्त होना चाहिए या नहीं? सफलता प्राप्त होगी या नहीं?

(ii) **परिषद् परिज्ञान** – उपस्थित सभा की योग्यता, रुचि, क्षमता आदि का ध्यान रखकर शास्त्रार्थ करने वाले हो जैसे- सभ्य लोग मूर्ख हैं या विद्वान? वे किस बात को पसन्द करते हैं आदि।

(iii) **क्षेत्र परिज्ञान** – जहाँ शास्त्रार्थ करना है उस क्षेत्र का सम्यक निर्धारण करने वाले हो, जैसे - अमुक क्षेत्र में रुकना उचित है या नहीं ? यदि अधिक दिन रुकना पड़ जाये तो किसी तरह के उपसर्ग की सम्भावना तो नहीं है? आदि।

(iv) **वस्तु परिज्ञान** – शास्त्रार्थ करते समय निर्णायक के रूप में स्वीकृत सभापति कौन हो सकता है, इसका ज्ञान रखने वाला हो। इसी के साथ प्रतिवादी अनेक आगमों का ज्ञाता है या नहीं, उसका मत क्या है ? उसके शास्त्र कौनसे हैं? आदि का विचार करने वाले हो और सहवर्ती ग्लान, वृद्ध, तपस्वी आदि की समाधि का ध्यान रखकर तथा लाभालाभ की तुलना करके बुद्धि का प्रयोग करने वाले हो।

8. **संग्रहपरिज्ञा सम्पदा** – विशाल शिष्य समुदाय की संयम आराधना यथाविधि हो सके, तदर्थ विचरण क्षेत्र, उपधि, आहारादि की सुलभता तथा अध्ययन आदि की समुचित व्यवस्था और संयम सामाचारी की देख-रेख सुव्यवस्थित होना परमावश्यक है। अत: वर्षावास वगैरह के लिए मकान, पट्टा, वस्त्र आदि का ध्यान रखकर आचार के अनुसार संग्रह करना संग्रहसम्पदा है।

संघव्यवस्था में कुशल होना भी संग्रहपरिज्ञा सम्पदा है। इसके चार प्रकार निम्न हैं–[81]

(i) **बहुजन प्रायोग्य क्षेत्र** – जो समूचे मुनि संघ के लिए वर्षावास में रुकने योग्य क्षेत्र की प्रतिलेखना करने वाले हो अर्थात बाल, ग्लान, तपस्वी, प्राघूर्णक (अतिथि) आदि सभी के लिए उपयुक्त क्षेत्र का परीक्षण करने वाले हो। भाष्यकार के मत से विस्तीर्ण क्षेत्र की प्रेक्षा न करने से योगवाही साधुओं का संग्रह नहीं हो सकता और वे अन्य गच्छों में भी जा सकते हैं।

(ii) **पीठ-फलक सम्प्राप्ति** – जो अनेक मुनिजनों के लिए प्रातिहारिक (लौटाने योग्य) पीठफलक, शय्या-संस्तारक आदि की उचित व्यवस्था करने वाले हो अर्थात क्षेत्रीय जनता में इस प्रकार की भाव वृद्धि करने वाले हो कि बाल, तपस्वी, अध्ययनशील आदि साधु-साध्वियों का निर्वाह एवं उनकी सेवा-शुश्रुषा सहज सम्पन्न हो सके।

(iii) **कालसमानयन** – जो उचित समय पर आवश्यक आचारों जैसे– स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, अध्ययन-अध्यापन का सम्यक पालन करने और कराने वाले हो।

(iv) **गुरु पूजा** – गुरुजनों का यथायोग्य विनय आदि करने वाले हो अर्थात प्रव्रज्यादाता, वाचनादाता, गुरु या दीक्षापर्याय में ज्येष्ठ मुनियों की विशिष्ट विनय-भक्ति करने वाले हो।

इस प्रकार आठों ही सम्पदाएँ परस्पर एक-दूसरे की पूरक और महत्त्वपूर्ण हैं। जैसे कुशल नाविक के बिना सामुद्रिक यात्रियों के पूर्ण सुरक्षा की आशा रखना अनुचित है वैसे ही आठ सम्पदाओं से गुण सम्पन्न आचार्य के अभाव में संयमी आत्माओं की साधना में किसी भी प्रकार की विराधना न हो, यह सम्भव नहीं है। आचार्य सम्पूर्ण संघ की धर्म-नौका के नाविक होते हैं अत: संघहित के लिए यह ज्ञातव्य है कि आठ सम्पदा रूपी सर्वोच्च गुणों से सम्पन्न गीतार्थ मुनि को ही आचार्य पद पर स्थापित करें।[82]

व्यवहारसूत्र के उल्लेखानुसार इस पद पर अधिष्ठित होने वाला श्रमण आचारकुशल, संयमकुशल, प्रवचनकुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, संग्रहकुशल और उपग्रहकुशल होना चाहिए। साथ ही अक्षतचारित्री, अभिन्नचारित्री, अशबलचारित्री और असंक्लिष्ट आचार सम्पन्न भी होना चाहिए। बहुश्रुत एवं

बहुआगमज्ञ, कम से कम दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प एवं व्यवहारसूत्र को अवधारण किया हुआ होना चाहिए। इसके अनुसार वह न्यूनतम पांच वर्ष की दीक्षापर्याय से भी युक्त होना चाहिए। इसके सिवाय मध्यम या उत्कृष्ट किसी भी दीक्षापर्याय वाले व्यक्ति को एवं श्रुताभ्यासी को यह पद दिया जा सकता है।[83]

पुनश्च ज्ञातव्य है कि आचार्य पर गच्छ की सम्पूर्ण व्यवस्थाओं का उत्तरदायित्व रहता है। वे आगमों की वाचना भी देते हैं अतः अनुभव क्षमता की दृष्टि से न्यूनतम पांच वर्ष की दीक्षा पर्याय बतलायी गयी है।

बृहत्कल्पभाष्य के मन्तव्यानुसार जिसने निशीथ का सूत्रतः पूर्ण अध्ययन कर लिया हो, गुरु के पास उसके अर्थ को ग्रहण किया हुआ हो, परावर्तना और अनुप्रेक्षा द्वारा सूत्रार्थ का अच्छा अभ्यास कर लिया हो, जो विधि-निषेध के विधान में कुशल हो, पांच महाव्रतों के प्रति जागरूक हो- इस प्रकार पठित, श्रुत, गुणित, धारित और व्रतों में अप्रमत्त मुनि आचार्य पद के योग्य होता है।[84]

प्राचीन सामाचारी के मतानुसार आचार्य पदारूढ़ होने वाला शिष्य आठ वर्ष की उम्र में दीक्षित हुआ, बारह वर्ष तक सूत्रों का एवं बारह वर्ष तक सूत्रार्थों का एवं बारह वर्ष तक सूत्र और अर्थ दोनों का अध्ययन किया हुआ होना चाहिए। इस तरह चवालीस वर्ष पूर्णकर पैंतालीसवें वर्ष को प्राप्त हो जाये, तब आचार्य पद प्रदान करना चाहिए क्योंकि इस उम्र में ही अनुयोग की अनुज्ञा के लिए योग्यता प्रकट होती है। इसके साथ ही आर्यदेश में उत्पन्न हुआ, छत्तीस गुणों से अलंकृत, दृढ़ चारित्री, उपयोगवान, संघमान्य, मोक्षाभिलाषी, काल-संघयण आदि वर्तमानकालीन दोषों के वशाधीन एकाध गुण से विहीन होने पर भी गीतार्थ, वैराग्ययुक्त एवं शिष्यादि को सारणा आदि कराने में कुशल मुनि आचार्य पद के योग्य है।[85]

पंचवस्तुक के अनुसार जो मुनि पांच महाव्रतों से युक्त हो, वाचना देने के योग्य काल को प्राप्त कर चुका हो तथा जिसने सकल सूत्रार्थों का अभ्यास कर लिया हो वही आचार्य पद के योग्य होता है।[86]

विधिमार्गप्रपा के अभिमतानुसार जो आचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचना, मति एवं प्रयोग मति एवं संग्रहपरिज्ञा इन आठ प्रकार की गणिसम्पदा से युक्त हो, देश- कुल- जाति- रूप आदि गुणगणों से अलंकृत हो, बारह वर्ष तक आगमसूत्रों एवं समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों आदि का अध्ययन किया हुआ हो,

बारह वर्ष तक सूत्रों के अर्थ और सार को ग्रहण करने में समय दिया हो तथा बारह वर्ष तक स्वशक्ति की परीक्षा निमित्त विभिन्न देशों का पर्यटन किया हुआ हो, वह आचार्य पद का अधिकारी होता है।[87]

आचारदिनकर के निर्देशानुसार जो मुनि छत्तीस गुणों से युक्त, रूपवान एवं अखण्डित अंगोपांग वाला हो, सर्वविद्या में निपुण हो, कृतयोगी हो, द्वादशांगी का पूर्ण परिज्ञाता हो, शूरवीर हो, दयालु हो, धीर-गम्भीर एवं मधुरभाषी हो, आर्यदेश में उत्पन्न हुआ एवं उच्च कुल में जन्मा हुआ हो, माता-पिता दोनों के कुल से विशुद्ध हो, देश-काल और परिस्थिति को समझने वाला हो, स्व-सिद्धान्त, पर-सिद्धान्त का अभ्यासी हो, प्रतिभावान हो, विद्वान हो, तपकर्म में सदैव निरत हो, निर्देश देने में कुशल हो, पुरुष की बहत्तर कलाओं एवं षट् भाषाओं का विज्ञाता हो। सभी देशों की भाषाओं को समझने तथा बोलने में समर्थ हो, चौदह प्रकार की लौकिक विद्याओं में पारंगत हो, सौम्य स्वभावी हो, क्षमावान हो, योग्य मन्त्रादि को जानने वाला एवं अवसर विशेष में उनका प्रयोग करने में समर्थ हो, सदाचारी हो, कृतज्ञ हो, स्पष्टवक्ता-लज्जावान और नीतिवान हो तथा अष्टांगयोग की साधना करने वाला हो– इन गुणों से युक्त मुनि आचार्य पद के योग्य होता है।[88]

निष्पत्ति –उक्त सन्दर्भों से प्रमाणित होता है कि स्थानांग, दशाश्रुतस्कन्ध, व्यवहारसूत्र आदि आगमों में, आगमिक व्याख्या साहित्य व्यवहारभाष्य, दशाचूर्णि टीका आदि में एवं परवर्ती पंचवस्तुक, विधिमार्गप्रपा आदि में आचार्य पद के योग्य गुणों का स्पष्ट उल्लेख है। यदि तुलना की दृष्टि से देखें तो उनमें आंशिक समानता और किंचिद् असमानता है जैसे– व्यवहारसूत्र में आचार्य पद के योग्य शिष्य की न्यूनतम दीक्षा पर्याय बतलायी गयी है, जबकि विधिमार्गप्रपा में इसके अधिकतम दीक्षापर्याय का उल्लेख है।

समीक्षा की दृष्टि से कहा जाए तो वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यह विषय मुख्य रूप से विचारणीय है, क्योंकि आज इन मानदण्डों पर विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

आचार्य पद के अयोग्य कौन ?

जैन दर्शन का आचार मार्ग उत्कृष्ट कोटि का है। इस आचार-धर्म का प्रवर्त्तन आचार्य करते हैं अतएव आचार्य का गुण सम्पन्न होना अत्यन्त जरूरी

है। व्यवहारसूत्र में आचार्य पद के लिए अनधिकृत शिष्य का निरूपण करते हुए कहा गया है कि जो शिष्य आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह और उपग्रह में कुशल न हो, क्षत, शबल, भिन्न और संक्लिष्ट आचारवाला हो, अल्पश्रुत और अल्पआगमज्ञ हो तथा पाँच वर्ष की दीक्षा पर्याय से न्यून हो, उसे आचार्य पद पर आरूढ़ नहीं करना चाहिए।[89]

आचारदिनकर में पंचाचार से रहित, क्रूर स्वभावी, कटुभाषी, कुरूप, विकलांग, अनार्य देश में उत्पन्न, जाति एवं कुल से हीन, अभिमानी, अनुशासन करने में अदक्ष, विकथी, ईर्ष्यालु, विषय-कषाय में अनुरक्त, द्वेष रखने वाला, कायर, निर्गुण, अपरिपक्व, प्रकृति से दुष्ट आदि दोषों से युक्त भिक्षु को आचार्य पद के अयोग्य कहा गया है।[90]

आगमकारों ने इस सम्बन्ध में यह भी कहा है कि हाथ, पाँव, कान, नाक एवं होठ रहित, वामन, कुब्ज, पंगु, लूला और काणा- ये व्यक्ति दीक्षा के अयोग्य हैं। दीक्षा लेने के बाद यदि कोई विकलांग हो जाये तो उसे आचार्यपद नहीं दिया जा सकता है। यदि आचार्य विकलांग हो जाए तो उनके स्थान पर योग्य शिष्य को आचार्य पद देकर विकलांग आचार्य को चोरितमहिष की भांति गुप्त स्थान में रखा जाना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि आचार्य पद पर नियुक्त शिष्य सर्वाङ्गी, इन्द्रियों से परिपूर्ण, बलवान, उत्कृष्ट कुलोत्पन्न, प्रशमस्वभावी, सरल, शूरवीर, मृदुभाषी और उत्तम चारित्रवान होना चाहिए।

अयोग्य को अनुज्ञा देने से होने वाले दोष

पंचवस्तुक के अभिमतानुसार अयोग्य मुनि को आचार्यपद पर स्थापित करने से निम्न दोष लगते हैं[91]–

1. **मृषावाद –** जो मुनि संयम पर्याय के अनुरूप सूत्रार्थों का सम्यक अवबोध नहीं कर पाया है उसे अनुयोग (आगम-व्याख्यान) की अनुज्ञा देने पर अनुज्ञादाता गुरु के अनुज्ञावचन व्यर्थ हो जाते हैं। जिस प्रकार एक पिता के द्वारा दरिद्र पुत्र से रत्न मांगने पर, पुत्र के पास रत्न न होने से पिता का दान वचन व्यर्थ हो जाता है, उसी प्रकार सूत्रार्थों के ज्ञान से रहित को अनुयोग की अनुज्ञा देने पर गुरु का अनुज्ञावचन निरर्थक हो जाता है। इससे अतिप्रसंग दोष भी उत्पन्न होता है।

2. **लोकनिन्दा** – सामान्यतया वाचनादाता आचार्य सभी तरह के लोगों के संशयों को दूर करते हैं इसलिए धर्म का विशेष ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुकजन प्राय: उनके पास ही आते हैं। परन्तु जो वाचनाचार्य अल्पज्ञाता हो अथवा बन्ध-मोक्षादि तत्त्वों को नहीं जानता हो, वह आगत जिज्ञासुओं को बन्ध-मोक्ष जैसे सूक्ष्म तत्त्वों का स्वरूप कैसे समझा सकता है ? यदि वह जैसे-तैसे कुछ स्पष्ट करने की चेष्टा करता है तो इससे लोक में जिनशासन की निन्दा होती है। जैसे कि विद्वान कहते हैं – यह जिनशासन असार है, क्योंकि प्रवचनकार ज्ञाता होने पर भी जैसे-तैसे बोलते हैं।

3. **गुणहानि** – जो आचार्य अज्ञानी हो, वह शिष्यों के लिए संसार का उच्छेद करने वाला और ज्ञानादि प्रधान गुणों की वृद्धि करने वाला कैसे हो सकता है ? क्योंकि जो स्वयं गुणसम्पत्ति से रहित है, वह अन्यों में गुणाधान नहीं कर सकता है। जैसे– दरिद्र व्यक्ति दूसरों को श्रीमन्त नहीं बना सकता है। दूसरी बात यह है कि उन्हें हेयोपादेय का ज्ञान न होने से शिष्यों में ज्ञानादि गुण की वृद्धि भी नहीं कर सकते हैं तथा अपने मिथ्या अभिमान के कारण अन्यों से भी अपने शिष्यों को ज्ञानार्जन नहीं करवाते हैं। इस प्रकार न केवल शिष्यों की, अपितु शिष्यों की दीर्घ-परम्परा में भी गुणहानि होती है।

4. **तीर्थोच्छेद** – अयोग्य मुनि को आचार्य पद पर स्थापित करने से तीर्थ का विच्छेद होता है। सर्वप्रथम तो अयोग्य आचार्य में ज्ञानादि गुणों का अभाव होने से उनके द्वारा किये गये सभी अनुष्ठान जिनाज्ञाविरुद्ध होते हैं, क्योंकि स्वानुमति से आचरित क्रियाएँ मोक्षरूपी फल की प्रदाता नहीं होती हैं। इस प्रकार अयोग्य गुरु के द्वारा प्राय: भिक्षाचर्यादि रूप द्रव्यलिंग की ही प्राप्ति होती है और उस द्रव्यलिंग के आधार पर अनेक अनर्थ होते हैं। परमार्थत: तीर्थ का विच्छेद हो जाता है। इसका कारण यह है कि तीर्थ का फल मोक्ष है और वह फल द्रव्यलिंग से प्राप्त नहीं होता है अतएव सुयोग्य गुरु, उस शिष्य को ही आचार्य पद पर नियुक्त करें, जो तत्त्व का ज्ञाता हो और सूत्रार्थ का सम्यक अध्ययन किया हुआ हो।

प्राचीन सामाचारी इस सन्दर्भ में कहती है कि सद्गुणी के अभाव में भी गुणहीन को आचार्यपद पर स्थापित नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसे मुनियों को सूरिपद देने वाला गुरु महान दोष का भागी होता है।[92]

सन्मतिप्रकरण कहता है कि जैसे-जैसे गुरु की बहुश्रुत के रूप में लोक प्रसिद्धि होती है वैसे-वैसे शिष्य सम्पदा बढ़ती जाती है। यदि गुरु सिद्धान्त के अध्येता और उनका अर्थ करने में सुनिश्चित न हो, तो वह सिद्धान्त का शत्रु होता है अत: आचार्य गुणान्वित एवं गुणदर्शी होना चाहिए।[93]

आचार्य की आशातना के दुष्परिणाम

आगमकारों ने आचार्य को तीर्थङ्कर तुल्य स्थान दिया है। जहाँ तीर्थङ्कर परमात्मा प्रत्यक्ष रूप में विद्यमान नहीं हो वहाँ आचार्य की अनुज्ञा 'तित्थयर समो सूरी' तीर्थङ्कर के समान प्रवर्तित होती है। अत: उनकी अवहेलना, अवज्ञा या लघुता करने का प्रयत्न करना भी भारी आशातना है। आशातना का तात्पर्यार्थ – सब ओर से विनाश करना या कदर्थना करना है। गुरु की आशातना से शिष्य के आत्मधन की ही हानि होती है, प्रत्युत गुरु को किसी प्रकार से नुकसान नहीं पहुँचता है।

दशवैकालिकसूत्र में आचार्य की आशातना के दुष्परिणामों का मार्मिक चित्रण उपस्थित करते हुए कहा गया है[94]–

जो गुरु (आचार्य) की हीलना करते हैं वे गुरु की आशातना करते हुए मिथ्यात्व को प्राप्त करते हैं। जो शिष्य गर्व या प्रमादवश गुरु के समीप विनय नहीं सीखता है उसका अहंकार बांस फल की भांति उसी के ज्ञानादि वैभव के विनाश के लिए होता है।

कई साधु वयोवृद्ध होते हुए भी ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्यूनता के कारण स्वभाव से ही अल्प प्रज्ञाशील होते हैं इसके विपरीत कई अल्पवयस्क होते हुए भी श्रुत और प्रज्ञा से सम्पन्न होते हैं। इस अपेक्षा से जो शिष्य ज्ञान में न्यून, किन्तु आचार में सुदृढ़ गुरु की अवज्ञा करते हैं उनके सद्गुण उसी तरह भस्मीभूत हो जाते हैं जिस प्रकार अग्नि क्षण मात्र में ईंधन के ढेर को भस्म कर देती है।

जिस प्रकार सर्प के बच्चे को छेड़ने वाला अपना अहित कर बैठता है, उसी प्रकार आचार्य को अल्पवयस्क समझ कर जो उनकी आशातना करता है वह एकेन्द्रिय आदि जातियों में जन्म-मरण करता रहता है।

अत्यन्त क्रुद्ध हुआ आशीविष सर्प जीवन नाश से अधिक और क्या कर सकता है? परन्तु आचार्य को अप्रसन्न करने से बोधिलाभ नहीं होता है और मोक्ष प्राप्ति में भी बाधा उत्पन्न होती है।

कदाचित ऐसा हो सकता है कि मन्त्र आदि के बल से अग्नि शरीर को न जला पाएं, आशीविष सर्प कुपित होने पर भी न काटे और यह भी सम्भव है कि हलाहल विष न भी मारे, किन्तु गुरु की आशातना से मोक्ष सम्भव नहीं है।

दशवैकालिक सूत्र के रचनाकार आचार्य की गरिमा का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत करते हुए यह भी कहते हैं कि गुरु की आशातना पर्वत को सिर से भेदन करने, सोए हुये सिंह को जगाने तथा भाले की नोक पर हथेली से प्रहार करने के समान है। सम्भव है कोई अपने सिर के बल से पर्वत को भेद के बल डाले, कदाचित कुपित हुआ सिंह जगाने वालों का भक्षण न करे, किन्तु गुरु की अवहेलना से मोक्ष प्राप्ति कदापि संभव नहीं है।

वस्तुतः गुरु की आशातना करने वाला अपना ही अहित करता है। इहलोक-परलोक दोनों में अत्यन्त दुःख पाता है इसलिए उत्तम शिष्य को सदैव गुरु की सेवा-शुश्रुषा एवं भक्ति करके उन्हें प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

आचार्य की चरण प्रमार्जन विधि

चरण प्रमार्जन आचार्य का एक अतिशय है। आचार्य जब भी बाहर से समागत हो, उनके चरणयुग्म का प्रमार्जन (रजकणों को दूर करना) आवश्यक है। व्यवहारभाष्य के मतानुसार गच्छ में यदि आचार्य का चरण प्रमार्जन मुझे करना है ऐसा अभिग्रहधारी साधु हो तो वही करे, अन्यथा कोई भी साधु आचार्य के निश्रागत रजोहरण से उनके चरणों का प्रमार्जन कर सकता है। यदि किसी के द्वारा काम में नहीं लिया हुआ पादप्रोंछन हो तो उसी के द्वारा यह कार्य करे। निष्कारण चरण प्रमार्जन न करने पर तथा किसी के द्वारा व्यक्त पादप्रोंछन से प्रमार्जन करने पर मासलघु प्रायश्चित्त आता है।[95]

आचार्य द्वारा भिक्षार्थ न जाने के हेतु

आचार्य का यह भी एक अतिशय है कि वे भिक्षाटन नहीं करते हैं। जैन व्याख्याकारों ने इस तथ्य को सुन्दर ढंग से उद्घाटित करते हुए निर्दिष्ट किया है कि आचार्य गच्छ में आबालवृद्ध के आधार होते हैं। उनका सार्वकालिक प्रभुत्व होता है।

जैसे ग्वाला प्रातः काल में चराने हेतु ले जाते समय, मध्याह्न काल में छाया में बैठी हुई और सायंकाल घर लौटती हुई गायों का अवलोकन करता है वैसे ही आचार्य प्रातः, मध्याह्न और विकाल वेला में गण का निरीक्षण करते हैं।

यदि आचार्य गोचरीचर्या में लग जाए, तो प्रमादी शिष्यों के अवश्य करणीय योगों की हानि होती है। वे भिक्षाटन में आलसी बन जाते हैं।

यदि आचार्य भिक्षाटन करें तो कायक्लेश व परिश्रान्त हो जाने के कारण सम्यक वाचना नहीं दे सकेंगे, इससे शिष्यों और उपसम्पदार्थ साधुओं के सूत्रों की हानि होती है। श्रुतलाभ के अभाव में वे गच्छान्तर चले जायें तो गच्छ की हानि होती है।

आचार्य को सूत्र-अर्थ, विद्या-मन्त्र, निमित्त-योग-शकुन आदि शास्त्रों का पुनरावर्तन करना तथा एकान्त स्थल में जाकर सूत्रों के रहस्य को आत्मसात करना अनिवार्य होता है। यदि वे भिक्षाटन में प्रवृत्त हो जाये तो इन सबमें व्याघात बाधा होती है इसलिए उनके लिए भिक्षाटन का निषेध है। इससे आचार्य का आदर-सम्मान बढ़ता है और शिष्यों में बड़ों के प्रति विनय-भाव अभिवृद्ध होता है।[96]

आचार्य पदस्थापना हेतु मुहूर्त्त विचार

पूर्वोल्लिखित गुण सम्पन्न शिष्य की प्राप्ति होने पर उसे आचार्य पद किस शुभ मुहूर्त्त में देना चाहिए ? इस विषयक सामान्य जानकारी आचारदिनकर में प्राप्त होती है।

नक्षत्र – तदनुसार इस पदस्थापना के लिए लता दोष, पात दोष आदि से रहित मूल, पुनर्वसु, स्वाति, अनुराधा, हस्त, श्रवण, रोहिणी, मृगशिरा, उत्तरा-फाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद नक्षत्र शुभ हैं।[97]

वार – शुक्र और मंगलवार को छोड़कर शेष वारों, अशुभ तिथियों को छोड़कर अन्य तिथियों, विशुद्ध वर्ष, महीना, दिन और लग्न में आचार्य पद स्थापना करना उत्तम है।

ग्रह शुद्धि – पदस्थापना के दिन की लग्न कुंडली लग्न में ग्रहों की युति दीक्षा विधि के समान इस प्रकार देखें[98] – लग्न के दूसरे, पाँचवें, छठे एवं ग्यारहवें स्थान में सूर्य हो, दूसरे, तीसरे, छठे एवं ग्यारहवें स्थान में चन्द्र हो, तीसरे, छठे, दसवें एवं ग्यारहवें स्थान में मंगल या बुध हो, केन्द्र (1,4,7,10) और त्रिकोण (5,9) में गुरु हो, तीसरे, छठे, नौवें और बारहवें स्थान में शुक्र हो, दूसरे, पाँचवें और ग्यारहवें स्थान में शनि हो तथा लग्नांश में गुरु एवं शनि बलवान हो तो आचार्य पद देना चाहिए।

आचार्य वर्धमानसूरि के अनुसार इस पदस्थापना हेतु वर्ष, मास, दिन आदि की शुद्धि विवाह संस्कार की तरह निम्न रूप से देखनी चाहिए-

तिथि – तीन दिन का स्पर्श करने वाली तिथि, क्रूर तिथि, दग्धा तिथि, रिक्ता तिथि, अमावस्या, द्वादशी, अष्टमी, षष्ठी को छोड़कर शेष तिथियों में आचार्यपद की स्थापना करें।

मास – चातुर्मास, अधिकमास, गुरु या शुक्र अस्त होने वाले मास, मलमास और जन्ममास के अतिरिक्त महीने इस पदस्थापना के लिए शुभ हैं।

दिन – मासांत में, संक्रान्ति दिन, उसके दूसरे दिन, ग्रहण वाले दिन तथा उसके बाद एक सप्ताह तक, जन्म, तिथि, वार, नक्षत्र एवं लग्न के दिन को छोड़कर शेष दिन शुभ हैं। इसी तरह भद्रा में, गंडांत में, दुष्ट नक्षत्र- तिथि- वार के योग दिन में, व्यतिपात, वैधृति एवं वर्जित समय में, सूर्य के स्थान में गुरु होने पर और गुरु के स्थान में सूर्य होने पर पदस्थापना न करें।

निष्पत्ति– यदि आचार्य पदस्थापना के मुहूर्तादि के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से मनन किया जाए तो आगमयुग से विक्रम की 8वीं शती तक के ग्रन्थों में तद्विषयक कुछ भी विवरण प्राप्त नहीं होता है। इसके अनन्तर निर्वाणकलिका, सामाचारी प्रकरण, सुबोधासामाचारी, विधिमार्गप्रपा आदि में इतना निर्देश दिया गया है कि इस पदस्थापना को श्रेष्ठ तिथि, करण, मुहूर्त्त, नक्षत्र, योग एवं शुभ लग्न में करना चाहिए किन्तु इस विधान सन्दर्भित शुभ नक्षत्र आदि कौन-कौनसे हैं ? इनका कोई सूचन नहीं है।

तदनन्तर एक मात्र आचारदिनकर (विक्रम की 15वीं शती) में प्रस्तुत मुहूर्त्तादि का सामान्य वर्णन देखा जाता है। इस ग्रन्थ में भी आचार्य पदस्थापना-विधि के अन्तर्गत तद्योग्य नक्षत्रादि का ही स्पष्ट उल्लेख है शेष आचार्य पदस्थापना के लग्न में ग्रहों की युति दीक्षा के समान तथा वर्ष, मास, दिन, तिथि आदि की शुद्धि का विचार विवाह के समान करने का निर्देश है।

अनुयोगाचार्य का स्वरूप

जो मुनि सूत्र के अनुसार अर्थ-घटन करने में कुशल-अभ्यस्त हो, उसे अनुयोगाचार्य पद प्रदान करते हैं। कुछ चिन्तकों के अनुसार वाचनाचार्य और उपाध्याय पद के समान अनुयोगाचार्य भी एक पृथक पदव्यवस्था है।

पंचवस्तुक, सामाचारी संग्रह, विधिमार्गप्रपा आदि के उल्लेखानुसार आचार्य पदस्थ मुनि को पद दान के दिन अनुयोग की अनुज्ञा दी जाती है- इस अपेक्षा से आचार्य ही अनुयोगाचार्य के अधिकारी बनते हैं। आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'अनुयोगाचार्य' इस नाम से आचार्य की पदस्थापना विधि का निरूपण किया है। इस प्रकार अनुयोगाचार्य के सम्बन्ध में द्विविध मत हैं – 1. अनुयोगाचार्य एक स्वतन्त्र पद है और 2. आचार्य ही अनुयोगाचार्य कहलाता है। उक्त दोनों ही अवधारणाएँ अपनी-अपनी दृष्टि से उचित हैं।

अनुयोग शब्द का अर्थ

अनुयोग शब्द 'अनु' उपसर्ग और 'योग' शब्द के संयोग से निर्मित है। 'अनु' उपसर्ग अनुकूल अर्थवाचक है अत: सूत्र के साथ अनुकूल, अनुरूप या सुसंगत योग अनुयोग है अथवा सूत्र के अनुरूप अर्थ की योजना करना अनुयोग है।

बृहत्कल्प के अनुसार अनु का अर्थ पश्चाद् भाव या स्तोक है। उस दृष्टि से अर्थ के पश्चात होने वाला या स्तोक सूत्र के साथ जो योग है, वह अनुयोग है।[99]

अनुयोग की विभिन्न परिभाषाएँ

प्राचीन साहित्य में 'अनुयोग' शब्द पर चिन्तन करते हुए लिखा गया है – 'अणुओयणमणुयोगो' अनुयोजन करना अनुयोग है।

यहाँ अनुयोजन का अर्थ एक-दूसरे को जोड़ना एवं संयुक्त करना है। इसी अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार ने लिखा है जो भगवत कथन से आगम वचनों को संयोजित करता है, वह अनुयोग है।[100]

अभिधानराजेन्द्रकोश में कहा गया है कि लघु सूत्र के साथ महान अर्थ का योग करना अनुयोग है।[101]

आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार सूत्र के साथ अर्थ की जो अनुकूल योजना की जाती है, उसका नाम अनुयोग है अथवा सूत्र का अपने अभिधेय में जो योग होता है, वह अनुयोग है।[102]

आचार्य हरिभद्र, आचार्य अभयदेव एवं आचार्य शान्तिचन्द्र ने भी उपर्युक्त अर्थों का समर्थन किया है।[103]

आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने भी अनुयोग की यही परिभाषाएँ बताई है। जैसे– सूत्र के साथ अर्थ की योजना करना अनुयोग है अथवा सूत्र के

अभिधेय का कथन योग है और उसका सूत्र के अनुरूप होना अनुयोग कहलाता है अथवा सूत्र का अर्थ के बाद कथन होता है, सूत्र संक्षिप्त होता है, इसलिए उसका नाम अनु है। उस अनु का अपने प्रतिपाद्य के साथ संयोजन करना अनुयोग है।[104]

स्वरूपतः सूत्र के अनुकूल अर्थ का संयोजन करना अनुयोग है। जो मुनि सूत्रानुरूप अर्थ की योजना करने में कुशल होते हैं उन्हें अनुयोगाचार्य कहा जाता है।

अनुयोग के एकार्थवाची

आवश्यकनिर्युक्ति में अनुयोग के पाँच समानार्थी शब्द बताए गए हैं–[105]

1. अनुयोग – सूत्र के अनुरूप अर्थ का योग करना अनुयोग कहलाता है।

2. नियोग – सूत्र के साथ अर्थ का निश्चित योग करना नियोग है।

3. भाषा – सूत्र के अर्थ का कथन करना भाषा है।

4. विभाषा – एक सूत्र के विविध अर्थों का प्रतिपादन करना अथवा एक पद के दो, तीन आदि अर्थ घटित करना विभाषा है, जैसे अश्व शब्द की व्याख्या करते समय कहना- जो खाता है, वह अश्व है (अश्नोति इति अश्व)। जो तीव्र गति से दौड़ता है, परन्तु श्रान्त नहीं होता, वह अश्व है।[106]

5. वार्तिक – सूत्र के अर्थ का समग्रता से प्रतिपादन करना वार्तिक है। वार्तिक का दूसरा नाम भाष्य है। भाष्य, आगम सूत्रों के गूढ़ार्थ को समझने का महत्त्वपूर्ण अंग है।

विशेषावश्यकभाष्य की टीका में वार्तिक (भाष्य) के निम्न अर्थ प्रतिपादित हैं[107]–

(i) सूत्र की व्याख्या वार्तिक या भाष्य है जैसे- विशेषावश्यकभाष्य।

(ii) श्रुत में पारंगत गणधर आदि के द्वारा वस्तु का उसकी विभिन्न पर्यायों की अपेक्षा से जो व्याख्यान किया जाता है, वह वार्तिक है।

(iii) सूत्र के आशय के आधार पर अर्थ का कथन करना वार्तिक है।

(iv) सूत्र की गुरु-परम्परा से प्राप्त व्याख्या वार्तिक है।

वार्तिक (अनुयोग) के अधिकारी

विशेषावश्यकभाष्य में वार्तिक के तीन अधिकारी बतलाए गए हैं[108]–

1. उत्कृष्ट श्रुतज्ञानी जैसे- गणधर।

2. युगप्रधान आचार्य जैसे- भद्रबाहुस्वामी।

3. युगप्रधानाचार्य द्वारा समग्रता से श्रुत ग्रहण करने वाला जैसे- स्थूलिभद्रस्वामी।

इस वर्णन से पूर्व कथन का स्पष्ट समर्थन हो जाता है कि अनुयोग के प्रतिपादक आचार्य ही होते हैं।

आचार्य जिनभद्रगणि ने अन्य तीन प्रकार से भी अनुयोग के अधिकारी बताये हैं जो निम्न हैं[109]–

1. **भाषक –** अनुयोगाचार्य शिष्य को जितना अर्थ समझाते हैं, उसकी अपेक्षा कुछ कम जो दूसरों को बता सकता है वह भाषक कहलाता है।

2. **विभाषक –** आचार्य जितना पढ़ाते हैं उतना ही दूसरों को बता सकने में जो समर्थ होता है, वह विभाषक कहलाता है।

3. **भाष्यकार (वार्तिककार) –** जो अपने प्रज्ञा बल के द्वारा अनुयोगाचार्य से प्राप्त श्रुत के अर्थ को अधिक विस्तार के साथ कह सकने में समर्थ होता है, वह भाष्यकार कहलाता है।

इससे भी पूर्व मत की सिद्धि हो जाती है। दूसरे मत के अनुसार भाषा, विभाषा, वार्तिक आदि अनुयोग के एकार्थवाची होने पर भी उनमें प्रतिपादन की दृष्टि से भेद है। इस कारण अधिकारियों में भी भेद हो जाता है। यद्यपि अनुयोगाचार्य सभी से विशिष्ट होते हैं।

भाष्यकार ने उक्त विषय को निम्न छह दृष्टान्तों से समझाने का भी प्रयास किया है – 1. काष्ठ 2. पुस्त (लेप्य) 3. चित्र 4. श्रीगृहिक 5. पौण्ड्र (कमल) और 6. पथप्रदर्शक।[110]

जैसे एक व्यक्ति काष्ठपट्टिका को सामान्य आकार देता है। दूसरा उसके भागों को सज्जित करता है और तीसरा व्यक्ति सर्व अंगोपांगों का निर्माण कर उसे एक आकर्षक कृति के रूप में प्रस्तुत करता है। यहाँ काष्ठ के समान सूत्र है। भाषक प्रथम व्यक्ति के समान है, दूसरा विभाषक दूसरे व्यक्ति के समान है और वार्तिककार तीसरे व्यक्ति के समान है। अनुयोगाचार्य इनसे भी विशिष्ट होते हैं।[111]

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि सूत्रों के अनुरूप अर्थ करना अथवा सूत्र के विविध अर्थों का प्रतिपादन करना अथवा सूत्रार्थ को समग्रता से समझाना अनुयोग है और अनुयोग के प्रतिपादन का अधिकार आचार्य को ही होता है।

सामान्यत: आचार्य पदस्थ मुनियों में भी श्रुतज्ञान आदि एवं क्षयोपशम आदि की अपेक्षा तरतमता होना सम्भव है। इसी कारण अधिकारी भेद किये गये हैं। मूलत: अनुयोगाचार्य ही अनुयोग के व्याख्याता होते हैं।

आगम ग्रन्थों में अनुयोग के प्रकार

जैन आगम साहित्य में अनुयोग के विविध भेद-प्रभेद हैं। अनुयोग का सामान्य अर्थ व्याख्या है। व्याख्येय वस्तु के आधार पर अनुयोग के चार भेद किये गये हैं, जो आज भी बहुविश्रुत हैं। श्वेताम्बर मान्यतानुसार उनका क्रम यह है – चरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग।[112] दिगम्बर मतानुसार चतुर्विध अनुयोगों का क्रमांकन इस प्रकार है – प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग।[113]

1. **चरणानुयोग** – चरण अर्थात चारित्र। गृहस्थ और मुनियों के व्रत, तप, चारित्र आदि से सम्बन्धित कथन करने वाले सूत्र चरणानुयोग कहलाते हैं। जैसे - श्रावकप्रज्ञप्ति, उपासकाध्ययन आदि में श्रावकधर्म और पंचवस्तुक, पिण्डनिर्युक्ति, मूलाचार आदि में साधु धर्म मुख्य रूप से कहा गया है, वह चरणानुयोग है।

2. **धर्मकथानुयोग** – धर्मकथा यानी धर्म सम्बन्धी कथा। जिन ग्रन्थों में अहिंसा आदि धर्म के स्वरूप का वर्णन हो अथवा महापुरुषों के जीवन चरित्र का वर्णन हो, वह धर्मकथानुयोग कहलाता है। दिगम्बर मत में इसे प्रथमानुयोग कहा है।

3. **गणितानुयोग** – गणित के माध्यम से काल, माप, संख्या आदि का वर्णन करने वाले सूत्र गणितानुयोग कहलाते हैं जैसे – सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि। दिगम्बर मत में इसे करणानुयोग माना गया है।

4. **द्रव्यानुयोग** – जीव-अजीव, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदि की चर्चा करने वाले ग्रन्थ द्रव्यानुयोग कहलाते हैं जैसे– भगवतीसूत्र, प्रज्ञापना, दृष्टिवाद आदि।[114]

यहाँ श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में अनुयोगों के नाम और स्वरूप को को लेकर कथंचिद अन्तर देखा जाता है किन्तु भाव की दृष्टि से समानता है।

नन्दीसूत्र में अनुयोग के दो विभाग निरूपित हैं –

1. मूल प्रथमानुयोग
2. गण्डिकानुयोग।[115]

जिन सूत्रों में अरिहन्त परमात्मा के सम्यक्त्व प्राप्ति से लेकर तीर्थ प्रवर्त्तन और मोक्षगमन तक का निरूपण हो वह प्रथमानुयोग कहा जाता है।

जिन सूत्रों में समान वक्तव्यता से अर्थाधिकार का अनुसरण करने वाली वाक्य पद्धति निहित हो वह गण्डिकानुयोग है।[116] गण्डिकानुयोग के अनेक प्रकार हैं जैसे–

कुलकर गण्डिकानुयोग – विमलवाहन आदि कुलकरों का जीवन चरित्र बताने वाले सूत्र।

तीर्थङ्कर गण्डिकानुयोग – तीर्थङ्कर पुरुषों के जीवन चरित्र का प्रतिपादन करने वाले सूत्र।

हरिवंश गण्डिकानुयोग – हरिवंश में उत्पन्न महापुरुषों का जीवन चरित्र प्रस्तुत करने वाले सूत्र आदि।

जैसे– वैदिक परम्परा में विशिष्ट व्यक्तियों का वर्णन पुराण साहित्य में है वैसे ही जैन परम्परा में महापुरुषों का वर्णन गण्डिकानुयोग में समाहित है।[117]

विशेषावश्यकभाष्य में निक्षेप पद्धति की अपेक्षा अनुयोग के सात भेद वर्णित हैं[118]– 1. नाम 2. स्थापना 3. द्रव्य 4. क्षेत्र 5. काल 6. वचन और 7. भाव।

1. नाम अनुयोग – वीर आदि नामों का अनुयोग/व्याख्या करना अथवा किसी वस्तु का 'अनुयोग' नाम रखना, वह नामानुयोग है।

2. स्थापना अनुयोग – स्थापना का व्याख्यान करना अथवा व्याख्या करते समय आचार्य आदि की काष्ठ आदि में स्थापना करना अथवा अनुयोगाचार्य की लेप्यकर्म आदि में तदाकार स्थापना करना स्थापना अनुयोग है।

3. द्रव्य अनुयोग – द्रव्य पदार्थों की व्याख्या करना अथवा द्रव्य का पर्याय के साथ योग्य सम्बन्ध करना द्रव्य अनुयोग है।

4. क्षेत्र अनुयोग – जो सभी द्रव्यों को स्थान देता है वह क्षेत्र कहलाता है। आकाश मूलत: द्रव्य ही है, किन्तु द्रव्यों को अवगाहना देने की अपेक्षा क्षेत्र कहलाता है। इस प्रकार जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में जम्बूद्वीप क्षेत्र का व्याख्यान है, वह क्षेत्र अनुयोग है।

5. काल अनुयोग – उत्पलशतपत्र आदि दृष्टान्तों से समय का प्ररूपण करना तथा काल के समस्त भेद-प्रभेदों की व्याख्या करना कालानुयोग है।

6. वचन अनुयोग – एकवचन, द्विवचन या बहुवचन आदि की व्याख्या करना वचन अनुयोग है।

7. भाव अनुयोग – जो वस्तु जिस रूप में अवस्थित है, उसका उसी रूप में प्ररूपण करना भाव अनुयोग है।

अनुयोग के पृथक्त्व और अपृथक्त्व ऐसे भी दो प्रकार उल्लिखित हैं।

संक्षेप में कहें तो आर्यवज्रस्वामी तक अनुयोग के एक भी विभाग नहीं थे। उस समय प्रत्येक सूत्र की चारों अनुयोगों के रूप में व्याख्या होती थी। क्रमशः काल के दुष्प्रभाव से स्मृति ह्रास होने के कारण एवं शिष्यों को सरल पद्धति से समझाने हेतु अनुयोग के भेद-प्रभेद अस्तित्व में आए।

अनुयोगाचार्य के लक्षण

अनुयोग की क्षमता से परिपूर्ण आचार्य छत्तीस गुणों से युक्त होने चाहिए। बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार वे गुण निम्नलिखित हैं।[119]

1. देशयुत - मध्यदेश या साढ़े पच्चीस आर्य देशों में जन्में हुए हों।
2. कुलयुत - इक्ष्वाकुकुल आदि उत्तम कुलों में उत्पन्न हुए हों।
3. जातियुत - मातृपक्ष उत्तम हो।
4. रूपयुत - शरीर सौन्दर्यवान हो।
5. संहननयुत - सुदृढ़ शरीर वाले हों।
6. धृतियुत - गहन अर्थों में निपुण हों।
7. अनाशंसी - किसी तरह की आकांक्षा से रहित हों।
8. अविकत्थन - अल्पभाषी हो।
9. अमायी - मायापूर्ण व्यवहार से रहित हों।
10. स्थिर परिपाटी - अनुयोग की वाचना देने में अभ्यस्त हों।
11. गृहीत वाक्य - जिनके वचन सभी के लिए आदेय (ग्राह्य) हों।
12. जित परिषद् - सभा में उपस्थित लोगों के मन को जीतने वाले हों।

13.	निद्राजयी	-	जिसने निद्रा को अल्प कर दिया हो।
14.	मध्यस्थ	-	निष्पक्ष स्वभावी हो।
15.	देशज्ञ	-	सभी देशों के नियम-विधियों से परिचित हों।
16.	कालज्ञ	-	समय या परिस्थिति का सम्यक मूल्यांकन करने वाले हों।
17.	भावज्ञ	-	जिज्ञासुओं के अभिप्राय को जानने वाले हों।
18.	आसन्नलब्धप्रतिम	-	प्रतिवादियों के प्रश्नों का तत्काल उत्तर देने में समर्थ हों।
19.	नानाविधदेश भाषज्ञ	-	अनेक देशों की भाषा के ज्ञाता हो।
20.	आचारसम्पन्न	-	ज्ञान आदि पांच आचारों में सुस्थित हों।
21.	सूत्रविधिज्ञ	-	सूत्र-विधि के ज्ञाता हो।
22.	अर्थविधिज्ञ	-	अर्थ करने की विधि में योग्य हों।
23.	तदुभयविधिज्ञ	-	सूत्र एवं अर्थ दोनों में कुशल हों।
24.	आहरण निपुण	-	दृष्टान्त-उदाहरण आदि कहने में सुज्ञ हों।
25.	हेतु निपुण	-	कारक आदि हेतुओं में योग्य हों।
26.	उपनयनिपुण	-	किसी पदार्थ विशेष का उपसंहार करने में दक्ष हो।
27.	नयनिपुण	-	वस्तु के अल्पांश का शुद्ध रूप से कथन करने वाले नैगम आदि नयों के अर्थ घटन में सक्षम हों।
28.	ग्राहणाकुशल	-	सूत्रार्थ को ग्रहण करने में कुशल हों।
29.	स्वसमयवित	-	स्व-सिद्धान्त को जानने वाले हों।
30.	परसमयवित	-	अन्य दर्शन के सिद्धान्तों के सम्यक ज्ञाता हो।
31.	गम्भीर	-	स्वभाव से गम्भीर हों।
32.	दीप्तिमान	-	ओजस्वी व्यक्तित्ववान हो।
33.	शिव	-	कल्याणकारक हो।
34.	सोम	-	सौम्य दृष्टि वाले हों।
35.	गुणशतकलित	-	मूलगुण, उत्तरगुण आदि अनेक गुणों से युक्त हों।
36.	प्रवचनयुक्त	-	आगमज्ञ हो।

आचार्यपद विधि की ऐतिहासिक अवधारणा

सत्पुरुषों द्वारा जो व्यवहार किया जाता है, वह आचार कहलाता है अथवा आदर योग्य वस्तु को आचार कहते हैं[120] अथवा शास्त्रविहित आचरण आचार कहलाता है अथवा मोक्ष के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान आचार कहलाता है। आचार भी दो प्रकार का प्रज्ञप्त है –

1. द्रव्याचार और 2. भावाचार।[121]

द्रव्य आचार सम्यक-असम्यक दोनों रूप होता है। भाव आचार सम्यक रूप ही होता है। वह पाँच प्रकार का निर्दिष्ट है–

1. ज्ञान आचार 2. दर्शन आचार 3. चारित्र आचार 4. तप आचार 5. वीर्य आचार।[122]

आचार्य इन पाँच आचारों से सम्पन्न होते हैं। दशवैकालिक सूत्र में आचार सम्पन्न पुरुष के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि वह जिनवचन में रत, प्रलाप रहित, सूत्रार्थ से परिपूर्ण, मोक्षार्थी, आचार समाधि के द्वारा इन्द्रियों का दमन करने वाले और मोक्ष के निकट रहने वाले होते हैं। अत: आचार सम्पन्न ही यथार्थ रूप से आचार्य है।[123]

इस पदस्थापना के सम्बन्ध में प्रागैतिहासिक दृष्टिकोण से अनुसन्धान करने पर कहा जा सकता है कि ईसा पूर्व 500 वर्ष से ईसा के 700 सौ वर्ष बाद तक के उपलब्ध साहित्य में यह पद-विधि लगभग नहीं है। आगमिक व्याख्याओं में नव-निर्वाचित आचार्य की पदस्थापना का उल्लेख जरूर है, परन्तु वह अति संक्षिप्त में ही ज्ञात होता है। यद्यपि आचार्य विषयक सामान्य विवरण आगमिक, व्याख्यामूलक एवं परवर्ती ग्रन्थों में देखा जाता है।

जैसे कि मूलागमों से सम्बन्धित आचारचूला में भिक्षाचरी मुनि द्वारा आहार वितरण हेतु अनुमति प्राप्त करने के सन्दर्भ में 'आचार्य' नाम का निर्देश है। इसका हार्द यह है कि भिक्षा प्राप्त मुनि असाधारण आहार उपलब्ध होने पर आचार्यादि के सन्निकट आकर निवेदन करे, यदि आपकी स्वीकृति हो तो अमुक साधुओं को इच्छित आहार दूं। इस तरह आचार्य को श्रेष्ठतम गुरु के रूप में स्वीकार किया गया है।[124]

इसमें आचार्यादि के साथ विहार करने पर उनके प्रति किस प्रकार की विनय-विधि का पालन किया जाये? शय्या-संस्तारक की प्रतिलेखना के क्रम में

उन्हें सर्वप्रथम स्थान दिया जाये वगैरह बिन्दुओं को लेकर आचार्य का नामोल्लेख हुआ है।[125]

स्थानांगसूत्र में भिन्न-भिन्न विषयों के प्रसंग में 'आचार्य' का नाम निर्देश है। जैसे– देवलोक में उत्पन्न हुआ जीव शीघ्र ही तीन कारणों से मनुष्यलोक में आना चाहता है और आ भी सकता है। उनमें पहला कारण पूर्व जन्म उपकारी आचार्य, उपाध्याय आदि पदस्थ मुनियों को वन्दन-सत्कार आदि करना बतलाया है।[126]

इसी तरह देव द्वारा परितप्त होने के तीन कारणों में पहला कारण आचार्य की सन्निधि में श्रुत का पर्याप्त अध्ययन नहीं कर पाने का दुःख होना बतलाया है।[127] इसी भाँति गुरु-सम्बन्धी तीन प्रत्यनीक (प्रतिकूल व्यवहार करने वाले) में पहला नाम आचार्यप्रत्यनीक है।[128]

आचार्य के लिए गण में रहते हुए संग्रहणीय सात स्थान के हेतु निर्दिष्ट हैं।[129] उनके पाँच-सात अतिशयों का निरूपण है।[130] दसविध वैयावृत्य में आचार्य का नाम सर्वप्रथम गिना गया है। अनेक उपमाओं द्वारा आचार्य के चार-चार प्रकार बतलाए हैं।[131] इस प्रकार आचार्य महिमा, आशातना, स्वरूपादि की दृष्टि से उनका नामोल्लेख हुआ है। समवायांगसूत्र में मोहनीयकर्म बन्धन के कारणभूत तीस स्थानों में आचार्य की आशातना करने को चौबीसवाँ स्थान माना है।[132]

भगवतीसूत्र में कहा गया है कि जो आचार्य अपने कर्त्तव्य और दायित्व का समुचित वहन करते हैं वे उसी भव में या एक, दो या अधिकतम तीन भव में मुक्त हो जाते हैं।[133]

ज्ञाताधर्मकथा में आचार्य की सन्निधि का महत्त्व बताते हुए निरूपित किया है कि जो साधु-साध्वी आचार्य के निकट प्रव्रजित होकर इन्द्रियों का संयम नहीं रखते, वे इसी भव में चतुर्विध संघ द्वारा हीलना को प्राप्त होते हैं और परलोक में भी दुःखी होते हैं।[134]

इसी तरह के अनेक उद्धरण और भी दिए जा सकते हैं। सार रूप में यह कहा जा सकता है कि मूलागमों में आचार्य की प्रभावशीलता, श्रेष्ठता एवं उनकी आशातना के दुष्परिणाम आदि का ही चित्रण है। पदस्थापना विधि का कोई उल्लेख नजर नहीं आता है।

इससे परवर्ती उपांग- छेद- मूल आदि आगम सूत्रों का पर्यावलोकन किया जाए तो निश्चित रूप से कुछ विशिष्ट बिन्दु दृष्टिगत होते हैं। जैसे- दशवैकालिकसूत्र[135] में आचार्य की उपमाएं, आशातना के दुष्परिणाम आदि, व्यवहारसूत्र[136] में आचार्य की प्रवास एवं विहार सम्बन्धी सामाचारी, आचार्य पदस्थ की योग्यता आदि, किन्तु प्रस्तुत विधि के सम्बन्ध में कुछ भी जानने को नहीं मिलता है।

यदि आगमिक व्याख्यामूलक साहित्य का आलोडन करते हैं तो इस सम्बन्ध में अपेक्षाकृत विस्तृत जानकारी तो उपलब्ध हो जाती है, परन्तु आचार्य पदस्थापना-विधि का सम्यक स्वरूप नहींवत है। यद्यपि व्यवहारभाष्य में नव-निर्वाचित आचार्य की अभिषेक विधि दर्शायी गयी है, परन्तु वह अति संक्षेप में है। इसके अतिरिक्त आवश्यकनिर्युक्ति, व्यवहारभाष्य, बृहत्कल्पभाष्य प्रभृति ग्रन्थों में आचार्य की परिभाषाएँ, उसकी आवश्यक योग्यताएँ, उनके छत्तीस गुण आदि का ही समुचित विवेचन है।

इस वर्णन से इतना सुस्पष्ट है कि विक्रम की 7वीं शती तक के ग्रन्थों में आचार्य का स्वरूप विविध रूपों में उल्लेखित है। तदुपरान्त योग्य मुनि को आचार्यपद पर किस तरह प्रतिष्ठित किया जाये, इस विधि का सामान्यत: अभाव ही है। सम्भवत: उस काल तक यह प्रक्रिया गुरु-शिष्य की मौखिक परिपाटी के रूप में प्रचलित रही होगी, इसी कारण इसका अभाव देखा जाता है।

जब हम ऐतिहासिक स्तर पर मध्यकालीन ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं तो सर्वप्रथम यह विधि आचार्य हरिभद्र रचित 'पंचवस्तुक' में प्राप्त होती है।[137] इसमें यह विधि अनुयोगाचार्य के नाम से उल्लेखित है। सिद्धान्तत: आगम सूत्रों के अर्थ का व्याख्यान-प्रतिपादन आचार्य ही करते हैं इसलिए इन्हें 'अनुयोगाचार्य' भी कहा जाता है। इसके अनन्तर यह विधि पादलिप्ताचार्यकृत निर्वाणकलिका,[138] सामाचारीसंग्रह,[139] पूर्वधर आचार्य विहित सामाचारी प्रकरण,[140] तिलकाचार्यकृत सामाचारी,[141] श्रीचन्द्राचार्यकृत सुबोधासामाचारी,[142] जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा,[143] श्रीवर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर[144] आदि ग्रन्थों में गुरु परम्परागत आम्नाय के अनुसार उल्लेखित है, किन्तु मूल स्वरूप पंचवस्तुक के अनुसार ही है केवल कहीं-कहीं सामाचारी भिन्नता है।

जब हम उत्तरवर्ती साहित्य का अवलोकन करते हैं तब नवपदपूजा, गुरुगुणषट्त्रिंशत्त्रिंशिका आदि ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, किन्तु उनमें आचार्य के गुणों वगैरह का ही वर्णन है। इसके सिवाय विभिन्न परम्पराओं से सम्बद्ध संकलित कृतियों में भी प्रस्तुत विधि देखी जाती है, किन्तु वह पूर्व निर्दिष्ट ग्रन्थों के आधार से ही संकलित की गयी है।

समष्टि रूप में कहा जा सकता है कि आगम युग से लेकर उत्तरवर्ती साहित्य तक अनेकों ग्रन्थों में आचार्य का स्वरूप, उनके अतिशय आदि का निरूपण किया गया है, किन्तु पदस्थापना विधि का स्वरूप विक्रम की 8वीं शती से 15वीं शती पर्यन्त ग्रन्थों में ही मिलता है। इस मध्य कालवर्ती साहित्य में भी विधिमार्गप्रपा को सर्वाधिक मूल्य दिया गया है। यह बहुचर्चित एवं प्रामाणिक ग्रन्थ भी है। अत: इसी ग्रन्थ के अनुसार आचार्यपदानुज्ञा-विधि चर्चित करेंगे।

आचार्य पदस्थापना विधि

खरतरगच्छ मान्य विधिमार्गप्रपा में उल्लिखित आचार्यपदस्थापना की मूल विधि निम्नानुसार है।[145]

पूर्व दिन की विधि – आचारदिनकर के निर्देशानुसार पद स्थापना के शुभ दिन की पूर्व सन्ध्या में गुरु नूतन आचार्य के निमित्त बिना सिले हुए वेष को तलवार की ढाल के मध्य में रखकर गणिविद्या के द्वारा उसे अभिमन्त्रित करें। फिर रात्रि में उन्हें ऊँचे स्थान पर रख दें। श्रावकगण उस वेश के समीप गीत, वाद्य आदि महोत्सव द्वारा रात्रि जागरण करें।[146]

प्रारम्भिक विधि – लग्न दिवस के पहले दिन या उस दिन भावी आचार्य अपना केशलोच करें। उसके बाद ब्रह्ममुहूर्त में कालग्राही मुनि प्राभातिक काल ग्रहण करें।[147] फिर रात्रिक प्रतिक्रमण करें। प्रतिलेखन करें। उपाश्रय के चारों ओर सौ-सौ कदम की भूमि शुद्ध करें। फिर भावी आचार्य प्रक्षालन द्वारा अंगशुद्धि करें तथा गुरु उस शिष्य के दाहिने हाथ में स्वर्णकंकण एवं अंगूठी पहनाकर नवीन वस्त्र पहनाएं।

तदनन्तर मुहूर्त्त का समय निकट आने पर स्थापनाचार्य और पद दाता गुरु के योग्य दो आसन की प्रतिलेखना करें। फिर गुरु और शिष्य (भावी आचार्य) दोनों ही स्वाध्याय प्रस्थापना करें। उस दिन चैत्य में, पौषधशाला में या मनोहर उद्यान में समवसरण की स्थापना करवाएं। फिर समवसरण (नन्दी रचना) के समीप दो आसन बिछाएं और संघट्टा ग्रहण करें।

उसके बाद एक आसन पर स्थापनाचार्य की स्थापना करें और दूसरे आसन पर गुरु स्वयं बैठें। फिर पद दाता गुरु चन्दन और कपूर से पूजित अक्ष (स्थापनाचार्य) को सूरिमन्त्र से अभिमन्त्रित करें। उसके पश्चात गुरु आसन से उठकर पदग्राही शिष्य को अपनी बायीं ओर बिठाएं।

वासदान – तत्पश्चात पदग्राही शिष्य खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन कर कहें– **''इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं दव्व-गुण-पज्जवेहिं अणुओग अणुजाणावणत्थं वासे खिवेह''**

हे भगवन्! आपकी इच्छा हो तो मुझ पर द्रव्य, गुण, पर्यायों द्वारा अनुयोग के ज्ञापनार्थ (सूत्रार्थ का विस्तृत प्रतिपादन करने की अनुमति प्राप्त करने निमित्त) वासचूर्ण का निक्षेप करें। उसके बाद गुरु-शिष्य के मस्तक पर वासचूर्ण डालें और परमेष्ठी आदि मुद्राओं के द्वारा उसके शरीर की रक्षा करें।

देववन्दन – उसके पश्चात शिष्य एक खमासमण देकर बोलें– **''इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं दव्व- गुण- पज्जवेहिं चउव्विह अणुओग अणुजाणावणत्थं चेइआइं वंदावेह''** – हे भगवन्। आपकी इच्छा हो तो आप मुझे द्रव्य, गुण, पर्यायों द्वारा चतुर्विध अनुयोग के ज्ञापनार्थ चैत्य आदि का वन्दन करवाइए। तब गुरु-शिष्य को अपनी बायीं ओर बिठाकर, जिनमें उच्चारण एवं अक्षर क्रमश: बढ़ते हुए हों, ऐसी चार स्तुतियों के द्वारा संघ सहित देववन्दन करें। यहाँ पूर्ववत शान्तिनाथ, शान्तिदेवता आदि ग्यारह की आराधना निमित्त एक-एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग कर उनकी स्तुतियाँ बोलें। शासनदेवता के कायोत्सर्ग में चार लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें, फिर शासनदेवता की स्तुति बोलकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें। इस प्रकार कुल अठारह स्तुतियां कहें। फिर तीन बार नमस्कारमन्त्र कहकर शक्रस्तव, पंचपरमेष्ठिस्तव एवं जयवीयरायसूत्र बोलें।

नन्दी श्रवण – तदनन्तर पदग्राही शिष्य मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर द्वादशावर्त्तवन्दन पूर्वक कहें – **''इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं दव्व-गुण-पज्जवेहिं अणुओग अणुजाणावणत्थं सत्तसइय नंदिकड्ढावणत्थं काउस्सग्गं करावेह''** – हे भगवन्! आपकी इच्छा हो तो द्रव्य-गुण-पर्यायों के द्वारा अनुयोग के ज्ञापनार्थ एवं सात सौ श्लोक परिमाण नन्दीसूत्र सुनने (अनुकरण करने) के लिए कायोत्सर्ग करवाएं। उसके बाद गुरु और शिष्य दोनों ही

अन्नत्थसूत्र बोलकर (सागरवरगम्भीरा तक) लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें और प्रकट में पुनः लोगस्ससूत्र कहें।

उसके पश्चात शिष्य खमासमणसूत्र द्वारा वन्दन कर कहे – **''इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं सत्तसइयं नंदिं सुणावेह'**

हे भगवन्! आप अपनी इच्छा से मुझे सात सौ श्लोक परिमाण नन्दी पाठ सुनाएं।[148] तब आचार्य खड़े होकर एवं तीन बार नमस्कारमन्त्र का स्मरण करके, 'नन्दी' नाम के आगमसूत्र पर वासचूर्ण का निक्षेप करें। तदनन्तर गुरु स्वयं नन्दीपाठ का उच्चारण करें अथवा अन्य शिष्य ऊर्ध्वस्थित होकर एवं मुख के आगे मुखवस्त्रिका धारण कर उपयोगपूर्वक नन्दीपाठ सुनाएं। पदग्राही शिष्य भी खड़े हुए दोनों हाथ जोड़कर, मुख के आगे मुखवस्त्रिका धारण कर एवं एकाग्रचित्त होकर नन्दीपाठ सुनें।

वासाभिमन्त्रण – नन्दीपाठ पूर्ण होने के पश्चात आचार्य सूरिमन्त्र एवं मुद्राओं के द्वारा सुगन्धितचूर्ण एवं अक्षत को अभिमन्त्रित करें। उसके बाद गुरु भगवन्त मूलनायक प्रतिमा पर वासचूर्ण का निक्षेप करें, फिर वहीं खड़े होकर जाप करें। उसके बाद समवसरण (नन्दी रचना) के समीप आकर चौमुखी (चार) प्रतिमाओं पर वासचूर्ण का क्षेपण करें। तदनन्तर अभिमन्त्रित वास-अक्षत को साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ में वितरित करें।

अनुज्ञा – 1. तदनन्तर शिष्य खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन कर कहें –

''इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं दव्व-गुण-पज्जवेहिं अणुओगं अणुजाणेह'' हे भगवन्! आपकी इच्छा हो, तो मुझे द्रव्य-गुण-पर्यायों के द्वारा अनुयोग (सूत्रार्थ का विस्तृत प्रतिपादन करने) की अनुज्ञा दें।

गुरु कहे – **''अहं एयस्स दव्व-गुण-पज्जवेहिं खमासमणाणं हत्थेणं अणुओगं अणुजाणामि''** मैं इस मुनि के लिए गुरु परम्परा से प्राप्त द्रव्य-गुण-पर्यायों के द्वारा अनुयोग की आज्ञा देता हूँ।

2. फिर शिष्य दूसरा खमासमण देकर कहे –

''इच्छाकारेण तुब्भेहिं अम्हं दव्व-गुण-पज्जवेहिं अणुओगो अणुण्णाओ?'' हे भगवन्! क्या आपकी इच्छापूर्वक मुझे द्रव्य-गुण-पर्यायों द्वारा अनुयोग (सूत्रार्थ प्रतिपादन) की अनुज्ञा दी गयी है? इस प्रकार शिष्य के

द्वारा पूछे जाने पर गुरु कहें – **''खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं अत्थेणं तदुभयेणं अणुओगो अणुण्णाओ अणुण्णाओ अणुण्णाओ। सम्मं धारणीओ, चिरं पालणीओ, अन्नेसिं च पवेयणिओ''** गुरु परम्परा से प्राप्त सूत्र, अर्थ एवं सूत्रार्थ द्वारा अनुयोग की अनुज्ञा दी गयी है- इतना वाक्य तीन बार बोलें। साथ ही इस पद को सम्यक रूप से धारण करना, चिरकाल तक इसका पालन करना और अन्य मुनियों में भी इस पद का प्रवर्त्तन करना। इतना कहते हुए शिष्य के मस्तक पर वास का निक्षेप करें।

3. तत्पश्चात शिष्य तीसरी बार खमासमण देकर कहें – **''तुम्हाणं पवेइयं, संदिसह साहूणं पवेएमि''** मैंने अनुयोग की अनुज्ञा के सम्बन्ध में आपको प्रज्ञप्त किया, अब साधुओं (चतुर्विध संघ) को उस विषयक जानकारी देने की अनुमति दें। गुरु कहे – **'पवेयह'** तुम सकल संघ के समक्ष अनुयोग अनुज्ञा का प्रवेदन करो।

उसके बाद रजोहरण के द्वारा भूमि की प्रमार्जना करते हुए एवं प्रत्येक बार चार-चार नमस्कारमन्त्र का उच्चारण करते हुए और चारों दिशाओं में गुरुसहित समवसरण को प्रणाम करते हुए तीन प्रदक्षिणा दें। प्रदक्षिणा के समय तीनों बार उपस्थित संघ नवीनाचार्य के मस्तक ऊपर अक्षत उछालें।

4. तदनन्तर नूतन आचार्य चौथी बार खमासमण देकर कहें–

''तुम्हाणं पवेइयं, साहूणं पवेइयं, संदिसह काउस्सग्गं करेमि?'' मैंने अनुयोग अनुज्ञा के बारे में आपको प्रज्ञप्त किया, चतुर्विध संघ को प्रज्ञप्त किया, अब आपकी अनुमति पूर्वक कायोत्सर्ग करूँ? गुरु कहे – 'करेह'।[149]

5. फिर शिष्य पांचवाँ खमासमण देकर कहें–

''दव्व-गुण-पज्जवेहिं अणुओग अणुण्णानिमित्तं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थसूत्र'' बोलकर एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें।

आसनदान – तत्पश्चात गुरु सूरिमन्त्र से आसन को अभिमंत्रित करें। फिर नवीनाचार्य एक खमासमण देकर कहें – **''इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं निसिज्जं समप्पेह''** – हे भगवन् ! आपकी इच्छा हो, तो मुझे आसन प्रदान करें। तब गुरु-शिष्य के मस्तक पर वासचूर्ण डालकर तीन कम्बल परिमाण आसन अर्पित करें। उसके बाद नवीनाचार्य आसनसहित समवसरण और गुरु की प्रदक्षिणा दें।

तत्पश्चात गुरु के दाहिनी ओर बिछाए हुए आसन पर बैठ जाएं।

मन्त्र प्रदान – उसके बाद शुभ लग्न का समय उपस्थित होने पर गुरु भगवन्त नूतन आचार्य के चन्दन से पूजित दाहिने कर्ण में पूर्व परम्परागत सूरिमन्त्र को तीन बार सुनाएं।

यह सूरिमन्त्र भगवान वर्धमान स्वामी द्वारा गौतम स्वामी को इक्कीस सौ अक्षर परिमाण दिया गया था। गौतम स्वामी ने उस मन्त्र को बत्तीस श्लोक परिणाम में गुम्फित किया। कालदोष के कारण इस मन्त्र का ह्रास होते-होते पाँचवें आरे के अन्तिम आचार्य दुप्पसहसूरि के समय साढ़े आठ श्लोक परिमाण रह जाएगा। आज्ञाभंग की सम्भावना होने से इस मन्त्र को पुस्तक पर नहीं लिखा जाता है। वर्तमान में यह सूरिमन्त्र जितनी मात्रा में प्रवर्तित है उतना सम्पूर्ण मन्त्र लग्नवेला में सुनाया जाता है। इष्टलग्न का काल अल्प होने से उस समय सम्पूर्ण मन्त्र सुनाना सम्भव नहीं है इसलिए इष्टलग्न के पहले ही सूरिमन्त्र की पाँच पीठिकाओं में से चार पीठिका के मन्त्र सुना देने चाहिए। इष्टलग्न में चारों पीठिकाओं का स्वामी 'मन्त्रराज' के पाँच अथवा सात जैसी परम्परा हो उतने पद आदि सुनाने चाहिए, ऐसा गुरु का आदेश है। इस मन्त्र को उपचारत: कोटि अंश तप के द्वारा सिद्ध किया जाता है। इस मन्त्र की साधना विधि पृथक रूप से कहेंगे।

अक्षदान – सूरिमन्त्र सुनाने की विधि पूर्ण होने के पश्चात पदग्राही शिष्य एक खमासमण द्वारा वन्दन करके कहे – "**इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं अक्खं समप्पेह**" हे भगवन्! आपकी इच्छा हो, तो मुझे अक्ष समर्पित करें। उसके बाद गुरु कर्पूर मिश्रित गंध को बढ़ाते हुए क्रम से तीन बार मुट्ठी भर के अक्ष दें। शिष्य भी उसे उपयोगपूर्वक दोनों हाथों में ग्रहण करें।

यहाँ अक्ष का अर्थ सामान्यतया स्थापनाचार्य है और स्थापनाचार्य रखने का मुख्य अधिकार आचार्य को होता है इसलिए नूतन आचार्य को अक्ष दिया जाता है। कुछ सामाचारी ग्रन्थों में 'सुगंधिआओ' पाठ है। इससे सूचित होता है कि सुगन्धित चूर्ण वाले अक्षतों के साथ स्थापनाचार्य देने की विधि होगी। वर्तमान की प्रचलित परम्परा में तीन मुट्ठी वासचूर्णयुक्त अक्षत दिए जाते हैं। यदि अक्ष का अर्थ सुगन्धियुक्त वासचूर्ण किया जाए तो वह भी युक्ति युक्त है क्योंकि उस समय नूतन आचार्य को सूरिमन्त्र का पट्ट दिया जाता है। इससे

सूरिमन्त्र पट्ट की साधना का अधिकार प्राप्त होता है। गुरु परम्परागत वासचूर्ण पट्टपूजन में उपयोगी होने के कारण दिया जाता हो, तो भी वह अर्थ युक्ति संगत है।[150]

पादलिप्तसूरि के अभिमतानुसार नूतन आचार्य को योगपट्ट और पादुका भी दी जाती है।

नामकरण – तत्पश्चात नूतन आचार्य खमासमण सूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे – **"इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं नामट्ठवणं करेह"** हे भगवन्! आपकी इच्छा हो, तो मेरा नामकरण करें। तब गुरु पदग्राही शिष्य के मस्तक पर वासचूर्ण डालते हुए 'सूरि' शब्द पर्यन्त उसका नया नाम उद्घोषित करें।

गुरु-शिष्य का पारस्परिक वन्दन व्यवहार – उसके पश्चात गुरु अपने आसन से उठें और नूतन आचार्य को अपने आसन पर बिठाएं। यहाँ गुरु-शिष्य दोनों एक-दूसरे के आसन पर बैठें। फिर गुरु नूतन आचार्य को द्वादशावर्त्तवन्दन करें। यह वन्दन अब से हम दोनों समान गुण वाले हैं ऐसा भाव अभिव्यक्त करने के लिए किया जाता है। प्राचीन सामाचारी में कहा गया है कि "शिष्य का गुरु के आसन पर बैठना तथा गुरु द्वारा शिष्य को वन्दन करना।" ये दोनों क्रियाएँ गुरु-शिष्य के गुणों में समानता बताने के लिए की जाती हैं अतः वह दोनों के लिए दोष रूप नहीं है।[151]

फिर गुरु नूतन आचार्य से कहें – **'वक्खाणं करेह'** व्याख्यान दो। तब नूतन आचार्य अपने ज्ञान सामर्थ्य के अनुरूप अथवा पर्षदा के अनुरूप नन्दी आदि का व्याख्यान दें। व्याख्यान के पश्चात चतुर्विध संघ नूतन आचार्य को वन्दन करें। तदनन्तर नूतन आचार्य गुरु के आसन से उठकर स्वयं के आसन पर बैठें।

नूतन आचार्य को हित शिक्षा – तत्पश्चात गुरु अपने आसन पर बैठकर नूतन आचार्य को हित शिक्षा दें। शिष्य घुटने के बल बैठकर शिक्षा वचन सुनें। सबसे पहले पदग्राही शिष्य का उत्साह बढ़े, इस प्रकार प्रेरणा रूप वचन कहते हैं–

हे सत्पुरुष! संसाररूपी सागर को तारने वाली जो सद्धर्मरूपी नौका है उस नाव को तुम चलाने में निर्यामक (नेता) हो। मोक्ष पथिकों के लिए सार्थवाह हो और जो अज्ञानरूपी अन्धकार से अन्धे हैं उनके लिए चक्षु के समान हो।

यह सर्वोत्तम पद गौतम स्वामी सदृश मुनियों के द्वारा धारण किया हुआ, अक्षय सुख (मोक्ष) का कारक और सर्वोत्तम फल का उत्पादक है। इसलिए हे धीर! तुम्हारे द्वारा भी इस पद को निश्छल बुद्धि पूर्वक धारण किया जाना चाहिए।

इस पद से श्रेष्ठतर अन्य कोई परमपद नहीं है। कालदोष का प्रभाव होने पर भी अतीत, अनागत एवं वर्तमान के सभी तीर्थङ्करों द्वारा इस पद का प्रकाशन किया गया है, करते हैं और किया जायेगा। इससे इस पद की गरिमा तुम्हें समझ आ सकती है।

तीर्थङ्करों द्वारा कथित आगमरूपी वाणी का व्याख्यान ही महान गुणों को उत्पन्न करने वाला, स्व और पर का उपकार करने वाला और तीर्थङ्कर नामकर्म का उपार्जन करने वाला है, अतः तुम इसमें अगणित पुरुषार्थ करना।

हे धीर! तुम सदाकाल अप्रमत्त होकर विचरण करना क्योंकि गुरु के उद्यम परायण होने पर शिष्य भी सम्यक प्रकार से उद्यम करते हैं।

जिस प्रकार श्रेष्ठ नदी उद्‌भव स्थान में संकीर्ण होने पर भी विस्तृत रूप से बहती हुई समुद्र में जा मिलती है उसी प्रकार तुम भी शील आदि गुणों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हो।

जो शिथिलाचार पूर्वक विहार करता है, सुखशीलता में आसक्त है, मूढ़ है, वह संयम सार से रहित केवल वेषधारी है। तुम आचार-व्यवहार में दृढ़ रहना।

हे वीर पुरुष! तुम स्वपक्ष-परपक्ष में विरोध हो, उस प्रकार के कृत्य कभी मत करना तथा असमाधि कारक विवादास्पद प्रसंगों का विष-अग्नि के समान सदैव वर्जन करना।

सिद्धान्त के सारभूत तत्त्व ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीनों गुणों में जो अपने गण समुदाय को स्थिर रहने की प्रेरणा देता है वह गणधर है। जिस प्रकार मध्य भाग से पकड़ी हुई स्वर्ण तराजू भारी और हल्की वस्तुओं को समान रूप से धारण करती है, जिस प्रकार पुत्र युगल की माता भी समान ही होती है, जिस प्रकार अपने दोनों नेत्रों को बिना किसी भेद-भाव के वहन कर रहे हो उसी प्रकार विचित्र स्वभाव वाले शिष्य समुदाय में भी सभी के प्रति समान दृष्टि रखने वाले होना।

जो मोक्ष रूपी फल के आकांक्षी हैं उन्हें उस पद के योग्य बनाना तथा मुनि रूपी पत्तों के संयोग से छायादार वटवृक्ष की भाँति होना।

इस गच्छ के श्रेष्ठ मुनिजन तुम्हारे द्वारा कभी भी अपमानित नहीं होने चाहिए क्योंकि ये मुनिगण ही तुम्हारे द्वारा उठाए गये भार को वहन करने में सबसे अधिक सहायक होंगे।

जिस प्रकार विन्ध्यगिरि पर्वत समीपवर्ती एवं दूरवर्ती वन में वास करने वाले हस्तिसमूह के आधार भाव को अभेद रूप से वहन करता है उसी प्रकार तुम भी स्वजन हो या अन्यजन सभी मुनियों के लिए समान रूप से आधारभूत होना।

तुम्हारे निश्रावर्ती साधुगण तुमसे किसी तरह का विपरीत वर्तन रखते हों, तब भी तुम उनके प्रति प्रिय व्यवहार ही रखना, किञ्चिदमात्र भी अप्रिय व्यवहार नहीं करना। गच्छ-सम्बन्धी कार्यों का निष्पक्ष होकर निर्वाह करना। इससे तुम्हारी कीर्ति इस लोक में आभूषण रूप हो जाएगी।

कदाच अविनीत शिष्य पर अनुशासन रखते हुए वह तुम पर क्रोधित भी हो जाये, फिर भी तुम परिणाम शुद्धि को मत छोड़ना, क्योंकि सर्वत्र परिणामशुद्धि का ही रहस्य है।

हे सुन्दर! जिस प्रकार विशाल परिवार के साथ रहते हुए परस्पर वाद-विवाद होना सम्भव है, किन्तु उत्तम मालिक उस स्थिति में भी समान रूप से अनुवर्तन करते हुए सभी के दिलों को जीत लेता है, तुम भी उत्तम मालिक की तरह सभी मुनियों के हृदयस्थ बनना।

आचार्य इहलौकिक और पारलौकिक दो तरह के होते हैं। जो इहलौकिक सुख के लिए संघ संचालन करते हैं वे सार रहित हैं। तुम भवान्तर सुख प्राप्ति में निमित्त पारलौकिक आचार्य बनना।

जो दुष्ट अश्व पर निग्रह करता है वह सारथी कहलाता है। तुम भी दुष्ट शिष्यों पर भद्र वचन के द्वारा निग्रह कर सच्चे सारथी बनना। जो अद्‌भुत प्रभाव छोड़े वह कुशल नहीं होता, परन्तु गणधर पद पर रहते हुए सभी प्रकार के उपदेश प्रतिपादन में सक्षम हो वही कुशल कहा गया है।

जिन वचनों के द्वारा जिनशासन की उन्नति और मैत्री भाव का विस्तार हो, तदनुसार ही उपदेश कार्य करना तथा तुम स्वयं भी यथोचित कर्त्तव्य का पालन करना।

हे अप्रमत्त! साध्वियों के संसर्ग को अग्नि-विष की भाँति जानकर वर्जित करना। जो मुनि आर्यिकाओं का संग करता है वह शीघ्रमेव निन्दनीय स्थान को प्राप्त हो जाता है। यद्यपि इन आर्यिकाओं में भी सुविहित मार्ग का प्रवर्त्तन करना, क्योंकि ये भी तुम्हारी अन्तेवासिनी हैं।

मुनि संघ में सारणा- वारणा- चोयणा आदि की शिक्षा निरन्तर देते रहना। शिष्यों द्वारा विपरीत बर्ताव किये जाने पर भी क्रोध मत करना। जो तुम्हारे से अल्पवयस्क हैं, समानवयस्क हैं या अल्पश्रुती हैं उनका कभी भी तिरस्कार मत करना। इन प्रभूत गुणों से ही तुम आचार्य को दृढ़ और पूज्य बना सकते हो।

मोक्षार्थियों के लिए तुम ही श्रेष्ठ उपाय हो क्योंकि गुरु ही श्रेष्ठ आधार होते हैं। अब, तुम्हें अधिक क्या कहा जाये? सर्वप्रकार से योग्य बनाकर महान पद पर स्थापित कर चुका हूँ। अन्ततः उपशान्त और विनीत बनना, यही मेरे उपदेश का सार है।

शेष विधि– हितशिक्षा के बाद मुख्य आचार्य एवं नूतन आचार्य दोनों ही अनुयोग के विसर्जनार्थ अन्नत्थसूत्र बोलकर एक लोगस्स का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें। फिर दोनों ही आचार्य काल का प्रतिक्रमण करें। इसमें काल के प्रतिक्रमणार्थ पूर्ववत ही लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें।

उसके बाद सौभाग्यवती नारियां आरती आदि उतारें। तदनु नूतन आचार्य के ऊपर छत्र धारण करवाते हुए संघ सहित महोत्सव पूर्वक उपाश्रय में जाएं। वहाँ नूतन आचार्य गुरुमुख से आयंबिल अथवा उपवास का प्रत्याख्यान करें।

इस समय साधुवर्ग नूतन आचार्य को उपकरण और पुस्तक आदि भेंट करते हैं। यथाशक्ति संघ प्रभावना की जाती है। संघपूजा और प्रभु पूजा आदि के कार्य श्रावक अधिकार सम्बन्धी हैं। इसीलिए श्रावक वर्ग को अष्टाह्निका आदि महोत्सव करना चाहिए।

पद स्थापना के दिन नवीन आचार्य को भोजन के लिए चौकी रखने, तीन कम्बल परिमाण का आसन बिछाने और पीठ के पीछे फलक रखने की अनुमति भी दी जाती है।

तपागच्छ आम्नायवर्ती सभी समुदायों में आचार्य पदस्थापना की विधि सामान्य अन्तर के साथ पूर्ववत ही प्रचलित है।[152]

अचलगच्छ पायछंदगच्छ आदि परम्पराओं में इस विषयक मौलिक या संकलित एक भी कृति देखने में नहीं आयी है परन्तु इनमें दीक्षा, उपस्थापना आदि अधिकांश विधि-विधान लगभग तपागच्छ आम्नाय के समान किये जाते हैं। इस अपेक्षा से कहा जा सकता है कि आचार्य पदस्थापना-विधि भी पूर्ववत ही सम्पन्न की जाती होगी।

डॉ. सागरमलजी जैन के अभिमतानुसार **स्थानकवासी-तेरापंथी** इन परम्पराओं में मूर्तिपूजक परम्परा की भांति नन्दीरचना, देववन्दन, प्रदक्षिणा, नन्दी श्रवण, आसन समर्पण, अक्ष दान वगैरह कुछ भी विधि-प्रक्रियाएँ नहीं होती हैं। सामान्यतया शुभ लग्न में मुख्य गुरु या पूर्वाचार्य द्वारा सर्व संघ के समक्ष उस शिष्य के लिए यह घोषणा की जाती है कि 'अमुक मुनि को अमुक आचार्य के पट्ट पर स्थापित करते हैं' तथा चतुर्विध संघ की अनुमति से उन्हें चद्दर ओढ़ायी जाती है। इसी के साथ वन्दन आदि का व्यवहार किया जाता है।

तुलनात्मक विवेचन

पूर्व निर्दिष्ट आचार्य पदस्थापना-विधि का तुलनात्मक विवेचन आवश्यक है। यदि उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर इस विधि की मीमांसा की जाए तो पारस्परिक भेद-अभेद स्पष्ट हो जाता है।

मुहूर्त्त संबंधी – सामाचारीसंग्रह, सामाचारीप्रकरण, विधिमार्गप्रपा आदि में इस पद-विधि को शुभ मुहूर्त्त आदि में सम्पादित करने का निर्देश है, किन्तु वे शुभ दिन आदि कौनसे हैं? इनका सूचन नहीं किया गया है जबकि आचारदिनकर में शुभ योग आदि की अपेक्षित चर्चा है।[153]

वासाभिमन्त्रण संबंधी – सामाचारीसंग्रह में वासचूर्ण और आसन को वर्धमान विद्या से और स्थापनाचार्य को सूरिमन्त्र से अभिमन्त्रित करने का निर्देश है।[154] तिलकाचार्य सामाचारी में अक्ष के रूप में देने योग्य वासचूर्ण को सात बार सूरिमन्त्र से अधिवासित करने का उल्लेख है।[155] आचारदिनकर में आचार्य पदस्थापना के दिन पहनाने योग्य नवीन वस्त्रों को गणिविद्या के द्वारा तथा वासचूर्ण को सूरिमन्त्र एवं निम्न सोलह मुद्राओं से संस्कारित करने का निर्देश किया गया है–[156]

1. परमेष्ठीमुद्रा 2. कामधेनुमुद्रा 3. गरुड़मुद्रा 4. आरात्रिकमुद्रा 5. सौभाग्यमुद्रा 6. गणधरमुद्रा 7. अंजलिमुद्रा 8. मुक्तासुक्तिमुद्रा 9. यथाजातमुद्रा

10. वज्रमुद्रा 11. मुद्गरमुद्रा 12. योनिमुद्रा 13. स्नानमुद्रा 14. छत्रमुद्रा 15. समाधानमुद्रा 16. कल्पवृक्षमुद्रा।

सामाचारीप्रकरण[157], विधिमार्गप्रपा,[158] सुबोधासामाचारी[159] आदि में वासचूर्ण, आसन आदि को मन्त्रित करने का निर्देशन तो है, किन्तु उन्हें किन मुद्राओं आदि से अभिमन्त्रित करना चाहिए, इसका नामोल्लेख नहीं है।

मन्त्रदान संबंधी – सामाचारीसंग्रह, सामाचारीप्रकरण, सुबोधासामाचारी, विधिमार्गप्रपा आदि में इष्ट लग्न के समय चन्दन से अर्चित शिष्य के दाहिने कर्ण में गुरु परम्परागत मन्त्र पदों को सुनाने का उल्लेख है, किन्तु आचारदिनकर के अनुसार गन्ध, अक्षत एवं पुष्पों से अर्चित दाएं कान में ऋद्धि-सिद्धिदायक, शाश्वत, चिन्तामणि एवं कल्पवृक्ष से भी अधिक प्रभावशाली सूरिमन्त्र सुनाना चाहिए।[160] यहाँ दाहिने कर्ण को पुष्पादि से अर्चित करने का जो उल्लेख है वह हिन्दू परम्परागत प्रतीत होता है। विधिमार्गप्रपा में यह बात विशेष रूप से कही गयी है कि भगवान महावीरस्वामी के समय यह सूरिमन्त्र इक्कीस सौ अक्षर परिमाण वाला था, गौतमस्वामी ने इसे बत्तीस श्लोक में गुम्फित किया तथा अन्तिम आचार्य दुप्पसहसूरि तक साढ़े आठ श्लोक परिमाण रह जायेगा। इसमें परम्परागत आम्नायानुसार सूरिमन्त्र की साधना विधिं भी दिखलायी गयी है।[161]

अक्षदान संबंधी– सामाचारीसंग्रह, सामाचारीप्रकरण आदि में सूरिमन्त्र सुनाने के पश्चात नूतन आचार्य को बढ़ती हुई तीन अक्ष मुट्ठियाँ देने का निर्देश है जबकि आचारदिनकर में गन्ध एवं अक्षत से युक्त अक्षपोट्टलिका देने का सूचन किया गया है।

देववन्दन संबंधी – सामाचारीसंग्रह आदि में देववन्दन से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न मत हैं। जैसे– सामाचारीसंग्रह[162] में उल्लिखित बृहद् देववन्दन-विधि करने का निर्देश है। सामाचारीप्रकरण[163] में नौ स्तुतियों द्वारा, तिलकाचार्य-सामाचारी[164] में संक्षिप्त देववन्दन, सुबोधासामाचारी[165] में चार कायोत्सर्ग द्वारा, विधिमार्गप्रपा[166] में सोलह स्तुतियों द्वारा एवं आचारदिनकर[167] में आठ स्तुतियों द्वारा देववन्दन करने का प्रतिपादन है।

पदानुज्ञा संबंधी– निर्वाणकलिका में आचार्याभिषेक-विधि इस अध्याय में वर्णित विधि से बहुत कुछ अलग हटकर कही गयी है।[168] इसमें पदानुज्ञा के

निमित्त मुख्य रूप से ईशान कोण में मण्डल बनाने, प्रमाणोपेत वेदिका की रचना करने एवं मण्डल आलेखन करने का निर्देश दिया गया है। साथ ही अभिजित नक्षत्र एवं उसके अनुकूल चन्द्र में यह विधि करें, ऐसा कहा गया है। इसी के साथ दिक्पालों को बलि दें। आचार्य पदग्राही शिष्य दश या बारह दिन खीर का भोजन करते हुए नमस्कार मन्त्र का निरन्तर जाप करें। लग्न दिन की पूर्व सन्ध्या में एक कालग्रहण लें। दूसरे दिन शुद्ध काल का प्रवेदन करें। स्वाध्याय की प्रस्थापना करें। फिर मण्डल आदि की रचना करें। तदनन्तर पवित्र जलों के द्वारा शिष्य का अभिषेक करें। इनमें क्रमश: दीमक द्वारा बाहर निकाली गयी मिट्टी, पर्वत की मिट्टी, हाथी के दाँतों से उद्धृत की गयी मिट्टी, दो नदियों के संगम की मिट्टी आदि से अभिषेक करें। फिर पंचामृत से अभिसिंचित करें। फिर क्रमश: वासचूर्ण, चन्दन, कषायचूर्ण और सर्वगन्धों से अभिषेक करें। फिर आचार्य द्वारा अभिमन्त्रित जल से स्वयं के शरीर शुद्धि की जाये, ऐसा वर्णन किया गया है।

उसके बाद अनुयोग एवं गणानुज्ञा के निमित्त चैत्यवन्दन करें। श्रुतदेवता आदि के कायोत्सर्ग करें। नन्दिसूत्र सुनें। आचार्य जिनप्रतिमा के चरणों में वासचूर्ण का क्षेपण करें। फिर नवीन आचार्य के मस्तक पर गोरस, अक्षत, पुष्प चूर्ण से युक्त वास का क्षेपण करते हुए कहें – "मैं इस मुनि को अनुयोग लक्षण के योग्य जानता हूँ, अत: पूर्व पुरुषों के हाथ से (अनुमति से) द्रव्य-गुण पर्यायों द्वारा व्याख्या करने की अनुज्ञा देता हूँ।" फिर शिष्य वन्दन पूर्वक प्रवेदन करें और प्रदक्षिणा के समय वासचूर्ण को स्वीकार करते हुए अनुयोग की अनुज्ञा प्राप्त करें। फिर अनुयोग के स्थिरीकरण निमित्त आचार्य-शिष्य दोनों कायोत्सर्ग करें। मुख्य आचार्य लग्नवेला में कुम्भक योग (श्वास को रोकने) पूर्वक शास्त्रों में लिखा गया परम्परागत आचार्यमन्त्र सुनाएं। फिर अक्ष की तीन मुट्ठियां दें।

तदनन्तर छत्र, चामर, हाथी, घोड़ा, शिबिका आदि राजा योग्यचिह्न, योगपट्टक, खटिका (खड़िया), पुस्तक, अक्षसूत्र और पादुका दें। अपनी शाखा के अनुरूप नामकरण करें। फिर सहवर्ती मुनियों के साथ नूतन आचार्य को द्वादशावर्त्त वन्दन करके गण समर्पित करते हुए उन्हें कुछ अधिकार दें जैसे- आज से तुम्हें दीक्षा-प्रतिष्ठा आदि करने-करवाने की अनुज्ञा है। फिर नूतन आचार्य यथाशक्ति नन्दी आदि का व्याख्यान करें। फिर मुख्य आचार्य नवीन

आचार्य को हित शिक्षा दें, इन सभी का उल्लेख किया गया है।

यदि इस विधि का गवेषणात्मक दृष्टि से मनन किया जाए तो ज्ञात होता है कि भावी आचार्य का विभिन्न प्रकार की औषधियों, गन्धचूर्णों एवं पवित्र मिट्टियों से अभिषेक करना, अक्षतों द्वारा उनकी परीक्षा करना, छत्र-चामर आदि वस्तुएँ भेंट रूप देना आदि के उल्लेख इसी ग्रन्थ में प्राप्त होते हैं। सामाचारी आदि ग्रन्थों में मौखिक परम्परा से आगत मन्त्र को ही सुनाने का निर्देश है जबकि इसमें पुस्तक संकलित मन्त्र देने का भी वर्णन है।

इसमें पदानुज्ञा के निमित्त चैत्यवन्दन, कायोत्सर्ग, वन्दन, वासदान आदि का उल्लेख तो है, किन्तु उसका स्पष्ट स्वरूप मालूम नहीं होता है। जैसे चैत्यवन्दन कितनी स्तुतियाँ पूर्वक किया जाए, किन देवी-देवताओं की आराधना निमित्त कितने कायोत्सर्ग करें, लघु नन्दी या बृहत नन्दी में से कौनसा नन्दीपाठ सुनाएं आदि का स्पष्टीकरण नहीं है।

अत: कहना होगा कि आचार्य पादलिप्तसूरि ने आचार्यपदानुज्ञा-विधि तत्कालीन सामाचारी के अनुसार कही है और इसे 'आचार्याभिषेक विधि' ऐसा अन्वर्थक नाम दिया है।

पदप्रदाता संबंधी– आचार्य पददान की समग्र विधि कौन सम्पन्न करता है? इस विषय में सामाचारी संग्रह में गुरु अथवा वाचनाचार्य का नाम निर्देश किया गया है। तिलकाचार्य में वाचनाचार्य का उल्लेख है तथा शेष ग्रन्थों में 'गुरु' शब्द का नामोल्लेख हुआ है।

प्रत्याख्यान संबंधी – पदस्थापना के दिन नूतन आचार्य कौनसे तप का प्रत्याख्यान करता है? इस सम्बन्ध में मतान्तर हैं। सामाचारीप्रकरण के अनुसार गुरु और शिष्य दोनों ही आयंबिल आदि का प्रत्याख्यान करते हैं। तिलकाचार्य सामाचारी के अनुसार नूतन आचार्य आयंबिल करते हैं। सुबोधासामाचारी के अभिप्राय से भी आयंबिल आदि का तप करते हैं। विधिमार्गप्रपा के निर्देशानुसार आयंबिल अथवा उपवास करते हैं। प्राय: इन ग्रन्थों में 'निरुद्ध' शब्द का उल्लेख है इससे आयंबिल आदि तप का परिज्ञान तो हो जाता है किन्तु किसी एक तप विशेष का निश्चय नहीं हो पाता।

दिगम्बर – दिगम्बर परम्परा में प्रचलित आचार्य पदस्थापना विधि इस प्रकार है[169]–

गणधरवलयपूजा – सर्वप्रथम मुख्य आचार्य शुभमुहूर्त्त में शान्तिक कर्म और यथाशक्ति गणधर वलय की पूजा करें। उसके पश्चात उपाध्याय पद के समान चन्दन आदि के छींटे देकर विधिपूर्वक स्थापित पाट पर पदग्राही मुनि को बिठाएं।

पाद सिंचन – फिर 'आचार्यपद प्रतिष्ठापन क्रियायां' इत्यादि पाठ का उच्चारण कर सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति पढ़ें। उसके बाद **"ॐ हूं परम सुरभिद्रव्य सन्दर्भ परिमलगर्भ तीर्थाम्बुसम्पूर्णसुवर्णकलश पंचकतोयेन परिषेचयामीति स्वाहा।"**

यह मन्त्र पढ़कर पंचामृत कलश से भावी आचार्य के पैरों को अभिसिंचित करें।

गुणारोपण – तदनन्तर पण्डिताचार्य (गृहस्थ विधिज्ञ) 'निर्वेद सौष्ठ' इत्यादि महर्षि स्तवन पढ़ते हुए आचार्य योग्य शिष्य के दोनों पाँवों का सम्यक प्रकार से स्पर्श करके गुणों का आरोपण करें। उसके पश्चात निम्न मन्त्र बोलते हुए आह्वान, स्थापन एवं सन्निधान करें–

"ओं हूं णमो आइरियाणं आचार्य परमेष्ठिन अत्र एहि एहि संवौषट्।"

उसके पश्चात **"ओं हूं णमो आइरियाणं धर्माचार्याधिपतये नमः"** इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए उस पदग्राही शिष्य के दोनों पैरों पर कपूरयुक्त चन्दन का तिलक करें।

उसके बाद शान्तिभक्ति और समाधिभक्ति करके गुरुभक्ति के द्वारा गुरु को प्रणाम कर बैठ जाएं। नूतन आचार्य उपासकों को आशीर्वाद प्रदान करें।

आचार्यपदस्थापन का मन्त्र यह है –

ॐ ह्रां ह्रीं श्रीं अर्हम् हं सः आचार्याय नमः

अथवा

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हम् हं सः आचार्याय नमः

इसी तरह आलापक पाठ, विधिक्रम, आसनदान आदि के सम्बन्ध में पारस्परिक भिन्नताएँ हैं तो प्राभातिक कालग्रहण, स्वाध्याय प्रस्थापना, दो आसन प्रतिलेखन, नामकरण, हितशिक्षण आदि काफी कुछ विधियाँ परस्पर में समरूप भी हैं।

जैन, बौद्ध एवं वैदिक परम्पराओं के सन्दर्भ में तुलना की जाए तो पूर्व वर्णन के आधार पर इतना सहजतया स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म के श्वेताम्बर

मूर्तिपूजक आम्नाय में आचार्य पदानुज्ञा-विधि लगभग समान है। अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय में यह विधि अति संक्षिप्त होती है। दिगम्बर-परम्परा में मान्य इस विधि का स्वरूप श्वेताम्बर-परम्परा से लगभग भिन्न है। वहाँ नन्दीक्रिया, कालग्रहण, स्वाध्याय प्रस्थापना, गुरु द्वारा नूतन आचार्य को वन्दन, पूर्वाचार्य द्वारा नूतन आचार्य को उपदेश आदि अनेक क्रियाओं का उल्लेख नहीं है।

वैदिक-परम्परा में इस तरह की विधि का तो अभाव है किन्तु आचार्य शब्द की व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं। जैसे कि हिन्दूधर्मकोश में कहा गया है– जो शास्त्रों के अर्थों का चयन करता है और उनका आचार के रूप में क्रियान्वयन करता है तथा स्वयं भी तदनुरूप आचरण करता है वह आचार्य है। इससे इनके मत में आचार्यपद का स्थान पूर्वकाल से मान्य रहा है, यह सिद्ध हो जाता है।

बौद्ध-साहित्य में शिक्षक या गुरु को आचार्य माना गया है तथा उनके मतानुसार दस वर्ष या इससे अधिक वर्ष तक भिक्षु पद पर रह चुका हो, वह आचार्य बन सकता है। विनयपिटक आदि में आचार्य (गुरु) के लक्षण भी निरूपित हैं, किन्तु शिष्य को किस विधिपूर्वक आचार्य के रूप में नियुक्त किया जाता है, इस विधि का अभाव है।[170]

निष्कर्ष रूप में कहें तो आचार्य पद का गौरव सर्वाधिक रूप से जैन परम्परा में विद्यमान है। अतः इस पदस्थापन विधि का सम्यक स्वरूप इसी परम्परा में परिलक्षित होता है जबकि अन्य परम्परा में इसका सामान्य रूप ही उपदर्शित है।

उपसंहार

मानव विकास के दो मार्ग हैं – लौकिक एवं लोकोत्तर। ये दोनों मार्ग आचार से प्रतिबद्ध होकर ही व्यक्ति को चरम लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक बनते हैं। लौकिक जगत का आचार तो सहज बुद्धिगम्य है।

आचार्य पद का मुख्य प्रयोजन किसी सुव्यवस्थित व्यक्ति के हाथों में जिनशासन की बागडोर सौंपना है। जैन-विचारणा में आचार्य को राजा के उपमान से अलंकृत किया गया है। जिस प्रकार राज्य संचालन का भार राजा पर होता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण संघ-व्यवस्था का भार आचार्य पर होता है। आचार्य अपने शिष्यों को सारणा, वारणा, चोयणा, पडिचोयणा आदि के द्वारा हमेशा

शिक्षित करते हैं। वे सदैव संघ के आचार-मार्ग और विचार-मार्ग की रक्षा में प्रयत्नशील रहते हैं। इस प्रकार गच्छ की रक्षा करते हुए संसार के जीवों का मार्गदर्शन करते रहते हैं। वे हर परिस्थिति को धैर्य पूर्वक सहते हैं और अपने कर्त्तव्यपालन में सतत जागरूक रहते हैं, इसीलिए आचार्य को भगवान भी कहा जाता है और प्रभु भी कहा जाता है।

आचार्य इस संसार में भगवान के नाम से प्रसिद्ध हैं क्योंकि तीर्थङ्कर परमात्मा के बाद शासन की रक्षा वे ही करते हैं। नियमतः अरिहन्त परमात्मा शासन की स्थापना करते हैं, परन्तु उस शासन को आचार्य सम्हालते हैं। जैसे भगवान महावीर स्वामी मोक्ष पधार गये, उनके पश्चात सुधर्मा स्वामी ने शासन को सम्हाला। वीर प्रभु के शासन में मुख्य ग्यारह गणधर थे, उनमें आचार्य सुधर्मा उस समय छद्मस्थ थे तथा सभी शिष्यों में बड़े थे अतः उन्होंने शासन की बागडोर को थामा। आज उन्हीं आचार्य की पाट-परम्परा प्रवर्तित है।

इस प्रकार आचार्य शासन नियन्त्रक, संघ उन्नायक एवं शिष्य प्रगतिकारक होते हैं तथा चतुर्विध संघ का आध्यात्मिक विकास उनका परम लक्ष्य होता है। जैन आम्नाय में लगभग सभी धार्मिक क्रियाएँ आचार्य भगवान के समक्ष की जाती हैं। यदि आचार्य का साक्षात सान्निध्य प्राप्त न हो तो उनकी स्थापना की जाती है जिसे स्थापनाचार्य कहते हैं। इस तरह आचार्य का महत्त्व अनेक दृष्टियों से सुसिद्ध है।

सन्दर्भ-सूची

1. *चर गतिभक्षणयोः आङ्-पूर्वः।*
   आचर्य्यते कार्य्यार्थिभिः सेव्यते इत्याचार्य्यः।
   अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 2, पृ. 329
2. *आचर्य्यते असावाचार्य्य सूत्रार्थावगमार्थं मुमुक्षुभिरासेव्यते इत्यर्थः।*
   वही, भा. 2, पृ. 329
3. *आ-मर्य्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्य्यन्ते-सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशकतया तदाभिरित्याचार्य्याः।*
   (क) भगवतीवृत्ति, पृ. 3
   (ख) अभिधानराजेन्द्रकोश, भा.2, पृ. 329

4. *आचारं ग्राह्यात्याचिनोत्यर्थान आचिनोति बुद्धमिति वा।*
जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 488

5. *सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो, गच्छस्स मेढि भूओय।*
गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ।।
भगवतीसूत्र, अभयदेववृत्ति, पत्रांक 3

6. *संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 141*

7. *बृहत्कल्पभाष्य, 708*

8. *व्यवहारभाष्य, 1932*

9. *पंचविहं आयारं, आयरमाणा तहा पभासंता।*
आयारं दंसंता, आयरिया तेण वुच्चंति।।
आवश्यकनिर्युक्ति, 994

10. *सुत्तत्थतदुभयादि गुणसम्पन्नो अप्पणो*
गुरुहिं गुरुपदे त्थाविंतो आयरिओ।
दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 219

11. *जो वा अन्नोऽवि, सुत्तत्थतदुभयगुणेहिं अ।*
उववेओ गुरुपएण, ठाविओ सोऽवि आयरिओ चेव।।
दशवैकालिक जिनदासचूर्णि, पृ. 318

12. *आचार्यं सूत्रार्थप्रदं तत्स्थानीयं वान्यं ज्येष्ठार्यम्।*
दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका, पृ. 252

13. *आचिनोति च शास्त्रार्थ माचारे स्थापयत्यपि ।*
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कथ्यते।।
जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भा. 2, पृ. 54

14. *आयारं पंचविहं चरदि, चरावेदि जो णिरदिचारं।*
उवदिसदि य आयारं, एसो आयारवं णाम।।
भगवतीआराधना, गा. 421

15. *पंचाचारसमग्गा, पंचिंदिय दंति दप्पणिद्दलणा।*
धीरा गुण गंभीरा, आयरिया एरिसा होंति।।
नियमसार, गा. 73

16. *आचरन्ति तस्माद् व्रतानित्याचार्याः।*
सर्वार्थसिद्धि, 9/24/866

17. धवला, 111,1/29-31/49, 1/1,1,1/48/8
18. पंचाध्यायी (उत्तरार्ध), गा. 645-646
19. व्यवहारभाष्य, 1481-1487.
20. व्यवहारभाष्यवृत्ति, 3/3.
21. (क) आवश्यकचूर्णि, पृ.2-3.
    (ख) अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 2, पृ. 333, 347-352
22. आदिपुराण, 1/126-133.
23. महानिशीथसूत्र, 5/15, पृ. 118-20.
24. जह दीवा दीवसतं, पइप्पए सो य दिप्पए दीवो।
    दीवसमा आयरिया, दिप्पंति परं च दीवेति।।

    अनुयोगद्वार, सू. 557

25. नवपद पूजा, ढाल तीसरी
26. चउदेसणकहकुसलो, चउभावणधम्मसारणाइरओ ।
    चउविहचउज्झाणविऊ, छत्तीसगुणो गुरू जयउ ।।

    पणविहसम्मचरणवय, ववहारायारसमिइसज्झाए।
    इगसंवेगे अ रओ, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

    इंदियविसयपमाया, सवनिद्दकुभावणा पणगछक्को।
    छज्जीवेसु सजयणो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

    छव्वयणदोसलेसा, वस्सय सद्दव्वत्तक्कभासाणं।
    परमत्थजाणणेणं, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

    सगभयरहिओ सगपिंड, पाणएसणसुहेही संजुत्तो।
    अट्ठमयट्ठाणरहिओ, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

    अट्ठविहनाणदंसण, चारित्ताचारवाइगुणकलिओ।
    चउविहबुद्धिसमेओ, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

    अट्ठविहकम्म अट्ठंग, जोगमहासिद्धिजोग दिट्ठिविउ।
    चउविहअनुओगनिउणो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

    नवतत्तण्णू नवबंभगुत्ती, गुत्तो नियाणनवरहिओ।
    नवकप्पकयविहारो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

    दसभेय अ संवर, संकिलेसउवघाय विरहिओनिच्चं।
    हासाइछक्करहिओ, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

दसविहसामायारी, दसचित्तसमाहिठाणलीणमणो।
सोलसकसायचाई, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

पडिसेवसोहिदोसे, दसदसविणयाइचउसमाहीओ।
चउभेयाउ मुणंतो, छत्तीस गुणो गुरू जयउ।।

दसविहवेआवच्चं, विणयं धम्मं च पडु पयासंतो।
वज्जियअकप्पछक्को, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

दसभेयाइ रूईए, दुवालसंगेसु बारउवंगेसु।
दुविहसिक्खाइ निउणो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

एगारसड्ढपडिमा, बारसवय तेरकिरियट्ठाणेय।
सम्मं उवऐसंतो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

बारसउवओगविऊ, दसविहपच्छित्तदाणनिउणमइ।
चउदसउवगरणधरो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

बारसभेयंमि तवे, भिक्खू पडिमासु भावणासुं च।
निच्चं च उज्जमंतो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

चउदसगुणठाणनिउणो, चउदसपडिरूवपमुहगुणकलिओ।
अट्ठसुहुमोवएसी, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

पंचदसजोगसन्ना, कहणेण तिगारवाण चाएण।
सल्लतिगवज्जणेणं, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

सोलससोलसउग्गम, उप्पायणदोसविरहिवाआहारे।
चउहाभिग्गहनिरओ, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

सोलसवयणविहिन्नू, सत्तरसविहसंजमंमि उज्जुत्तो।
तिविराहणाविरहिओ, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

नरदिक्खदोस अट्ठारसेव, अट्ठार पावठाणाइं।
दूरेण परिहरंतो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

सीलंगसहस्साणं, धारंतो तह य बंभभेआणं।
अट्ठारसगमुयारं, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

उस्सग्गदोसगुणवीस, वज्जओ सत्तरभेअमरणविहिं।
भवियजणे पयडंतो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

वीसमसमाहिट्ठाणे, दसेसणा पच गासदोसे य।
मिच्छत्तं च चयंतो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

इगवीससबलचाया, सिक्खासीलस्स पनरठाणाणि।
अंगीकरणेण सया, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।
बावीसपरीसहहियासणेण, चाएण चऊदसण्हं च।
अब्भिंतरगं झाणं, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।
पणवेइया विसुद्धं, छद्दोसविमुक्कं पंचवीसविहं।
पडिलेहणं कुणंतो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।
सत्तावीसविहहिं, अणगारगुणेहिं भूसियसरीरो।
नवकोडिसुद्धगाही, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।
अडवीसलद्धिपयडण, पउणो लोए तहा पयासंतो।
अडविहपभावगत्तं, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।
अेगूणतीसभेअे, पावसुए दूरओ विवज्जंतो।
सगविहसोहिगूणण्णू, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।
महमोहबंधठाणे, तीसं तह अंतरारिछक्कं च।
लोए निवारयंतो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।
इगहियतीसविहाणं, सिद्धगुणाणं च पंच नाणाणं।
अणुकित्तणेण सम्मं, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।
तह बत्तीसविहाणं, जीवाणं रक्खणम्मि कयचित्तो।
जियचउव्विहोवसग्गो, छत्तीसगुणो गुरु जयउ।।
बत्तीसदोसविरहिय, वंदणदाणस्स निच्चमहिगारी।
चउविहविगहविरत्तो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।
तित्तीसविहासायण, वज्जणजुग्गो अ वीरियायारं।
तिविहं अणिगूहंतो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।
गणिसंपयट्ठ चउविह, बत्तीसं तेसु निच्चमाउत्तो।
चउविहविणयपवितो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ।।

गुरुगुणषट्त्रिंशत्षट्त्रिंशिका, 2-37

27. *आयारवं च आधारवं च, ववहारवं पकुव्वीय।*
आयावायवीदंसी, तहेव उप्पीलगो चेव।।
अपरिस्साई णिव्वावओ य, णिज्जावओ पहिदकित्ति।
णिज्जवणगुणोवेदो, एरिसओ होदि आयरिओ।।

भगवतीआराधना, गा. 419-420

28. *आचारवान श्रुताधारः प्रायश्चित्तासनादिदः।*
आयापायकथी दोषा भाषकोऽस्त्रावकोऽपि च।।
सन्तोषकारी साधूनां,निर्यापक इमेऽष्ट च।
दिगम्बरवेष्यनुद्दिष्ट, भोजी शय्यासनीति च।।
अराजभुक क्रियायुक्तो, व्रतवान ज्येष्ठ सद्गुणः।
प्रतिक्रमी च षण्मासयोगी, तदद्विनिषद्यकः।।
बोधपाहुड (अष्टपाहुड की टीका), गा. 2, पृ. 138-140.

29. *अष्टावाचारवत्त्वाद्यास् तपांसि द्वादशस्थितेः।*
कल्पादशाऽऽवश्यकानि, षट् षट् त्रिंशद्गुणा गणेः।।
अनगारधर्मामृत, 9/76

30. *रत्नकरण्डकश्रावकाचार, पृ. 262.*
31. *अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 2, पृ. 331.*
32. *दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 15*
33. *स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 4/3/411*
34. *वही, 4/4/541*
35. *(क) वही, 4/3/422*
(ख) व्यवहारसूत्र, 10/12
36. *व्यवहारभाष्य, 4592-4593*
37. *व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 10/13*
38. *महानिशीथसूत्र, 5/पृ. 117*
39. *व्यवहारभाष्य, गा. 568*
40. *बृहत्कल्पभाष्य, गा. 941, 937, 942*
41. *जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भा. 1, पृ. 242,468.*
42. *व्यवहारभाष्य, 1302, 1305, 1301*
43. *वही, 1581, 1583-85*
44. *वही, 1305*
45. *दशवैकालिकसूत्र, 9/1/14*
46. *वही, 9/1/15*
47. *व्यवहारभाष्य, गा. 2001*

48. वही, गा. 2003
49. वही, गा. 1370
50. वही, गा. 1371
51. वही, गा. 2560, 2566
52. दशवैकालिकसूत्र, 9/1/11
53. वही, 9/3/1
54. व्यवहारभाष्य, गा. 2002
55. वही, गा. 1399
56. दशवैकालिकसूत्र, 9/3/13
57. ओघनिर्युक्ति, 609
58. व्यवहारभाष्य, 2672-73
59. दशवैकालिकसूत्र, 9/1/13
60. स्थानांगसूत्र, 5/2/196 7/81
61. व्यवहारभाष्य, 2674-2676, 2679-83
62. व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, पृ. 378
63. स्थानांगसूत्र, 5/2/167
64. आयार-विणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा -
    (i) संयम सामायारी यावि भवइ,
    (ii) तव सामायारी यावि भवइ,
    (iii) गण सामायारी यावि भवइ,
    (iv) एकल्लविहार सामायारी यावि भवइ,

    दशाश्रुतस्कन्ध, संपा. मधुकरमुनि, 4, पृ. 27
65. सुय-विणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा –
    (i) सुत्तंवाएइ (ii) अत्थं वाएइ (iii) हियं वाएइ (iv) निस्सेसं वाएइ।

    वही, 4, पृ. 27.
66. विक्खेवणा-विणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा –
    (i) अदिट्ठधम्मं दिट्ठ- पुव्वगत्ताए विणयइत्ता भवइ,
    (ii) दिट्ठपुव्वगं साहम्मियत्ताए विणयइत्ता भवइ,
    (iii) चुय धम्माओ धम्मे ठावइत्ता भवइ,
    (iv) तस्सेव धम्मस्स हियाए, सुहाए, खमाए, निस्सेयसाए .... भवइ।

    वही, 4/पृ. 28

67. दोसनिग्घायणा-विणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा
    - (i) कुद्धस्स कोहं विणएत्ता भवइ
    - (ii) दुट्ठस्स दोसं णिगिण्हित्ता भवइ
    - (iii) कंखियस्स कंखं छिंदित्ता भवइ
    - (iv) आया-सुपणिहिए यावि भवइ

    वही, 4/28
68. भगवतीसूत्र, 1/5/6/19
69. दशाश्रुतस्कन्ध, 4/पृ. 31-33
70. अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता, तं जहा- आचार संपया, सुयसंपया, सरीरसंपया, वयणसंपया, वायणासंपया, मतिसंपया, पओगसंपया, संग्रहपरिण्णा णाम अट्ठमा। स्थानांगसूत्र, 8/15
71. दशाश्रुतस्कन्ध, 4/पृ.20
72. आयारसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा–
    - (i) संजमधुवजोगजुत्ते यावि भवइ
    - (ii) असंपग्गहियअप्पा
    - (iii) अणियत्त-वित्ती
    - (iv) वुड्ढसीले यावि भवइ।

    वही, 4/ पृ. 20
73. सुयसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा–
    - (i) बहुस्सुए यावि भवइ
    - (ii) परिचियसुए यावि भवइ
    - (iii) विचित्तसुए यावि भवइ
    - (iv) घोसविसुद्धिकारए यावि भवइ।

    वही, 4/पृ. 20.
74. सरीरसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा–
    - (i) आरोहपरिणाहसंपन्ने यावि भवइ
    - (ii) अणोतप्पसरीरे यावि भवइ,
    - (iii) थिरसंघयणे यावि भवइ
    - (iv) बहुपडिपुण्णिंदिएयावि भवइ।

    वही, 4/पृ.20

75. *वयणसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा–*
    (i) आदेयवयणे यावि भवइ
    (ii) महुरवयणे यावि भवइ,
    (iii) अणिस्सियवयणे यावि भवइ
    (iv) असंदिद्धवयणे यावि भवइ।

    वही, 4/पृ.20

76. *वायणासंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा–*
    (i) विजयं उद्दिसइ
    (ii) विजयं वाएइ
    (iii) परिनिव्वावियं वाएइ
    (iv) अत्थनिज्जावए यावि भवइ।

    वही, 4/पृ.20

77. *मइसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा–*
    (i) उग्गहमइसंपया
    (ii) ईहामइसंपया
    (iii) अवायमइसंपया
    (iv) धारणामइसंपया।

    वही, 4/पृ. 21.

78. *वही, 4/पृ. 21*
79. *वही, 4/पृ.21.*
80. *पओगमइसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा–*
    (i) आयंविदाय वायं पउंज्जित्ता भवइ
    (ii) परिसं विदाय वायं पउंज्जिता भवइ
    (iii) खेत्तं विदाय वायं पउंज्जिता भवइ
    (iv) वत्थुं विदाय वायं पउंज्जित्ता भवइ।

    वही, 4/पृ. 21

81. *संगहपरिण्णा णामं संपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा–*
    (i) बहुजण पाउग्गयाए वासावासेसु खेत्तं पडिलेहित्ता भवइ
    (ii) बहुजणपाउग्गयाए पाडिहारिय-पीढ-फलग-सेज्जा-संथारयं उगिण्हित्ता भवइ
    (iii) कालेणकालं समाणइत्ता भवइ
    (iv) अहागुरु संपूएत्ता भवइ।

    वही, 4/पृ. 21

82. (क) दशाश्रुतस्कन्ध, पृ. 26-27.
    (ख) व्यवहारभाष्य, 4084-4123
83. व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 3/5
84. बृहत्कल्पभाष्य, 708
85. सामाचारीप्रकरण, पृ. 26
86. पंचवस्तुक, 932
87. विधिमार्गप्रपा- सानुवाद, पृ. 193
88. आचारदिनकर, भा. 1, पृ. 112.
89. व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 3/6.
90. आचारदिनकर, पृ. 112
91. पंचवस्तुक, 934-945
92. प्राचीनसामाचारी, पृ. 26
93. सन्मतिप्रकरण, गा. 66
94. दशवैकालिकसूत्र, 9/1/1-10.
95. व्यवहारभाष्य, मुनि दुलहराज, 2526
96. वही, 2578-79, 2600
97. आचारदिनकर, पृ. 112
98. वही, पृ. 75, 76, 112
99. अणुणा जोगो अणुजोगो, अणु पच्छाभावओ य थेवे य।
    जम्हा पच्छाऽभिहियं, सुत्तं थोवं च तेणाणु।
    बृहत्कल्पसूत्र, 1/190
100. युज्यते संबध्यते भगवदुक्तार्थेन सहेति योगः।
    अनुयोगद्वार, प्रस्तावना, पृ. 23
101. अणुसूत्रं महानर्थस्ततो महतोर्थस्याणुना सूत्रेण योगो अनुयोगः।
    अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 1/पृ.340
102. सूत्रस्यार्थेन सहानुकूलं योजनमनुयोगः
    अथवा अभिधेये व्यापारः सूत्रस्य योगः।
    अनुकूलोऽनुरूपो वा योगो अनुयोगः
    यथा घटशब्देन घटस्य प्रतिपादनमिति।।
    आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरिटीका, 127

103. (क) आवश्यकनिर्युक्ति हारिभद्रीयटीका, पृ. 130.
(ख) समवायांगसूत्र अभयदेवटीका, पृ. 147

104. अणुयोयणमणुओगो, सुयस्स नियएण जमभिधेएणं
वावारो वा जोगो, जोअणुरूवोऽणुकूलो वा।
अहवा जमत्थओ थोव-पच्छभावेहिं सुयमणुं तस्स
अभिधेये वावारो, जोगो तेण य संबंधो।।
विशेषावश्यकभाष्य, 1386-1387

105. अणुओगो य नियोगो, भास विभासा य वत्तियं चेव।
अणुओगस्स उ एए, नामा एगट्ठिया पंच।।
आवश्यकनिर्युक्ति, 131

106. बृहत्कल्पभाष्य, 198.

107. वित्तीए वक्खाणं, वत्तियमिह सव्वपज्जवेहिं वा।
वित्तीओ वा जायं, जम्मि व जह वत्तए सुत्ते।।
विशेषावश्यकभाष्य, 1422 की मलयगिरि, टीका

108. विशेषावश्यकभाष्य, गा. 1423

109. वही, 1424

110. वही, गा. 1425

111. विशेषावश्यकभाष्य, गा. 1426-1427

112. (क) अभिधानराजेन्द्रकोश, भा.1/पृ. 256
(ख) चत्तारि उ अणुओगा, चरणे धम्मगणियाणुओगे य।
दवियणुओगे य तहा, अहक्कमं ते महिड्ढीया।।
ओघनिर्युक्तिभाष्य, गा. 5

113. अनगारधर्मामृत, 3/9-12.

114. अनुयोगद्वार, प्रस्तावना, पृ. 26.

115. नन्दीसूत्र, सू. 107

116. नन्दीचूर्णि, सू. 107-108

117. वही, सू. 110

118. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले वयण-भावे य।
एसो अणुओगस्स उ, निक्खेवो होइ सत्तविहो।।
विशेषावश्यकभाष्य, 1388

119. बृहत्कल्पभाष्य, गा. 241-244
120. शिष्टाचरितो ज्ञानाद्यासेवनविधिरिति भावार्थ। नन्दी हारिभद्रीयटीका, पृ. 75
121. निशीथभाष्य, गा. 5
122. निशीथभाष्य, गा. 7
123. दशवैकालिकसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 9/4/12
124. आचारचूला, संपा. मधुकरमुनि, 1/10/399
125. (क) वही, 3/3/506
(ख) वही, 2/3/460
126. स्थानांगसूत्र, (ठाणं) संपा. मुनि नथमल, 3/362
127. वही, 3/364
128. वही, 3/488
129. वही, 7/6
130. वही, 7/81
131. वही, 10/17
132. समवायांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, सम.30, सू. 196/24-25
133. भगवतीसूत्र, 1/5/619
134. ज्ञाताधर्मकथासूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 4/10
135. दशवैकालिकसूत्र, 9/1
136. व्यवहारसूत्र, चौथा-छठा उद्देशक
137. पंचवस्तुक, 651-671
138. निर्वाणकलिका, पृ. 7-9
139. सामाचारीसंग्रह, पृ. 73-75
140. सामाचारीप्रकरण, पृ. 26
141. सामाचारी, 48-49
142. सुबोधासामाचारी, पृ. 18
143. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 193-206
144. आचारदिनकर, 112-116
145. विधिमार्गप्रपा, पृ. 193-198
146. आचारदिनकर, पृ. 113

147. कालग्रहणविधि, योगोद्वहनविधि के अधिकार में कही गयी है।
148. बृहत नन्दीपाठ अर्थात 700 श्लोक परिमाण सम्पूर्ण नन्दीसूत्र।
149. धर्मसंग्रह, भा. 3, पृ. 508
150. प्राचीनसामाचारी, पृ. 26
151. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 199-205
152. श्रीप्रव्रज्यायोगादिविधिसंग्रह, पृ. 103-106
153. आचारदिनकर, पृ. 112
154. सामाचारीसंग्रह, पृ. 73
155. तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 48.
156. आचारदिनकर, पृ. 114
157. सामाचारीप्रकरण, पृ. 26
158. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद पृ.193-198
159. सुबोधासामाचारी, पृ. 18
160. आचारदिनकर, पृ. 115
161. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 196
162. सामाचारीसंग्रह, पृ. 73
163. सामाचारीप्रकरण, पृ. 26.
164. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ. 48
165. सुबोधासामाचारी, पृ.18.
166. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद पृ.193-194
167. आचारदिनकर, पृ. 114
168. निर्वाणकलिका, पृ. 7-9
169. हुम्बुज श्रमण भक्ति संग्रह, खण्ड 1, पृ. 499-500
170. जैन एवं बौद्ध शिक्षा दर्शन : एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ.155-159

●

अध्याय-9

महत्तरापद स्थापना विधि का तात्त्विक स्वरूप

जैन धर्म की सामाजिक संरचना साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूपी चतुर्विध संघ पर आधारित है। यह चतुर्विध संघ तीर्थ कहलाता है। तीर्थ की परम्परा अविच्छिन्न रूप से प्रवर्तित रहे, इस उद्देश्य से एक प्रशासनिक व्यवस्था का होना भी आवश्यक है। अत: जैन धर्म में जहाँ मुनि संघ की सुव्यवस्था हेतु आचार्य, उपाध्याय, वाचनाचार्य आदि पदों का विधान है, वहीं साध्वी संघ की समुचित व्यवस्था हेतु महत्तरा, प्रवर्त्तिनी, गणावच्छेदिनी जैसे पदों का प्रावधान है। यद्यपि आचार्य सकल संघ का निर्वहन करने में समर्थ होते हैं परन्तु उनके विस्तृत कार्यक्षेत्र एवं जिम्मेदारियों के सम्यक संचालन में सहयोगी मिलने पर उन कार्यों को और भी अधिक सुंदर रूप दिया जा सकता है। इसी के साथ स्त्री वर्ग की समस्याएँ एवं मानसिकता भी प्राय: पुरुष की समझ से परे होती है। कई बार मर्यादावश या संकोचवश हर बात आचार्य आदि के समझ कहना संभव नहीं होता। इसी तरह के कई तथ्यों को ध्यान में रखते हुए साध्वी समुदाय के उचित निर्देशन एवं श्राविका वर्ग के संचालन के लिए जिनशासन पद व्यवस्था में महत्तरा आदि पदों का गुंफन किया गया है।

महत्तरा शब्द का अर्थ

'महत्'+'तरप्' इन दो शब्दों के संयोग से महत्तरा शब्द की रचना हुई है। 'महत्' शब्द विशेषण सूचक और 'तरप्' प्रत्यय तुलनार्थक है। महत् के अनेक अर्थ हैं - बड़ा, वृद्ध, उत्तम, श्रेष्ठ आदि। तदनुसार महत्तर का अर्थ– विशिष्ठ, मुखिया, नायक, प्रधान आदि होता है।[1]

संस्कृत-हिन्दी कोश में 'महत्तर' शब्द के अपेक्षाकृत बड़ा, विशाल, प्रधान, सबसे बड़ा व्यक्ति, सम्माननीय आदि अर्थ किये गये हैं।[2] महत्तर में टाप् प्रत्यय जुड़ने से स्त्रीवाचक महत्तरा शब्द बना है। इस प्रकार महत्तरा पद नायिका या प्रधान साध्वी का सूचक है। सामान्यतया प्रधान या मुखिया को महत्तरा कहते

हैं अथवा जो साध्वी समुदाय में वयादि की अपेक्षा प्रधान हो, उसे महत्तरा कहते हैं। प्रसंगानुसार महत्तरा के निम्न अर्थ भी सम्भावित हैं –

- श्रेष्ठतर या विशिष्टतर आचार को धारण करने वाली साध्वी।
- संघ विशेष के महान दायित्व को धारण करने वाली साध्वी।
- विशिष्ट अधिकारों से अधिकृत साध्वी।
- कर्त्तव्य बुद्धि से श्रमणी-संघ का संचालन करने वाली साध्वी।
- आचार मर्यादा का उत्कर्ष रूप से सम्पादन करने वाली साध्वी।
- संयम, वय या ज्ञान से स्थविर (प्रौढ़ा) साध्वी महत्तरा कहलाती है।

आधुनिक सन्दर्भ में महत्तरा पद की उपयोगिता

श्रमण एवं श्रमणी संघ की व्यवस्था हेतु जैन शास्त्रों में कुछ पदों का विधान मिलता है। उन्हीं में श्रमणी संघ के संचालन एवं मार्गदर्शन हेतु महत्तरा पद का विधान है।

महत्तरा पद की उपादेयता यदि मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में देखी जाए तो महत्तरापद वरिष्ठ या सम्माननीय साध्वी के लिए प्रयुक्त होता है। वह वय एवं दीक्षा पर्याय से अनुभवी होती हैं अत: अपने अनुभव के माध्यम से श्रमणी संघ को उपयुक्त एवं योग्य मार्गदर्शन प्रदान कर सकती हैं। वह अन्य श्रमण-श्रमणियों की मानसिकता भापने में समर्थ होने से उनके मन में उत्पन्न उद्वेग-शंका आदि का समाधान करने में भी सक्षम होती है। वह वात्सल्य एवं स्नेह प्रदान कर श्रमणी संघ को संरक्षित होने एवं सुरक्षित होने का एहसास करवाती है तथा द्रव्य एवं भाव दोनों चारित्र में अभिवृद्धि कर सभी को मानसिक शान्ति प्रदान करती है।

सामाजिक सन्दर्भ में महत्तरा पद पर चिन्तन किया जाए तो यह पद सामाजिक उत्थान की अपेक्षा से प्रदान किया जाता हैं। चतुर्विध संघ के सम्यक् दिग्दर्शन एवं संचालन के लिए इस पद का विधान है। परिवार एवं समाज में जिस प्रकार किसी भी श्रेष्ठ या उत्तम कार्य के लिए बड़ों के मार्गदर्शन एवं आशीर्वाद को महत्त्वपूर्ण माना गया है वैसे ही महत्तरा समस्त समाज को लोकोत्तर मार्गदर्शन देती हैं। अनुभवी (Experienced) लोगों का प्रत्येक क्षेत्र में महत्त्व होता है, जब किसी नौकरी के लिए आवेदन किया जाता है तो उसमें आवेदक का अनुभव भी प्रमुखता रखता है इसी प्रकार संघ संचालन में महत्तरा

का अनुभव महत्त्व रखता है। इसके माध्यम से बड़ों के प्रति सम्मान आदि के भावों में वृद्धि होती है तथा समाज में वैसे ही संस्कारों का निर्माण होता है। इससे नारी की महिमा एवं उसकी पूज्यता का सन्देश समस्त समाज को मिलता है।

मैनेजमेण्ट या प्रबन्धन के विषय में महत्तरा पद की सार्थकता पर विचार किया जाए तो यह व्यवस्था प्रबन्धन, समुदाय प्रबन्धन, नारी प्रबन्धन, परिवार प्रबन्धन आदि में सहायक हो सकता है। दीर्घ वय एवं ज्ञान स्थविर साध्वी को महत्तरा पद पर विभूषित करने से परिवार, समाज एवं समुदाय में वरिष्ठ एवं अनुभवी लोगों के प्रति आदर भाव उत्पन्न होते हैं जिससे एक शान्त, मनोरम एवं सामञ्जस्ययुक्त वातावरण का निर्माण होता है जो परिवार एवं समाज के प्रबन्धन में सहायक होता है। इसी प्रकार समाज-व्यवस्था में वरिष्ठ वर्ग को किस प्रकार जोड़कर रखा जाए जिससे उन्हें मानसिक शान्ति प्राप्त हो तथा उनके अनुभव एवं ज्ञान का उपयोग समाज के उत्कर्ष में उपयोगी बन सके आदि का सन्देश मिलता है। नारी को शासन-व्यवस्था में स्थान मिलने से नारी जगत से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान प्राप्त हो सकता है। इसी के साथ नारी को सम्माननीय स्थान की प्राप्ति होती है। इस प्रकार नारी प्रबन्धन में भी इसका विशेष महत्त्व है।

वर्तमान जगत की समस्याओं के सन्दर्भ में महत्तरा पद की विशेषता को आंका जाये तो–

1. वरिष्ठ वर्ग के प्रति बढ़ता अनादर, उपेक्षा भाव, आपसी दूरियों (Generation gap) को कम किया जा सकता है।

2. समाज में बढ़ रहे वृद्धाश्रम एवं रिटायर्ड वर्ग में बढ़ते मानसिक तनाव, (Depression) आदि को न्यून किया जा सकता है।

3. अनुभव की कमी के कारण आ रही व्यावसायिक, राजनैतिक एवं पारिवारिक समस्याओं का हल अनुभवी वरिष्ठ वर्ग की सहायता से प्राप्त किया जा सकता है। आज छोटे बालकों को बेबी सीटर्स (Baby seaters) आदि के पास रखने से जो संस्कारों की हानि हो रही है उससे बचा जा सकता है क्योंकि घर में बड़े जिस जिम्मेदारी एवं अपनेपन से बच्चों को सम्भालते हैं, वह काम वाली आया या नौकरानी नहीं कर सकती।

महत्तरापदग्राही के लिए आवश्यक योग्यताएँ

महत्तरा पद योग्य साध्वी किन गुणों से युक्त होनी चाहिए? इस विषयक आधार भूत चर्चा विक्रम की 14वीं शती तक के उपलब्ध ग्रन्थों में स्वतन्त्र रूप से प्राप्त नहीं होती है। यदि महत्तरापद को प्रवर्त्तिनी के तुल्य स्वीकारा जाये तो मानना होगा कि प्रवर्त्तिनी के लिए आवश्यक सभी गुण महत्तरा साध्वी में होने चाहिए।

इस सम्बन्ध में सामान्य चर्चा आचारदिनकर में प्राप्त होती है। इसमें महत्तरापद के योग्य साध्वी के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जो सिद्धान्तों में पारगामी हो, शान्त स्वभावी हो, उत्तम कुल में उत्पन्न हो, सम्यक् रूप से योगोद्वहन की हुई हो, स्त्रियोचित चौसठ कलाओं की ज्ञाता हो, समस्त विद्याओं में निपुण हो, प्रमाण, लक्षण आदि शास्त्रों की ज्ञात्री हो, मृदुभाषिणी हो, उदार हृदयी हो, शुद्ध शीलवाली हो, पाँच इन्द्रियों के निग्रह में रत हो, धर्मोपदेश में निपुण हो, लब्धि तत्त्वज्ञा हो, दयार्द्र हृदयी हो, प्रसन्नमना हो, बुद्धिशालिनी हो, गच्छानुरागिणी हो, नैतिक मर्यादाओं के पालन में तत्पर हो, गुणों से भूषित हो, विहारादि करने में समर्थ हो और ज्ञान आदि पंचाचार का पालन करती हो- इन गुणों से युक्त साध्वी महत्तरापद के योग्य होती है।[3]

इससे इतना और स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार मुनि संघ में आचार्य, उपाध्याय आदि पदों पर स्थापित होने के लिए योग्यताओं के साथ-साथ निश्चित दीक्षापर्याय का होना भी आवश्यक माना गया है यह नियम महत्तरापद पर आरूढ़ होने वाली साध्वी के लिए अनिवार्य नहीं है। किन्तु इतना अवश्य है कि वह संयम स्थविर, ज्ञान स्थविर या वय स्थविर अवश्य हो।

आचार्य वर्धमानसूरि ने महत्तरापद के अयोग्य साध्वी का लक्षण भी बतलाया है। तदनुसार कुरूपा, खण्डित अंग वाली, हीन कुल में उत्पन्न, मूढ़, दुष्ट, दुराचारिणी, रोग ग्रसित, कठोर भाषिणी, साध्वाचार से अनभिज्ञ, अशुभ समय में उत्पन्न, कुलक्षणा, आचारहीन– इस प्रकार की साध्वी महत्तरा पद के अयोग्य होती है।[4]

यहाँ 'अशुभ समय में उत्पन्न' जो कहा गया है इसका आशय यह है कि महत्तरा पद के योग्य साध्वी की जन्मकुण्डली देखी जाती है और उसके आधार पर शुभाशुभ समय का निर्णय किया जाता है। यदि वह बाह्य लक्षणों से सुयोग्य

होने पर भी यदि अशुभ नक्षत्रादि में जन्मी हुई हो तो उसे महत्तरा पद के अयोग्य ही मानना चाहिए।

महत्तरापद हेतु शुभाशुभ काल-विचार

महत्तरापद का आरोपण किस मुहूर्त्त में किया जाना चाहिए? इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र चर्चा लगभग किसी भी ग्रन्थ में नहीं है। हाँ! सामाचारी प्रकरण, सुबोधा सामाचारी, विधिमार्गप्रपा आदि में इतना उल्लेख अवश्य है कि यह विधि शुभ तिथि, शुभ योग, शुभ नक्षत्र आदि में सम्पन्न करनी चाहिए, किन्तु शुभ नक्षत्र आदि कौन-कौन से हैं? इसका स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है। यद्यपि आचारदिनकर में इस पद स्थापना हेतु आचार्य पदस्थापना विधि के समान शुभ नक्षत्र, तिथि, वार एवं लग्न आदि देखने का निर्देश किया गया है।[5]

महत्तरा आचार्य के लिए भी विशेष सम्माननीय होती है तथा आचार्य के सहयोगिनी के रूप में साध्वी-समुदाय का संचालन करती है। इसकी अपेक्षा आचारदिनकर का अभिमत सर्वथोचित प्रतीत होता है। अत: इस ग्रन्थ के अनुसार महात्तरा पद की स्थापना आचार्यपद स्थापना के योग्य शुभ दिनादि में करना चाहिए।

महत्तरापद-विधि की अवधारणा का इतिहास

श्रमणी संघ में प्राचीनकाल से ही इस पद की व्यवस्था रही है। जैन इतिहास में याकिनी महत्तरा आदि के अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिससे यह सूचित होता है कि पूर्वकाल में भी साध्वियों को महत्तरा पद से विभूषित किया जाता था। खरतरगच्छ आदि कुछ आम्नाय में आज भी यह पद यथावत रूप से प्रचलित है।

यदि जैन धर्म के प्राचीन साहित्य का अध्ययन करते हैं तो ज्ञात होता है कि आगम में 'महत्तरापद' का विस्तृत उल्लेख तो नहीं है फिर भी स्थानांगसूत्र, भगवतीसूत्र आदि में इस शब्द का प्रयोग देखा जाता है, किन्तु वह प्रधानता आदि की अपेक्षा से ही प्रयुक्त हुआ है।[6] वहाँ 'महत्तरा' शब्द प्रधान साध्वी के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है।

यदि आगमिक व्याख्या साहित्य का अनुशीलन करते हैं तो सर्वप्रथम इसका नामोल्लेख निशीथभाष्य में देखने को मिलता है। यहाँ महत्तरा का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि वह मातृ वात्सल्य की भाँति स्नेहयुक्त होकर धर्म का

उपदेश करती हैं और उसके द्वारा प्रदत्त उपदेश बोधि (सम्यक्त्व) को प्राप्त कराने वाला होता है।[7] इस तरह के सामान्य कई प्रसंग देखे जा सकते हैं, किन्तु इससे अधिक कुछ लिखा गया हो, ऐसा जानकारी में नहीं है।

जब हम मध्यकालवर्ती साहित्य का पर्यावलोकन करते हैं तो विक्रम की 8वीं शती तक भी तद्विषयक विस्तृत चर्चा प्राप्त नहीं होती है।

इसके अनन्तर यह चर्चा सामाचारीसंग्रह[8], सामाचारीप्रकरण[9], तिलकाचार्य सामाचारी[10], सुबोधासामाचारी[11], विधिमार्गप्रपा[12], आचारदिनकर[13] आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं।

उपर्युक्त सभी ग्रन्थों में इस पदस्थापन की विधि उल्लिखित है। परम्परागत सामाचारी के कारण इस विधि की कुछ प्रक्रियाओं में मतभेद हो सकता है, किन्तु मूल विधि सभी में समान रूप से कही गई है। आचारदिनकर में महत्तरा के कृत्य भी बताये गये हैं तथा स्वगच्छ और अन्य गच्छ में महत्तरापद से सम्बन्धित प्रचलित अवधारणाओं को भी स्पष्ट किया गया है।

इस वर्णन से यह सुनिश्चित है कि पुरातनकाल से लेकर विक्रम की 8वीं शती तक प्रस्तुत पद के विषय में मात्र सामान्य उल्लेख ही प्राप्त होता है। इसके पश्चात 15वीं शती तक के ग्रन्थों में यह विधि स्पष्ट रूप से उपलब्ध होती प्राप्त है।

सर्वप्रथम महत्तरा पदारोहण की एक सुव्यवस्थित विधि विधिमार्गप्रपा में प्राप्त होती है। इसमें महत्तरा साध्वी को कहने योग्य शिक्षा वचनों का भी सम्यक् विवरण है। यद्यपि आचारदिनकर में भी यह विधि सुव्यवस्थित रूप से उल्लेखित है किन्तु विधिमार्गप्रपा इससे पूर्ववर्ती है अत: उसी के अनुसार महत्तरा पदस्थापना विधि प्रतिपादित करेंगे।

महत्तरा पदस्थापना विधि

विधिमार्गप्रपा में महत्तरा पदस्थापना की विधि इस प्रकार निरूपित है[14]–

किसी श्रेष्ठ दिन में महत्तरापद की स्थापना करें। उस दिन जिनालय, उपाश्रय या पवित्र स्थान में समवसरण की रचना करवाएं। महत्तरा पद ग्राही शिष्या लग्न दिन में प्रभातकाल का ग्रहण करें और स्वाध्याय की प्रस्थापना करें। उसके बाद पद ग्राही शिष्या समवसरण के निकट गुरु की बायीं ओर आसन बिछाएं।[15]

वासदान – फिर पदग्राही साध्वी खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन कर कहे– **"तुब्भे अम्हं पुव्वअज्जाचंदणाइनिवेसिय महयर-पवत्तिणीपयस्स अणुजाणावणियं नंदिकड्ढावणियं वासनिक्खेवं करेह"**– हे भगवन्! आपकी इच्छा हो, तो चन्दना आदि पूर्व आर्याओं द्वारा सेवित महत्तरापद या प्रवर्तिनीपद ग्रहण की अनुमति देने एवं नन्दी सुनाने के निमित्त वासचूर्ण का निक्षेप करें। तब गुरु भगवन्त पदग्राही साध्वी के मस्तक पर वासचूर्ण डालें।

तदनन्तर गुरु पद ग्राही साध्वी को अपनी बायीं ओर बिठाकर जिनमें उच्चारण एवं अक्षर क्रमशः बढ़ते हुए हों ऐसी चार स्तुतियाँ एवं शान्तिनाथ, अम्बिकादेवी आदि की चौदह ऐसे कुल अठारह स्तुतियों द्वारा पूर्ववत देववन्दन करें।

कायोत्सर्ग – फिर नूतन महत्तरा **'महत्तरापयअणुजाणावणियं काउस्सग्गं करेह'**– महत्तरापद की अनुमति लेने के लिए कायोत्सर्ग करती हूँ ऐसा कहकर एवं अन्नत्थसूत्र बोलकर (सागरवरगंभीरा तक) एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बालें। यह क्रिया गुरु और महत्तरा दोनों करें।

नन्दीश्रवण – तत्पश्चात गुरु खड़े होकर तीन बार नमस्कार मन्त्र पूर्वक लघुनन्दी का पाठ बोलें – **'नाणं पंचविहं पन्नत्तं, तं जहा-आभिणिबोहियनाणं, सुयनाणं, ओहिनाणं, मणपज्जवनाणं, केवलनाणं।'** उसके बाद उस साध्वी को प्रकर्ष रूप से पद पर स्थापित करने हेतु **'इमीसे साहुणीए महत्तरापयस्स अणुण्णानंदी पयट्टइ'** – इस साध्वी के लिए महत्तरापद की अनुज्ञा नन्दी प्रवृत्त होती है, ऐसा कहकर गुरु महाराज उस भावी महत्तरा के सिर पर वासक्षेप डालें।

वासाभिमंत्रण – फिर गुरु आसनस्थ होकर गन्धचूर्ण को अभिमन्त्रित करें। फिर उसे उपस्थित संघ में वितरित कर समवसरणस्थ जिनप्रतिमा के चरणों पर उस गंध का क्षेपण करें।

सप्त थोभवन्दन– 1. उसके बाद पदग्राही साध्वी खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन करके कहे– **"इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं महत्तरापयं अणुजाणह"** – हे भगवन्! आपकी इच्छा हो, तो मुझे महत्तरा पद की अनुज्ञा दें। गुरु कहें – **'अणुजाणामि'** – मैं अनुज्ञा देता हूँ।

2. तत्पश्चात दूसरी बार एक खमासमण देकर कहे – **''संदिसह किं भणामो''** – आज्ञा दीजिए, मैं क्या कहूँ? तब गुरु कहें – **'वंदित्ता पवेयह'** – वन्दन करके प्रवेदित करो।

3. फिर तीसरी बार एक खमासमण देकर कहे – **'तुब्भेहिं अम्हं महत्तरापयमणुण्णायं?'** आपके द्वारा क्या मुझे महत्तरापद की अनुज्ञा दी गयी है? तब गुरु तीन बार **'अणुण्णायं'** कहें। साथ ही **'खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं अत्थेणं तदुभएणं सम्मं धारणीयं चिरं पालणीयं, अन्नेसिं पि पवेयणीयं'** कहते हुए महत्तरा को पद अभिवृद्धि हेतु आशीर्वाद प्रदान करें। फिर महत्तरा कहे – **'इच्छामो अणुसट्ठिं'** – मैं पद सम्बन्धी अनुशिष्टि (हितशिक्षा) की इच्छा करती हूँ। तब गुरु कहते हैं – **'नित्थारपारगा होहि, गुरुगुणेहिं वुड्ढाहि'** – संसारसागर से पार होओ और महान गुणों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होओ।

4. उसके बाद चौथी बार पुनः एक खमासमण देकर कहे – **'तुम्हाणं पवेइयं, संदिसह साहूणं पवेएमि'** – मैं आपको महत्तरापद के बारे में यथायोग्य कह चुकी हूँ, अब आपकी अनुमति से चतुर्विधसंघ के समक्ष इसका प्रवेदन करना चाहती हूँ।

5. तत्पश्चात नूतन महत्तरा पांचवीं बार खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन करें। फिर नमस्कारमन्त्र का उच्चारण करते हुए गुरु एवं समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दें। प्रत्येक प्रदक्षिणा में एक-एक नमस्कारमन्त्र बोलें। उस समय नूतन महत्तरा के मस्तक पर चतुर्विध संघ वासचूर्ण का क्षेपण करें।

6. फिर नूतन महत्तरा छट्ठा खमासमण देकर कहे – **'तुम्हाणं पवेइयं, साहूणं पवेइयं संदिसह करेमि'।**

7. फिर सातवीं बार खमासमण पूर्वक वन्दन करके कहे – **'अणुण्णायं महत्तरापयथिरीकरणत्थं करेमि काउस्सग्गं'** – आपके द्वारा जिसकी अनुज्ञा दी गयी है, उस महत्तरापद के स्थिरीकरण के लिए मैं कायोत्सर्ग करती हूँ, इतना कहकर एक लोगस्ससूत्र का चिन्तन करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में चतुर्विंशतिस्तव बोलें।

मन्त्रदान – फिर एक खमासमण देकर अपने आसन पर बैठ जाएं। तदनन्तर इष्ट लग्न के आने पर गुरु भगवन्त नूतन महत्तरा के कन्धे पर कम्बली रखें। फिर

उसके हाथ में दो कम्बल परिमाण का आसन दें। तत्पश्चात उसी शुभ लग्न में चन्दन से अर्चित महत्तरा के दाएं कान में सम्पूर्ण वर्द्धमानविद्या को तीन बार सुनाएं।

फिर कोटिकगण, वज्रशाखा, चन्द्रकुल आदि पूर्व-परम्परा का नामोच्चारण करते हुए महत्तरा साध्वी का नया नामकरण करें।

उसके पश्चात गुरु आर्यचन्दना- मृगावती आदि जिन विशिष्ट गुणों से शोभित थीं तुम भी उन्हीं विशिष्ट गुणों से सुशोभित होना, ऐसा आशीर्वाद देकर नूतन महत्तरा को इस प्रकार शिक्षावचन कहें–

शिक्षावचन – यह उत्तम पद लोकोत्तम जिनेश्वर भगवन्तों द्वारा प्ररूपित किया गया है, यह उत्तम फल को उत्पन्न करने वाला और उत्तम जनों के द्वारा आसेवित है।

धन्य आत्माओं को ही इस पद पर स्थापित किया जाता है, धन्य आत्माएं ही इस पद का अनुसरण करती हुई संसार समुद्र के पार पहुंचती हैं और संसार समुद्र से पार होकर सर्वदुःखों से मुक्त हो जाती हैं।

हे देवानुप्रिया! तुमने इस पद को प्राप्त कर लिया है। अब जिन गुरुत्तर गुणों को प्राप्त करने में समर्थ हो, उन गुणों की उत्तरोत्तर वृद्धि हो, ऐसा प्रयत्न सदैव करते रहना।

इस पद पर स्थित रहते हुए संवेग रस (वैराग्यभाव) का संवर्द्धन करना, क्योंकि इसके बिना तप द्वारा शरीर को कृश करना, बहुश्रुत का अभ्यास करना और उपदेश दान करना आदि विफल है।

हे वत्सा! जैसे सुयोग्य प्रवर्त्तिनी यथार्थ प्रवर्त्तिनी कहलाती है तुम भी प्रयत्नपूर्वक इन सभी साध्वियों की सच्ची प्रवर्त्तिनी बनना।

हे शिष्यप्रवरा! जिस प्रकार शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा अपनी कलाओं को क्रमशः बढ़ाता हुआ बहुमूल्य मौक्तिक हार के समान धवलता को प्राप्त करता है उसी प्रकार तुम भी तथाविध गुणों से पूजित होकर इस लोक में धवलोज्ज्वल गुणों को प्राप्त करना।

हे शिष्या! तुम इन आर्याओं के लिए वज्रश्रृंखला, मंजूषा, दृढ़ घेरे और परकोटे के समान होना। यानी संयमधर्म की परिपालना में कठोर अनुशासन रखना।

इस पद को मूंगे की लता, मोती की सीप एवं रत्नराशि के समान अत्यन्त मनोहर भाव से धारण करना, जलतरंग की भांति इसे वहन मत करना।

जिस प्रकार समुद्र मोती आदि मूल्यवान और शंख-सीपादि अमूल्यवान दोनों तरह के पदार्थों को समान रूप से धारण करता है उसी प्रकार तुम भी सामान्य या विशिष्ट शिष्याओं में तुल्य भाव रखना, सभी को समान दृष्टि से देखना।

कई आत्माएँ इस पद पर आरूढ़ होकर भी जलतरंग की भांति इसका त्याग कर देती हैं, परन्तु तुम सदैव 'यह पद धन्य है' ऐसा मानते हुए श्रेष्ठ भावों से इस पद का अनुपालन करना।

हे धन्या! तुम गुरुणी, अंगप्रतिचारिका, धायमाता, प्रिय सखी, भगिनी, माता, मातामही (दादी) एवं पितामही (दादा) की तरह वात्सल्ययुक्त होकर इन आर्याओं को अनुशिक्षित करना। जिस प्रकार तुम्हारे गुरु, पिता व बन्धुगण वात्सल्य से ओत-प्रोत होकर तुम पर अनुशासन करते हैं तुम भी महत्तरापद पर अनुशासित होती हुई आर्याओं को अनुशासन में रखना।

तुम्हारे द्वारा इस पद पर रहते हुए गुरुजनों और मुनिजनों के प्रति कभी भी प्रतिकूल आचरण नहीं किया जाना चाहिए। कदाचित उनके द्वारा प्रतिकूल व्यवहार हो भी जाए, तब भी तुम अनुकूल प्रवृत्ति ही करना।

तुम सदैव इस पद को शोभायमान करती हुई मधुर बोलना। थोड़ा भी क्रोध मत करना। कभी गुरु या वरिष्ठ साध्वी कुपित होकर तुम्हारे पूर्वगत दोषों को कह भी दें, तब भी क्रोध मत करना, बल्कि मृगावती की तरह क्षमायाचना करना।

तुम शान्त भाव से चलना, शान्त भाव से बोलना, शान्त भाव से बैठना। तुम्हारे द्वारा सभी कार्य समता पूर्वक किये जाएं, इस बात का ध्यान रखना।

तुम्हारी निश्रावर्ती एवं दूरस्थ सभी साध्वियों को योग्य बनाकर उन्हें इस पद पर आरूढ़ करना। वृद्ध आर्याओं में भी इस पद के गुणों का आरोपण करती हुई सिद्धस्थान को प्राप्त करना।

शेष विधि – हितशिक्षा ग्रहण करने के पश्चात नूतन महत्तरा गुरु को द्वादशावर्त्त वन्दन करें और सामाचारी के अनुसार आयंबिल आदि का प्रत्याख्यान करें। उपस्थित श्रावक आदि नूतन महत्तरा को थोभ वन्दन करें। साध्वियाँ एवं श्राविकाएँ द्वादशावर्त्त वन्दन करें। उस दिन जिनालय में अथवा जहाँ नन्दी रचना की गयी हो वहाँ पर प्रभु भक्ति, स्नात्र पूजा आदि महोत्सव करना चाहिए।

जिस साध्वी को प्रवर्त्तिनीपद या महत्तरापद की अनुज्ञा दी जाती है वह पद की अनुज्ञा के बाद स्वयं के लिए एवं अन्य साध्वियों के लिए वस्त्र-पात्र आदि ग्रहण कर सकती हैं, इससे पूर्व तक उन्हें गुरु द्वारा दिए गए वस्त्र आदि ही ग्राह्य होते हैं।

तुलनात्मक विवेचन

जब हम महत्तरापदस्थापना विधि का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो इससे सम्बन्धित ग्रन्थों में कहीं समरूपता तो कहीं विभिन्नता नजर आती है जो निम्नानुसार है-

स्कन्धकरणी की अपेक्षा– कंबली साध्वी का एक उपकरण है। पूर्व परम्परा से महत्तरा पदस्थ को लग्नवेला में कंबली दी जाती है अत: सामाचारीसंग्रह, सुबोधासामाचारी, विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों में स्कन्धकरणी देने का निर्देश है, किन्तु सामाचारीप्रकरण में यह उल्लेख नहीं है।

वासाभिमन्त्रण की अपेक्षा– पदस्थापना के दिन गुरु नूतन महत्तरा साध्वी के सिर पर वासदान करते हैं तथा चतुर्विध संघ उसे बधाते हैं। वह वासचूर्ण उसी दिन अभिमन्त्रित किया जाता है। सामाचारीसंग्रह आदि में गन्धचूर्ण को अभिमन्त्रित करने का तो स्पष्ट निर्देश है, परन्तु कौन से मन्त्र एवं मुद्राओं के द्वारा उसे मन्त्रित करना चाहिए, इसका उल्लेख नहीं है। यद्यपि आचारदिनकर में परमेष्ठी, सौभाग्य, गरुड, मुद्‌गर एवं कामधेनु– इन पाँच मुद्राओं से अधिवासित करने का सूचन है।[16]

प्रत्याख्यान की अपेक्षा– गीतार्थ आचरणा के अनुसार नूतन महत्तरा को पदस्थापना के दिन कोई तप अवश्य करना चाहिए। सामान्यतया सामाचारीसंग्रह, सामाचारीप्रकरण, सुबोधासामाचारी, विधिमार्गप्रपा वगैरह में आयंबिल तप करने का उल्लेख है। कुछ में परम्परागत सामाचारी के अनुरूप भी तप करने का निर्देश है।

पददाता की अपेक्षा– महत्तरापद किसके द्वारा दिया जाना चाहिए ? इस सम्बन्ध में सामाचारीसंग्रह आदि के अनुसार यह पद आचार्य द्वारा दिया जाना चाहिए। वर्तमान में भी यही अवधारणा मान्य है।

महोत्सव की अपेक्षा– आचारदिनकर में कहा गया है कि इस पद के अवसर पर अमारि घोषणा, वेदी बनाना, जवारारोपण करना, आरती आदि

क्रियाएँ आचार्य पदस्थापना के समान श्रावकों द्वारा की जानी चाहिए। संघपूजा, अट्ठाई महोत्सव आदि सभी कार्य आचार्यपदानुज्ञा के तुल्य करने चाहिए। इस तरह का विस्तृत वर्णन अन्य ग्रन्थों में उल्लेखित नहीं है।[17]

महत्तरा अधिकार की अपेक्षा– महत्तरा पदस्थ साध्वी के मुख्य रूप से कौन से अधिकार होते हैं? इस विषयक विधिमार्गप्रपा में सामान्य एवं आचारदिनकर में अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। जैसे– महत्तरा या प्रवर्त्तिनी इस पद की अनुज्ञा के बाद स्वयं भी वस्त्र-पात्र आदि ग्रहण कर सकती हैं और स्वगृहीत वस्त्रादि को अपेक्षित शिष्या मण्डली में भी वितरित कर सकती हैं।

साध्वियों को दीक्षा देना, गृहस्थों को सम्यक्त्व व्रत, बारह व्रत आदि दिलखाना साधु एवं साध्वियों को अनुशासित करना आदि कार्य कर सकती हैं, परन्तु उन्हें मुनिदीक्षा देने एवं प्रतिष्ठा करवाने की अनुज्ञा नहीं होती है। इसी के साथ निश्रावर्ती सुयोग्य साध्वियों को प्रवर्त्तिनीपद पर स्थापित कर सकती है, किन्तु महत्तरापद देने का अधिकार नहीं है।

देववन्दन की अपेक्षा– सामाचारी मतभेद के कारण सामाचारीप्रकरण में नौ स्तुतियों, तिलकाचार्य, सुबोधासामाचारी, आचारदिनकर में आठ स्तुतियों एवं विधिमार्गप्रपा में अठारह स्तुतियों द्वारा देववन्दन करने का निरूपण है। इसके अतिरिक्त वासदान, कायोत्सर्ग, सप्तथोभवन्दन, लघुनन्दी श्रवण, आसनदान, मन्त्रदान, नामकरण आदि मूल प्रक्रियाओं में लगभग समानता है।

कुछ आचार्य नन्दीसूत्र सुनाने के बाद तीन प्रदक्षिणा दिलवाते हैं, फिर कायोत्सर्ग करवाते हैं। उसके पश्चात लग्नवेला में स्कन्धकरणी, आसन दान, मन्त्र श्रवण आदि के अनन्तर पुनः तीन प्रदक्षिणा दिलवाते हैं ऐसा सामाचारी संग्रह में उल्लेख है।[18]

यदि हम जैन, हिन्दू एवं बौद्ध इन त्रिविध धर्मों की अपेक्षा इस विधि का अध्ययन करते हैं तो परिज्ञात होता है कि जैन धर्म के श्वेताम्बर संघ की कुछ परम्पराओं जैसे- खरतरगच्छ, तपागच्छ आदि में आज भी यह पद प्रचलित है। स्थानकवासी एवं तेरापंथी सम्प्रदाय में इस पद की व्यवस्था लगभग नहीं है यद्यपि तेरापंथ में साध्वी प्रमुखा का पद होता है जो महत्तरा के समान ही है। दिगम्बर संघ में गणिनी पद प्रचलित है, जिसे महत्तरा के तुल्य माना गया है।[19]

गच्छाचार प्रकीर्णक में इतना निर्देश भी मिलता है कि शीलवती, सुकृत करने वाली, कुलीन, गम्भीर और गच्छ मान्य आर्यिका महत्तरा पद को प्राप्त करती है।[20]

वैदिक धर्म में इस तरह की पदव्यवस्था का कोई भी संकेत प्राप्त नहीं होता है। बौद्ध-परम्परा में भिक्षुणी से सन्दर्भित श्रामणेरी, थेरी, प्रवर्त्तिनी आदि कई पदों का उल्लेख है, किन्तु महत्तरापद का उल्लेख पढ़ने में नहीं आया है।

निष्कर्ष है कि यह पद व्यवस्था मुख्य रूप से जैन-परम्परा में ही विद्यमान है। इसी के साथ जैन-साहित्य में ही इस विषयक विधि सम्प्राप्त होती है। इस विधि का मूल स्वरूप भी लगभग समान है। कहीं-कहीं परम्परागत सामाचारी के कारण कुछ असमानताएँ परिलक्षित होती हैं।

उपसंहार

श्रमणी-संघ में महत्तरा का सर्वोपरि स्थान है। साध्वी समुदाय के विशिष्ट उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने वाली साध्वी महत्तरा कहलाती है। जो साध्वी यथोक्त गुणों से युक्त होती है उसे ही इस पद पर नियुक्त किया जाता है।

इस पदस्थापन का मुख्य प्रयोजन साध्वी-समुदाय का सम्यक् संचालन करना है। यद्यपि आचार्य के नेतृत्व में ही धर्मसंघ का सफल संचालन होता है, साधु-साध्वी की संयमयात्रा निर्दोष रूप से गतिशील रहती है, किन्तु उनके द्वारा साध्वियों के प्रत्येक कार्य की देखरेख की जाये– यह सम्भव नहीं है। अत: उनके सम्यक् संचालन हेतु महत्तरापद की व्यवस्था है।

जैनाचार्यों के मतानुसार आचार्य के द्वारा ही पदयोग्य साध्वी का निर्धारण किया जाता है और इस पद सम्बन्धी विधि प्रक्रिया भी आचार्य द्वारा ही करवायी जाती है, परन्तु वर्तमान में यह पद आचार्य की अनुपस्थिति में उनके निर्देशानुसार अन्य पदस्थ मुनि एवं वरिष्ठ साध्वियों द्वारा भी दिया जाता है।

इस पद की उपादेयता के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो स्पष्ट होता है कि गरिमा एवं पूज्यता की दृष्टि से मुनिसंघ में जो स्थान आचार्य का है, साध्वी संघ में वही स्थान महत्तरा का है, किन्तु योग्यता एवं शासन प्रभावना की दृष्टि से वह आचार्य से कनिष्ठ होती है। आचार्य के अधिकारों का दायरा विस्तृत होता है जबकि महत्तरा प्रमुख रूप से स्व आश्रित साध्वी-समुदाय एवं श्रावक-श्राविका वर्ग का ही नेतृत्व करती हैं।

आचार-विचारमूलक क्रियाकलापों एवं साध्वी-समुदाय की आवश्यक गतिविधियों को सफल करने में भी महत्तरा की अहं भूमिका होती है। महत्तरा के सदृश प्रवर्त्तिनी भी होती है, किन्तु दोनों के अधिकार भिन्न-भिन्न होते हैं।

जहाँ प्रवर्त्तिनी का कार्य वाचना देना, साध्वियों की प्रत्येक क्रियाओं का निरीक्षण करना, उन्हें प्रतिपल सचेत करते रहना एवं उनकी मनःस्थितियों के अनुरूप उन्हें कार्य बताना है वहाँ महत्तरा सुझाव, संरक्षण आदि का ही कार्य करती हैं।

जिस प्रकार परकोटा नगर की रक्षा करता है उसी प्रकार महत्तरा साध्वी समुदाय की सुरक्षा का ध्यान रखती है।

संक्षेप में कहें तो पद व्यवस्था की दृष्टि से महत्तरा का स्थान प्रवर्त्तिनी की अपेक्षा उच्च या श्रेष्ठ होता है। यद्यपि प्रवर्त्तिनी के दायित्व अधिक होते हैं, किन्तु प्रवर्त्तिनी महत्तरा का प्रतिनिधित्व स्वीकारते हुए अधिकृत दायित्वों को पूर्ण करती है। इससे महत्तरा का गौरव स्वतः सिद्ध हो जाता है।

किसी-किसी गच्छ में दीर्घ संयम पर्याय वाली अथवा वृद्धा साध्वियों को भी महत्तरापद देते हैं। कुछ गच्छ में कम दीक्षा पर्याय और तरुणावस्था वाली साध्वी को भी महत्तरापद देने की परम्परा है।

सन्दर्भ-सूची

1. *पाइयसद्दमहण्णवो, पृ. 676*
2. *संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 783*
3. *आचारदिनकर, पृ. 120*
4. *वही, पृ. 120*
5. *वही, पृ. 120*
6. *(क) स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकर मुनि, 4/1/126*
   (ख) व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, संपा. मधुकर मुनि, 13/4/3
7. *मयहरिया मे णेहपरा धम्मवक्खाणं करेति तेण मे बोधी लद्धा।*
   निशीथभाष्य, उपा. अमरमुनि, 2/1684 की चूर्णि
8. *सामाचारीसंग्रह, पृ. 76.*
9. *सामाचारीप्रकरण, पृ. 28-29*

10. *तिलकाचार्यसामाचारी, पृ. 50*
11. *सुबोधासामाचारी, पृ. 19-20*
12. *विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 207-212*
13. *आचारदिनकर, पृ. 120, 121*
14. *विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 207-212*
15. *आचारदिनकर, पृ. 120*
16. *वही, पृ. 120*
17. *वही, पृ. 120-121*
18. *सामाचारीसंग्रह, पृ. 76*
19. *गणिनीं महत्तरिकां। मूलाचार, 4/192 की वृत्ति, पृ. 157*
20. *गच्छाचारपइन्ना, गा. 94*

●

अध्याय-10

प्रवर्त्तिनी पदस्थापना विधि का सर्वांगीण स्वरूप

अर्हत् शासन में मुनियों के लिए जैसे सात पदों की व्यवस्था है वैसे साध्वियों के लिए निम्न पाँच पदों का संविधान है –

1. **प्रवर्त्तिनी –** श्रमणी वर्ग का नेतृत्व करने वाली।

2. **अभिषेका –** प्रवर्त्तिनी पद से पूर्व अधिकार सम्पन्न साध्वी।

3. **स्थविरा –** वृद्ध साध्वी। यह पद दीर्घ दीक्षा पर्याय या वय के आधार पर स्वत: प्राप्त होता है।

4. **भिक्षुणी –** तरूणी या प्रौढा साध्वी।

5. **क्षुल्लिका –** बाल या शैक्ष साध्वी।

बृहत्कल्पभाष्य[1] एवं निशीथभाष्य[2] आदि में उक्त पदों के स्पष्ट प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त छेद साहित्य में श्रमणी के लिए गणिनी, महत्तरिका, गणावच्छेदिका, प्रतिहारी एवं थेरी वगैरह पदों का भी उल्लेख मिलता है। ये सभी पद चारित्र धर्म की अभिवृद्धि, शासन प्रभावना, श्रुत की सम्यक आराधना, श्रमणी वर्ग पर अनुशासन आदि उद्देश्यों को लक्ष्य में रखते हुए दिये जाते हैं।

जैन धर्म की श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में प्रवर्त्तिनी और महत्तरा ये दो पद ही प्रचलन में है। दिगम्बर संघ में भिक्षुणी, क्षुल्लिका, प्रवर्त्तिनी, गणिनी आदि शब्द विशेष रूप से प्रचलित हैं किन्तु पद व्यवस्था के रूप में गणिनी या प्रवर्त्तिनी पद का ही व्यवहार है, शेष सामान्य रूप में व्यवहृत हैं। क्षुल्लिका-साध्वी पद की प्रारम्भिक अवस्था है। आर्या, भिक्षुणी, निर्ग्रन्थी आदि साध्वी के पर्यायवाची नाम हैं।

प्रवर्त्तिनी शब्द का अर्थ एवं गूढ़ार्थ परिभाषाएँ

प्रवर्त्तिनी शब्द 'प्र' उपसर्ग, 'वृत्' धातु, 'णिच्' एवं 'णिन्' प्रत्यय से निष्पन्न है। मूलत: प्र+वृत्+णिच्+ण्वुल्+टाप् के संयोग से प्रवर्त्तिका शब्द बनता है।

• प्रवर्त्तिनी या प्रवर्त्तिका का शाब्दिक अर्थ है – प्रणेता, उन्नायिका, संस्कारदाता, संचालिका आदि।

• संस्कृत-हिन्दी कोश के अनुसार प्रगतिशील साध्वी, संघ को निरन्तर आगे बढ़ने-बढ़ाने वाली और सदैव सक्रिय रहने वाली प्रभावी साध्वी प्रवर्त्तिनी कहलाती है।[3]

• प्राकृत-हिन्दी कोश में साध्वियों की अध्यक्षा को प्रवर्त्तिनी कहा है।[4]

• स्थानांगटीका के अनुसार जो आचार्योपदिष्ट वैयावृत्य आदि कार्यों में सम्यक रूप से प्रवर्तित होती है अथवा उस कार्य को सुनियोजित रूप से सम्पादित करवाती है, वह प्रवर्त्तिनी है।[5]

• बृहत्कल्पभाष्य की टीकानुसार प्रवर्त्तिनी आचार्य स्थानीय सकल साध्वियों की नायिका होती है।[6]

• व्यवहारभाष्य के अनुसार जो तप, नियम, विनय आदि गुणों से युक्त हो, ज्ञान-दर्शन-चारित्र में प्रवर्तन करती हो, संग्रह (शिष्याओं के लिए वस्त्रादि ग्रहण) एवं उपग्रह (उपकार) करने में कुशल हो वह प्रवर्त्तिनी कहलाती है।[7]

इस प्रकार श्रमणी संघ का सम्यक संचालन, निश्रावर्ती साध्वी समुदाय को रत्नत्रय आदि में सतत प्रवृत्त एवं आचार्य कथित निर्देशों का समुचित अनुपालन करती हुई धर्मसंघ का उन्नयन करने वाली साध्वी प्रवर्त्तिनी कही जाती है।

प्रवर्त्तिनीपद की उपादेयता

जैन श्रमणी संघ में प्रवर्त्तिनी को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। अतएव उसकी उपयोगिता अनेक दृष्टियों से रही हुई है।

किसी अपेक्षा श्रमण संघ में जो महत्त्व आचार्य का है, वही मूल्य श्रमणी संघ में महत्तरा या प्रवर्त्तिनी का होता है। यद्यपि आचार्य चतुर्विध संघ के नेता होते हैं, उन पर सकल संघ का उत्तरदायित्व होता है, वे साधु-साध्वियों के हित के लिए पूर्ण उत्तरदायी होते हैं, जबकि महत्तरा एवं प्रवर्त्तिनी का दायित्व साध्वी-समुदाय तक सीमित होता है फिर भी संचालन, प्रवर्त्तन आदि किञ्चित विशिष्टताओं से युक्त होने के कारण उसे आचार्य के समकक्ष माना गया है।

सामान्यतया पौरुषत्व के गुणों को छोड़कर प्रवर्त्तिनी उन सभी योग्यताओं से समन्वित होती हैं, जो आचार्य के लिए आवश्यक मानी गयी हैं। इस अपेक्षा

से प्रवर्त्तिनी बहुत से उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों का नैतिक दृष्टि से निर्वाह करती है।

प्रवर्त्तिनीपद की प्रमुख उपादेयता यह है कि वह आचार्य के उत्तरदायित्वों एवं आवश्यक क्रियाकलापों को पूर्ण करने में अपना सहयोग प्रदान करती है। साध्वी-समुदाय का सम्यक नेतृत्व करती है, शास्त्रज्ञाता होने से ज्ञानदान एवं शास्त्राभ्यास में सहयोग करती है। संघस्थ श्रमणियों की सुरक्षा एवं व्यवस्था का पूर्ण प्रबन्धन करती है तथा उनके द्वारा विधि-निषेधयुक्त नियमों का उल्लंघन किये जाने पर उचित प्रायश्चित्त देने की भी अधिकारी होती है।[8]

भाष्यकार के मतानुसार अपने अधिकृत क्षेत्र में आगत अन्य प्रवर्त्तिनी को यथायोग्य आदर देना, भक्तपान की व्यवस्था करना एवं स्थानादि की पृच्छा करना भी प्रवर्त्तिनी का कार्य है। प्रवर्त्तिनी का प्रमुख कर्तव्य गच्छ या संघ में उत्पन्न कलह को शान्त करना भी है।[9] श्रमणी-संघ में वैराग्यगर्भित मुमुक्षु आत्माओं को प्रव्रजित करने का गुरुतर कार्य भी प्रवर्त्तिनी सम्भाल सकती है।

व्यवहारभाष्य में कहा गया है कि प्रवर्त्तिनी स्वच्छन्दचारिणी साध्वी पर सदा अनुशासन रखती है। यहाँ स्वच्छन्दता से तात्पर्य पुरुष-सम्बन्धी कथा आदि करना, गृहस्थों को जादू-टोना अथवा मन्त्र-तन्त्र का प्रयोग बताना, कामोत्तेजक चेष्टा करना, शरीर और उपकरणों की विभूषा करना, रात्रि के प्रथम व अन्तिम प्रहर में स्वाध्याय न करना आदि है।[10] ये क्रियाएँ संयम धर्म का विनाश करती हैं, अत: अणगार धर्म की पुष्टि एवं संवर्द्धन हेतु साध्वी समुदाय को प्रवर्त्तिनी के आदेश-निर्देश में ही रहना चाहिए, उसकी संयम-यात्रा के लिए यही श्रेयस्कारी है।

प्रवर्त्तिनी पद की उपादेयता इस सन्दर्भ में भी स्वीकारी जा सकती है कि साध्वियों की मानसिक दोष-सम्बन्धी अनेक समस्याओं का आचार्य से निराकरण करवाना उचित नहीं होता। दूसरा कारण, आवश्यक कार्यों की अनुमति हेतु बार-बार मुनियों की वसति में जाना अनुचित है तथा शैक्ष, तरुण, वृद्ध आदि साध्वियों के द्वारा आचार्य के समक्ष वस्त्रादि की आवश्यकता का निवेदन करना भी कारण विशेष से शोभनीय नहीं है उन कार्यों में प्रवर्त्तिनी जैसी प्रौढ़ प्रज्ञावान साध्वी का होना अत्यन्त जरूरी है, क्योंकि प्रवर्त्तिनी गीतार्थ आदि गुणों से समृद्ध होने के कारण उचितोनुचित का निर्णय कर सकती है। परिस्थिति

के अनुसार उचित कार्य का आदेश भी दे सकती है। इस प्रकार प्रवर्त्तिनी साध्वीगण के नेतृत्व के साथ-साथ तत्सम्बन्धी अन्य क्रियाकलापों को पूर्ण करने में भी अपनी भूमिका अर्जित करती है।

संक्षेपत: प्रवर्त्तिनी श्रमणी-संघ के संरक्षण का पूर्ण दायित्व अदा करती है तथा उस संघ में उसका आदेश अन्तिम और सर्वमान्य भी होता है।

विविध दृष्टियों से प्रवर्त्तिनी पद की प्रासंगिकता

श्रमण धर्म में साध्वी समुदाय के संचालन की अपेक्षा प्रवर्त्तिनी पद का विशिष्ट महत्त्व है। प्रवर्त्तिनी पद से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि जिनशासन में पुरुष और स्त्री को समादर करते हुए स्त्रियों को भी उच्च पदों पर आसीन किया गया है।

प्रवर्त्तिनी पद का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन किया जाए तो सर्वप्रथम तो प्रवर्त्तिनी पद के माध्यम से स्त्री एवं पुरुष वर्ग की असमानता के कारण उत्पन्न मानसिक तनाव कम होता है। स्त्रीत्व-सम्बन्धी कई समस्याएँ जो आचार्य के समक्ष नहीं रखी जा सकती उनका समाधान पाने तथा अन्य साध्वी मण्डल को मानसिक यातना से दूर रखने में उनकी अहम् भूमिका होती है। महिलाओं के हाथ में यदि कोई पद-व्यवस्था हो तो वे उसका निर्वाह अधिक श्रेष्ठता से कर सकती हैं, क्योंकि महिला जाति संवेदनशीलता, कोमलता, मातृत्वपना आदि प्रकृतिगत गुणों से अन्य की मनःस्थिति भापने में अधिक सक्षम होती हैं।

यदि प्रवर्त्तिनी पद का वैयक्तिक प्रभाव देखा जाए तो प्रवर्त्तिनी को आचार्य के समान माना गया है, अत: उनका प्रभाव एवं महत्त्व भी उन्हीं के समकक्ष है। प्रवर्त्तिनी के आचार कुशल होने से उसकी ख्याति फैलती है तथा असंक्लिष्ट चित्तयुक्त एवं प्रवचन प्रवीण होने से स्व-पर के क्लिष्ट भावों का दमन कर सकती है। इसी के साथ सहयोग, सामंजस्य आदि के भावों में वृद्धि होती है। सुयोग्य प्रवर्त्तिनी के समीप रहने से पारिवारिक जीवन में गाम्भीर्य, माधुर्य, औदार्य आदि गुण विकसित होते हैं।

प्रवर्त्तिनी पद का सामाजिक योगदान उल्लेखनीय है। सर्वप्रथम तो वह संघ संचालन में आचार्य का सहयोग करते हुए महिला क्षेत्र को अधिक विकसित कर सकती है। गच्छ में संगठन एवं अनुशासन रखते हुए साध्वियों को मर्यादा में रखती है तथा श्राविका समाज को धर्म एवं संयम में जोड़ती है जिससे पूर्ण

समाज ही धर्म से जुड़ता है। सामान्य व्यवहार में भी कहा जाता है कि एक शिक्षित महिला पूरे परिवार को सही शिक्षा दे सकती है। प्रवर्त्तिनी समस्त साध्वी मण्डल की अधिनायिका के रूप में प्रत्येक क्षेत्र में उनका नेतृत्व करती हैं और उन्हें श्रेष्ठ कार्यों हेतु प्रोत्साहित करती हैं।

प्रवर्त्तिनी पद की गरिमा एवं महत्त्व का आलेखन यदि प्रबन्धन की दृष्टि से करें तो समाज प्रबन्धन, समुदाय प्रबन्धन, महिला प्रबन्धन आदि कई क्षेत्रों में इसकी उपादेयता परिलक्षित होती है। समुदाय प्रबन्धन की दृष्टि से प्रवर्त्तिनी के समान गीतार्था, उन्नायिका एवं प्रणेता मिलने से श्रमणी संघ को सही मार्गदर्शन मिलता है। मतिभ्रम या गलतफहमी के कारण यदि पारस्परिक कलह आदि की परिस्थिति बन भी जाए तो वह सही निर्णय लेने में समर्थ होने से तथा दण्ड आदि देने में सक्षम होने से उद्दण्डता, अपराध आदि पर नियन्त्रण करती है।

नारी प्रबन्धन के क्षेत्र में प्रवर्त्तिनी पद का सहयोग हो सकता है। जिस प्रकार अध्यात्म के क्षेत्र में नारी को शासन प्रणाली में सहायक माना गया है वैसे ही राजनीति एवं सामाजिक कार्यों में नारी को शासन प्रणाली का अंग बनाकर राष्ट्र उत्थान एवं समाज प्रबन्धन में विशेष योगदान प्राप्त कर सकते हैं। प्रवर्त्तिनी द्वारा श्रमणी गण का संचालन होने से महिला शक्ति की असीमता का ज्ञान होता है तथा कई सृजनात्मक कार्यों में महिला शक्ति के उपयोग की प्रेरणा भी मिलती है।

वर्तमान समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में यदि प्रवर्त्तिनी पद के महत्त्व पर प्रकाश डाला जाए तो यह नारियों पर बढ़ते अत्याचार, उनकी शक्ति को दबाने के जो प्रयत्न किये जाते हैं उन पर एक कड़ा प्रहार हो सकता है। यद्यपि वर्तमान में नारी मात्र गृहशोभा बनकर नहीं रह गयी हैं, पर आज नारी की पूजनीयता एवं आदर-सम्मान कम होता जा रहा है तथा समाज अधिकार देने के नाम पर उनका और अधिक शोषण कर उन्हें अपने स्तर से गिर रहा है, ऐसी स्थिति में प्रवर्त्तिनी के समान उच्च पदों पर स्वार्थ त्यागकर कार्य हो तो नारी शोषण को रोका जा सकता है। नारी प्राकृतिक रूप से सामञ्जस्य स्थापित करने की कला लेकर आती है, अत: सामञ्जस्य एवं सौहार्द्र स्थापित करने में सहयोग प्राप्त हो सकता है। इस पद के माध्यम से संस्कारों को दृढ़ करने में भी विशेष सहायता प्राप्त हो सकती है।

प्रवर्त्तिनी पद हेतु आवश्यक योग्यताएँ

जिनमत में शासन-व्यवस्था एवं संघ-संचालन की दृष्टि से अनेकविध पदारोपण संस्कार किये जाते हैं, उनमें साध्वी वर्ग के सम्यक् संचालन हेतु महत्तरा, गणिनी या प्रवर्त्तिनी पद का संस्कार होता है। यह साध्वी संघ के दायित्व निर्वहन का विशिष्ट पद है अतः प्रवर्त्तिनी को प्रभूत गुणों से सम्पन्न होना चाहिए।

व्यवहारभाष्य के अनुसार जो निशीथचूला को सूत्रतः एवं अर्थतः पढ़ चुकी हो तथा गच्छ में बहुमान्य हो वह गुणयुक्त साध्वी प्रवर्त्तिनी पद के योग्य है।[11]

पंचवस्तुक के उल्लेखानुसार प्रवर्त्तिनी पद पर स्थापित करने योग्य साध्वी गीतार्था, प्रतिलेखना आदि क्रियाओं की अभ्यासी, उत्तम कुलवती, उत्सर्ग-अपवाद मार्ग की ज्ञाता, गम्भीर,चिरदीक्षिता और वयोवृद्ध होनी चाहिए।[12]

विधिमार्गप्रपा में गीतार्थ आदि उक्त गुणों से युक्त साध्वी को इस पद के योग्य कहा गया है।[13]

धर्मसंग्रह में गीतार्था, कुलवती, क्रियाओं में कुशल, प्रौढ़ बुद्धि वाली, गम्भीर हृदयवाली एवं उभयता वृद्ध (दीक्षा और वय दोनों से वृद्ध) साध्वी को प्रवर्त्तिनी पद के लिए सुयोग्य माना गया है।[14]

आचारदिनकर के मतानुसार जो इन्द्रियों को जीतने वाली हो, विनीता हो, कृतयोगिनी हो, आगम अभ्यासी हो, मधुरभाषी हो, स्पष्टवक्त्री हो, करुणाशील हो, धर्मोपदेश में निरत हो, गुरु एवं गच्छ के प्रति स्नेहशील हो, शान्त हो, विशुद्ध शीलवती हो, क्षमावान हो, अत्यन्त निर्मल हो, अनासक्त हो, लेखन आदि कार्यों में उद्यमशील हो, रजोहरण आदि उपधि बनाने में सक्षम हो, विशुद्ध कुल में उत्पन्न एवं सदा स्वाध्यायरत हो- ऐसी साध्वी प्रवर्त्तिनी पद के लिए योग्य होती है।[15]

सामान्य रूप से जो आचार कुशल, प्रवचन प्रवीण, असंक्लिष्ट चित्त वाली एवं स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग आदि सूत्रों की ज्ञाता हो वह साध्वी प्रवर्त्तिनी पद के योग्य है।

अयोग्य को प्रवर्त्तिनीपद देने से लगने वाले दोष

आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि जो साध्वी यथोक्त गुणों से हीन हो, उसे प्रवर्त्तिनी पद पर स्थापित करने से आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व, संयम

विराधना आदि दोष लगते हैं। यह साधारण पद नहीं है, अपितु चन्दनबाला आदि उत्तम साध्वियों के द्वारा धारण किया गया महत्त्वपूर्ण पद है। इस पद के महत्त्व को जानते हुए भी यदि गुरु अयोग्य शिष्या को इस पद पर प्रतिष्ठित करते हैं, वे महापापी हैं और प्रवर्त्तिनी पद के विराधक बनते हैं।

जो साध्वी पूर्वोक्त गुणों से रहित होने पर भी प्रवर्त्तिनी पद पर आरूढ़ होती है और अंगीकृत पद का विशुद्ध भाव से अनुपालन नहीं करती है वह भी महापापिनी कही गयी है।[16] कहने का भाव यह है कि जो 'प्रवर्त्तिनी' पद चन्दनबाला आदि महासतियों द्वारा वहन किया गया है, महापुरुषों के नाम से शोभित है, उस पद पर अपात्र की स्थापना करने से उसकी लघुता प्रकट होती है तथा चिरकालीन गरिमा धूमिल हो जाती है। फलत: उसके व्युच्छित्ति का प्रसंग भी उपस्थित हो सकता है। इस कारण पददाता एवं पदग्राही को महापापी कहा है अत: सुयोग्य साध्वी को ही प्रवर्त्तिनी पद पर आसीन करना चाहिए।

प्रवर्त्तिनीपद हेतु शुभ मुहूर्त्त का विचार

योग्य साध्वी को किस मुहूर्त्त में प्रवर्त्तिनी पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए? इस सम्बन्ध में प्राचीनसामाचारी एवं विधिमार्गप्रपा में कहा गया है कि शुभ तिथि आदि के दिन यह विधि सम्पन्न की जाए किन्तु तद्योग्य शुभ दिनादि कौन-कौन से हैं? इसका वर्णन नहीं किया गया है।

तदुपरान्त विधिमार्गप्रपा में वाचनाचार्यपद-विधि के समान इस पद की आरोपण-विधि बतलायी गयी है उस अपेक्षा से कहा जा सकता है कि जिन शुभ योगों में वाचनाचार्य पद की स्थापना की जाती है उन्हीं श्रेष्ठ दिनों में प्रवर्त्तिनी पद की स्थापना की जानी चाहिए।

प्रवर्त्तिनी द्वारा अनुपालनीय नियम

व्यवहारसूत्र में प्रवर्त्तिनी के कतिपय नियम बतलाते हुए कहा गया है कि प्रवर्त्तिनी हेमन्त (शीतकाल) और ग्रीष्म ऋतु में कम से कम दो साध्वियों के साथ रहने पर ही विचरण कर सकती है, यदि एक साध्वी साथ हो तो विहार करने का निषेध है। प्रवर्त्तिनी के लिए वर्षावास में कम से कम तीन साध्वियों का साथ रहना आवश्यक है। यदि दो साध्वियाँ साथ हों तो पृथक् रूप से वर्षावास करना नहीं कल्पता है।[17]

कहने का आशय है कि प्रवर्त्तिनी दो साध्वियों को साथ में रखकर विचरण करे और तीन साध्वियों को साथ में रखकर चातुर्मास करे। इसी प्रकार गणावच्छेदिनी (श्रमणी का एक पद) तीन साध्वियों के साथ रहने पर विचरण करे और चार साध्वियों के साथ होने पर वर्षावास करे।[18]

यहाँ ध्यातव्य है कि गणावच्छेदिनी प्रवर्त्तिनी की प्रमुख सहायिका होती है। इसका कार्यक्षेत्र गणावच्छेदक के समान विशाल होता है और यह प्रवर्त्तिनी की आज्ञा से साध्वियों की व्यवस्था, वैयावृत्य, प्रायश्चित्त आदि सभी कार्यों की देख-रेख करती हैं, अत: गणावच्छेदिनी के लिए साध्वियों की संख्या प्रवर्त्तिनी की तुलना में अधिक कही गयी है।

इस वर्णन से यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य साध्वी भी अकेली विचरण नहीं कर सकती है, किन्तु दो साध्वियाँ सहवर्ती होकर विचरण कर सकती हैं या चातुर्मास कर सकती हैं, क्योंकि आगम में दो साध्वियों के स्वतन्त्र विचरण करने का निषेध तो नहीं है, किन्तु साम्प्रदायिक सामाचारियों के अनुसार दो साध्वियों का स्वतन्त्र विचरण एवं चातुर्मास करना निषिद्ध माना गया है। यद्यपि सेवा आदि के निमित्त एवं प्रवर्त्तिनी की आज्ञा से अपवाद मार्ग में दो साध्वियों का आना-जाना माना जाता है।[19]

प्रवर्त्तिनी के अधिकार एवं उसके अपवाद

जैनागमों में वर्तमान प्रवर्त्तिनी को यह अधिकार दिया गया है कि वह भावी प्रवर्त्तिनी का चयन कर प्रमुख साध्वियों के समक्ष उसे पद पर स्थापित करने सम्बन्धी निर्देश कर सकती है। जैसा कि व्यवहारसूत्र का पाठांश है[20] – "रूग्ण प्रवर्त्तिनी किसी प्रमुख साध्वी से कहे कि – हे आर्ये! मेरे कालगत होने पर अमुक साध्वी को मेरे पद पर स्थापित करना।"

यदि प्रवर्त्तिनी अनुमत साध्वी उस पद योग्य हो, तो ही उसे नूतन प्रवर्त्तिनी के रूप में स्थापित करना चाहिए। यदि वह प्रवर्त्तिनी पद के अनुरूप न हो, तो उसे स्थापित नहीं करना चाहिए। गीतार्थ साध्वी को भी यह अधिकार है कि यदि उसे प्रवर्त्तिनी सम्मत साध्वी पद के अनुकूल न लगे तो उसे स्थापित न करे। यदि समुदाय में अन्य कोई साध्वी प्रवर्त्तिनी पद के अनुरूप हो तो उसे स्थापित करें।

कदाच समुदाय में अन्य कोई भी साध्वी उस पद के योग्य न हो तो प्रवर्त्तिनी निर्दिष्ट साध्वी को ही उस पद पर स्थापित करें। कदाच पद पर स्थापित

करने के बाद कोई गीतार्थ साध्वी नूतन प्रवर्त्तिनी से कहे कि – "हे आर्ये! तुम इस पद के अयोग्य हो अतः इस पद को छोड़ दो।" ऐसा कहने पर यदि नूतन प्रवर्त्तिनी उस पद को परित्यक्त कर दें तो वह दीक्षा छेद या तप रूप प्रायश्चित्त की पात्र नहीं होती है।

यदि सहवर्त्तिनी साध्वियाँ उत्तरदायित्व के अनुसार अयोग्य को भी प्रवर्त्तिनी आदि पद छोड़ने के लिए न कहें तो वे सभी साध्वियाँ उक्त कारण से दीक्षा छेद या तप प्रायश्चित्त की पात्र होती हैं।

सार रूप में कहा जाए तो आचार्य गच्छ के धर्मशासक होते हैं अतः मूल रूप से उनके निर्देशानुसार प्रवर्त्तिनी पद की नियुक्ति की जाती है, किन्तु प्रवर्त्तिनी आदि भी अन्य योग्य साध्वी को प्रवर्त्तिनी पद पर नियुक्त कर सकती हैं, ऐसी व्यवस्था भी है। यदि कोई अयोग्य साध्वी प्रवर्त्तिनी पद पर अधिष्ठित हो गयी हो, तो सहधर्मिणी साध्वियों को चाहिए कि वे उसे पद त्याग हेतु निवेदन करें। चूंकि अयोग्य प्रवर्त्तिनी के आश्रय में रहने से निश्रावर्ती साध्वियाँ प्रायश्चित्त की भागी होती हैं। प्रवर्त्तिनी पद पर प्रतिष्ठित साध्वी को भी चाहिए कि वह अयोग्य घोषित किये जाने पर अपने पद का त्याग कर दें, अन्यथा उसे उतने ही दिन का तप या छेद रूप प्रायश्चित्त आता है।

प्रवर्त्तिनी पदस्थापना विधि का ऐतिहासिक अनुसंधान

जैन धर्म में प्रवर्त्तिनी पद की व्यवस्था प्राचीनतम है। प्रवचनसारोद्धार आदि कई प्राचीन ग्रन्थों में चौबीस तीर्थङ्करों के शासनकाल की प्रवर्त्तिनियों के नामों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जैसे अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर के धर्म संघ की प्रथम प्रवर्त्तिनी आर्य्या चन्दनबाला थी।

यदि जैन परम्परा के प्राचीनतम आगम-साहित्य का अवलोकन करते हैं तो वहाँ व्यवहारसूत्र को छोड़कर अंग, उपांग, छेद, आवश्यक आदि किसी भी वर्ग के शास्त्र में यह चर्चा नहीं मिलती है केवल नामोल्लेख मात्र प्राप्त होता है जैसे- भगवतीसूत्र में वर्णन आता है कि किसी साध्वी ने आहार ग्रहण करते हुए अकृत्य स्थान का सेवन किया। उसने प्रवर्त्तिनी के पास आलोचना करने हेतु तत्काल कदम बढ़ाए। प्रवर्त्तिनी के पास पहुंचने से पूर्व ही वह प्रवर्त्तिनी वात आदि दोष के कारण मूक हो गयी। तब गौतम स्वामी प्रभु से प्रश्न करते हैं कि वह साध्वी आराधिका है या विराधिका? परमात्मा महावीर कहते हैं– वह साध्वी

आराधिका है।[21] इस तरह के प्रसंग विशेष में प्रवर्त्तिनी के नामोल्लेख हैं किन्तु उसके स्वरूप, अधिकार, योग्यता आदि के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है।

व्यवहारसूत्र में भी यही कहा गया है कि प्रवर्त्तिनी को हेमन्त एवं ग्रीष्मऋतु में दो साध्वियों के साथ और वर्षाऋतु में न्यूनतम तीन साध्वियों के साथ रहना चाहिए। इसमें प्रवर्त्तिनी द्वारा भावी प्रवर्त्तिनी के निर्देशन-सम्बन्धी उल्लेख भी मिलते हैं।[22] तदनुसार प्रवर्त्तिनी को यह अधिकार होता है कि वह किसी योग्य साध्वी को प्रवर्त्तिनी पद पर आरूढ़ कर सकती है और उसके अयोग्य सिद्ध होने पर उसे पद-त्याग के लिए भी कह सकती है।

यदि हम आगमिक व्याख्या साहित्य का अवलोकन करते हैं तो वहाँ बृहत्कल्पभाष्य,[23] व्यवहारभाष्य,[24] निशीथभाष्य[25] आदि में प्रवर्त्तिनी के कार्य, प्रवर्त्तिनी के लक्षण आदि सामान्य वर्णन तो उपलब्ध होता है, किन्तु पदस्थापना-विधि के सम्बन्ध में कुछ कहा गया हो, ऐसा प्राप्त नहीं होता है। इससे इतना सिद्ध हो जाता है कि यह विधि विक्रम की 8वीं शती तक किसी भी ग्रन्थ में नहीं है।

यदि हम मध्यकालवर्ती साहित्य का परिशीलन करते हैं तो पंचवस्तुक में प्रवर्त्तिनी की आवश्यक योग्यताएँ, अयोग्य को प्रवर्त्तिनी पद पर स्थापित करने से होने वाले दोष आदि का सामान्य वर्णन ही प्राप्त होता है। इसके अनन्तर सर्वप्रथम यह विधि सामाचारीप्रकरण (प्राचीनसामाचारी) में उपलब्ध होती है जहाँ इसका सूचनमात्र करते हुए महत्तरापदस्थापना के समान इसकी विधि सम्पन्न करने का निर्देश है।[26]

इसके पश्चात विधिमार्गप्रपा में भी इस पदस्थापना विधि का विस्तृत विवेचन न करते हुए मात्र इतना ही निर्देश दिया गया है कि यह विधि प्रवर्त्तिनी पद के नामोच्चारणपूर्वक इसमें वर्णित वाचनाचार्यपदस्थापना-विधि के समान जाननी चाहिए और उस विधि के समान ही मन्त्रदान करना चाहिए।[27] विशेष यह है कि शुभ लग्न के आने पर नूतन प्रवर्त्तिनी को स्कन्धकरणी दी जाए। शेष सभी विधान वाचनाचार्यपदस्थापन-विधि की तरह समझने चाहिए।

तदनन्तर आचारदिनकर में यह विधि विस्तृत रूप से पढ़ने को मिलती है। वहाँ इस विधि के प्रारम्भ में यह बताया गया है कि कुछ आचार्यों के अनुसार प्रवर्त्तिनीपद एवं महत्तरापद की विधि एक समान हैं तथा कुछ आचार्यों के

अनुसार इसकी भिन्न-भिन्न विधियाँ हैं। जबकि इस ग्रन्थ में सर्वगच्छों के आचार्यों और उपाध्यायों की सम्मति से इससे पृथक विधि कही जाएगी।[28]

यदि उत्तरकालवर्ती साहित्य का मनन करते हैं तो वहाँ मौलिक या संकलित किसी ग्रन्थ में इसका स्वरूप नजर नहीं आता है।

इस तरह स्पष्ट होता है कि प्रवर्त्तिनीपद की व्यवस्था आगम सम्मत होने के उपरान्त भी इसकी पदविधि के स्पष्ट उल्लेख विक्रम की 10वीं शती से परवर्ती ग्रन्थों में परिलक्षित होते हैं और उनमें भी यह विधि मुख्यतया तीन ग्रन्थों में प्राप्त होती है। यद्यपि विधिमार्गप्रपा में इस विधि का विस्तृत वर्णन नहीं है तथापि सांकेतिक विधि सुव्यवस्थित रूप से उपलब्ध है तथा आचारदिनकर की अपेक्षा यह ग्रन्थ प्राचीनतम एवं विशुद्ध सामाचारी से सम्पृक्त भी है अत: विधिमार्गप्रपा के अनुसार यह विधि प्रतिपादित करेंगे।

प्रवर्त्तिनी पदस्थापना विधि

विधिमार्गप्रपा में वर्णित प्रवर्त्तिनी पदस्थापना विधि निम्नलिखित है[29]–

वासदान एवं देववन्दन – सर्वप्रथम शुभ मुहूर्त्त दिन में समवसरण की स्थापना करें। फिर प्रवर्त्तिनी योग्य साध्वी बिना सिले हुए अखण्ड वस्त्रों को पहनकर गुरु के बायीं ओर अपना आसन बिछाएँ। फिर गुरु को द्वादशावर्त्त वन्दन करे। उसके बाद नूतन प्रवर्त्तिनी खमासमणसूत्र द्वारा वन्दन करके कहे – ‘‘**इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं पवत्तिणीपय अणुजाणावणियं वासनिक्खेवं करेह**’’– हे भगवन्! आपकी इच्छा हो, तो प्रवर्त्तिनीपद की अनुमति प्रदान करने के लिए मुझ पर वासचूर्ण का निक्षेप करें। गुरु कहते हैं– **‘करेमो’** - मैं वासचूर्ण का निक्षेप करता हूँ। फिर एक खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन कर कहे – **‘इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं पवत्तिणीपयअणुजाणावणियं चेइयाइं वंदावेह’** – हे भगवन्! आपकी इच्छा हो, तो प्रवर्त्तिनीपद की अनुमति प्रदान करने हेतु मुझे चैत्यवन्दन करवाएं। तब गुरु **‘वंदावेमो’** ऐसा बोलकर उसके मस्तक पर वासचूर्ण का क्षेपण करें। फिर गुरु और शिष्या दोनों जिनमें उच्चारण एवं अक्षर क्रमश: बढ़ते हुए हों, ऐसी चार स्तुतियाँ एवं शान्तिनाथ, क्षेत्रदेवता आदि से सम्बन्धित बारह ऐसे कुल अठारह स्तुतियों द्वारा पूर्ववत देववन्दन करें।

तदनन्तर गुरु और पदग्राही साध्वी दोनों ही प्रवर्त्तिनीपद की अनुमति देने एवं लेने निमित्त अन्नत्थसूत्र बोलकर (सागरवरगम्भीरा तक) एक लोगस्ससूत्र का

कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में पुनः लोगस्स पाठ बोलें।

नन्दीश्रवण – तत्पश्चात आचार्य खड़े होकर नन्दीसूत्र सुनाने हेतु कायोत्सर्ग आगारसूत्र बोलकर एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करें और शिष्या को भी एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करवाएँ।

उसके बाद आचार्य तीन बार नमस्कारमन्त्र का उच्चारण कर लघुनन्दी का पाठ सुनाएं। वह निम्न है–

''नाणं पंचविहं पण्णत्तं, तं जहा आभिणिबोहियनाणं, सुयनाणं, ओहिनाणं, मणपज्जवनाणं, केवलनाणं त्ति'' इतना कहकर शिष्या को प्रवर्त्तिनीपद पर प्रकृष्ट रूप से स्थापित करने की अपेक्षा **'इमाइ साहुणीए पवत्तिणीय अणुण्णा नंदी पवत्तइ'**– इस साध्वी के लिए प्रवर्त्तिनी पद की अनुज्ञा रूप नन्दी प्रवृत्त होती है, ऐसा कहते हुए उसके मस्तक पर वासचूर्ण डालें।

अनुज्ञादान – उसके पश्चात आचार्य अपने आसन पर बैठकर वासचूर्ण और अक्षत को अभिमन्त्रित कर चतुर्विध संघ में वितरित करें। फिर समवसरणस्थ जिनप्रतिमा के चरणों में वासचूर्ण का क्षेपण करें।

1. उसके पश्चात प्रवर्त्तिनी योग्य शिष्या एक खमासमण देकर कहे – **'तुब्भे अम्हं पवत्तिणीपयं अणुजाणह'** – हे भगवन्! आप मुझे गच्छ के साध्वियों के प्रवर्त्तन की आज्ञा दीजिए। गुरु कहते हैं – **'अणुजाणेमो'** – मैं प्रवर्त्तिनीपद पर स्थापित होने की अनुमति देता हूँ।

2. फिर पदग्राही शिष्या एक खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन कर कहे – **'संदिसह किं भणामो?'** आप आज्ञा दीजिए, मैं क्या कहूँ? गुरु कहते हैं – **'वंदित्ता पवेयह'** – वन्दन करके प्रवेदित करो।

3. नूतन प्रवर्त्तिनी पुनः खमासमणसूत्र द्वारा वन्दन करके कहे – **'इच्छाकारेण तुब्भेहिं अम्हं पवत्तिणीपय अणुन्नायं-3''** – आपके द्वारा क्या मुझे प्रवर्त्तिनी पद की अनुमति इच्छापूर्वक दी गयी है ? ऐसा निवेदन करने पर गुरु तीन बार **'अणुन्नायं- अणुन्नायं- अणुन्नायं'** कहें। साथ ही **'खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं अत्थेणं तदुभएणं सम्मं धारणीयं चिरं पालणीयं अन्नेसिं पि पवेयणीयं'**– पूर्व पुरुषों की अनुमति से सूत्र, अर्थ एवं सूत्रार्थ के द्वारा इस पद को सम्यक प्रकार से धारण करना, चिरकाल तक इस पद का अनुपालन करना

और अन्य साध्वियों में भी इस पद का प्रवर्त्तन करना ऐसा आशीर्वाद प्रदान करें।

4. फिर एक खमासमण देकर कहे – **'इच्छामो अणुसट्ठिं'** - मैं प्रवर्त्तिनी पद विषयक हितशिक्षा की इच्छा करती हूँ।

5. पुन: एक खमासमण द्वारा वन्दन करके कहे – **'तुम्हाणं पवेइयं, संदिसह साहूणं पवेएमि'** - मैं प्रवर्त्तिनीपद की अनुज्ञा के बारे में आपको बता चुकी हूँ, अब आपकी अनुमति से चतुर्विधसंघ में इसकी जानकारी देती हूँ।

उसके पश्चात प्रत्येक प्रदक्षिणा में एक-एक नमस्कार का स्मरण करते हुए गुरु और समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दें। उस समय गुरु **'नित्थारपारगो होहि, गुरुगुणेहिं वुड्ढाहि'** – संसार सागर से पार होना और महान गुणों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त करना– ऐसा कहते हुए उसके मस्तक पर तीन बार वासदान करें और उपस्थित चतुर्विध संघ अक्षत उछालें।

6. उसके बाद पुन: एक खमासमणसूत्र द्वारा वन्दन करके कहे – **'तुम्हाणं पवेइयं, साहूणं पवेइयं, संदिसह काउस्सग्गं करेमि'** - मैंने इस पदानुज्ञा के सम्बन्ध में आपको सम्यक प्रकार से कह दिया है, चतुर्विध संघ को भी इसकी जानकारी दे दी, अब आपकी अनुमति से इस पद के स्थिरीकरण निमित्त कायोत्सर्ग करती हूँ।

7. तदनन्तर एक खमासमण पूर्वक **'पवत्तिणीपयथिरीकरणत्थं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थसूत्र'** बोलकर एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में पुन: लोगस्ससूत्र कहें।

आसन एवं मन्त्रदान – तत्पश्चात नूतन प्रवर्त्तिनी एक खमासमण देकर कहे – **'इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं निसिज्जं समप्पेह'** – हे भगवन्! आपकी इच्छा हो तो मुझे आसन समर्पित करें। तब गुरु आसन को अभिमन्त्रित कर एवं उसके ऊपर चन्दन का स्वस्तिक करके उसे प्रदान करें। नूतन प्रवर्त्तिनी आसन को मस्तक से लगाते हुए उसे बहुमानपूर्वक ग्रहण करें। फिर आसन को धारण किये हुए गुरु की तीन प्रदक्षिणा दें। उसके बाद शुभ लग्न का समय आने पर गुरु चन्दन से पूजित प्रवर्त्तिनी के दायें कर्ण में तीन बार वर्धमानविद्या मन्त्र सुनाएं। वह मन्त्र निम्न है –

''ॐ नमो भगवओ अरहओ महइ महावीर वद्धमाणसामिस्स सिज्झउ मे भगवइ महइ महाविज्जा ॐ वीरे-वीरे, महावीरे, जयवीरे, सेणवीरे,

जये-विजये जयंते अपराजिए अणिहए ओं ह्रीं स्वाहा।''

तदनन्तर इसी श्रेष्ठ लग्न में नूतन प्रवर्त्तिनी के कन्धे पर कम्बली रखें। फिर उसका नया नामकरण करें।

उसके बाद कनिष्ठ साध्वियाँ और श्रावक-श्राविकाएँ नूतन प्रवर्त्तिनी को द्वादशावर्त्त वन्दन करें। नूतन प्रवर्त्तिनी स्वयं भी ज्येष्ठ मुनिवरों एवं आर्य्यायों को वन्दन करें। इसी क्रम में गुरु हितशिक्षा दें तथा नूतन प्रवर्त्तिनी गुरुमुख से आयंबिल का प्रत्याख्यान करें।

प्रवर्त्तिनी के आवश्यक कृत्य

सामान्यतया प्रवर्त्तिनी पद पर नियुक्त होने के पश्चात पदारूढ़ साध्वी के उत्तरदायित्व बढ़ जाते हैं। अपने कर्त्तव्यपालन के प्रति वह सजग रहे एतदर्थ आवश्यक कार्यों की अनुज्ञा भी दी जाती है। आचारदिनकर के अनुसार साध्वियों को वाचना देना, धर्म का उपदेश देना, साधुओं की उपधि का संरक्षण करना, साध्वियों के लिए उपधि ग्रहण करना, साधु-साध्वियों को शिक्षा देना, श्रावक-श्राविकाओं को तप की अनुज्ञा देना इन सब कृत्यों की आज्ञा दी जाती है। ये उसके मुख्य कर्त्तव्य होते हैं।[30]

यहाँ साधु को शिक्षित करने का अर्थ है प्रवर्त्तिनी मातृतुल्य या भगिनीतुल्य होती है। गीतार्थ आदि गुणों से भी युक्त होती है अतः कोई मुनि चारित्र पालन में शिथिल हो रहा हो, गुर्वाज्ञा में निरत न हो, शैक्ष हो, बाल हो, चंचलचित्त वाला हो तो उन्हें सत्शिक्षण द्वारा संयम मार्ग में दृढ़ करना प्रवर्त्तिनी का कर्त्तव्य है।

प्रवर्त्तिनी के लिए निषिद्ध कृत्य

प्रवर्त्तिनी के लिए साध्वियों को बड़ी दीक्षा देना, उन्हें वन्दन करना, कम्बल पर बैठना और व्रत की अनुज्ञा देना- इन कार्यों का निषेध है।[31]

आचार्य जिनप्रभसूरि ने कम्बल परिमाण आसन पर बैठने का निषेध नहीं किया है। उनकी सामाचारी में नूतन प्रवर्त्तिनी को अभिमन्त्रित आसन दिया जाता है।

तुलनात्मक अध्ययन

यदि प्रवर्त्तिनी पदस्थापना विधि का तुलनात्मक अनुसंधान किया जाए तो प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर उसका निष्कर्ष इस प्रकार प्राप्त होता है–

मन्त्रदान संबंधी – प्रवर्त्तिनीपद की सिद्धि के लिए नूतन पदग्राही को पद दान के दिन मन्त्र सुनाया जाता है। इस सम्बन्ध में आचार्यों के किञ्चित मतभेद हैं जैसे– प्राचीनसामाचारी[32] एवं विधिमार्गप्रपा[33] में वर्धमानविद्या मन्त्र सुनाने का निर्देश है जबकि आचारदिनकर[34] में षोडशाक्षरी परमेष्ठी विद्या सुनाने का उल्लेख है, किन्तु परमेष्ठी विद्या का स्वरूप नहीं बताया गया है। इसमें गृहीत पद की सिद्धि एवं पूजन के लिए अठारह वलय युक्त परमेष्ठीमन्त्र का चक्रपट देने का भी वर्णन है। इस प्रकार मन्त्रदान सम्बन्धी भिन्नताएँ हैं।

आसनदान संबंधी – पूर्व पुरुषों की परम्परा का अनुसरण करते हुए एवं श्रेष्ठपद की महिमा को यथावत बनाये रखने के लिए पदग्राही को अभिमन्त्रित आसन दिया जाता है। प्राचीन सामाचारी एवं विधिमार्गप्रपा में आसनदान का स्पष्ट उल्लेख है, जबकि आचारदिनकर में प्रवर्त्तिनी हेतु इसका निषेध किया गया है।

स्कन्धकरणी संबंधी– विधिमार्गप्रपा[35] के अनुसार महत्तरापद की भांति प्रवर्त्तिनी को भी स्कन्धकरणी (कम्बली) दी जाती है जबकि प्राचीनसामाचारी एवं आचारदिनकर में स्कन्धकरणी के दान का उल्लेख नहीं है।

विधिक्रम संबंधी – प्राचीनसामाचारी आदि तीनों ग्रन्थों में इस विधि के क्रम को लेकर भी मतभेद हैं। यद्यपि प्राचीनसामाचारी एवं विधिमार्गप्रपा में वर्णित विधि क्रम में काफी कुछ साम्यता है, किन्तु आचारदिनकर की तुलना में किञ्चित असमानताएँ निम्न प्रकार हैं–

• विधिमार्गप्रपा में मन्त्रदान के पूर्व लघुनन्दी पाठ सुनाने का निर्देश है जबकि आचारदिनकर में मन्त्रदान के पश्चात लघुनन्दी सुनाने का वर्णन है।

• विधिमार्गप्रपा के अनुसार इस पदानुज्ञा के प्रारम्भ में द्वादशावर्त्त वन्दन करना चाहिए, किन्तु आचारदिनकर में यह विधि प्रवेदन के पूर्व दिखलाई गयी है।

प्रदक्षिणा संबंधी– आचारदिनकर के मतानुसार लगभग व्रतारोपण एवं पदारोहण सम्बन्धी मूल-विधि प्रारम्भ होने से पूर्व पदग्राही द्वारा समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दी जाती है, ऐसा उल्लेख विधिमार्गप्रपा में तो नहीं है, किन्तु वर्तमान की सभी परम्पराओं में यह विधि प्रचलित है।

इसके सिवाय वासदान, देववन्दन, कायोत्सर्ग, अनुज्ञापन, नन्दीपाठ, आदि

को लेकर लगभग समानता है। केवल देववन्दन की क्रिया में सामाचारी भेद है।

यदि पूर्वनिर्दिष्ट परम्पराओं की अपेक्षा इस पद विधि की तुलना की जाए तो कह सकते हैं कि जैन धर्म के मूर्तिपूजक सम्प्रदाय की लगभग सभी परम्पराओं में यह पद प्रवर्तित है। श्वेताम्बर परम्परावर्ती स्थानकवासी, तेरापंथी परम्पराओं में इस पद का प्रचलन तो है किन्तु उस दिन चादर ओढायी जाती है।

दिगम्बर परम्परा में यह पद व्यवस्था नहीं है, वहाँ आर्यिकाओं में महत्तरातुल्य गणिनी पद का प्रवर्त्तन है।

वैदिक परम्परा में भी इस प्रकार के पद का अभाव है, क्योंकि उनमें भिक्षुणी संघ की कोई व्यवस्था ही नहीं है।

बौद्ध परम्परा में प्रवर्त्तिनी पद का स्पष्ट वर्णन है। यहाँ प्रवर्तिनी को उपाध्यायिनी या उपाध्याया कहा गया है। पात्तिमोक्ख आदि बौद्ध-साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इस संघ में प्रवर्त्तिनी की निश्रा भिक्षुणियों के लिए आवश्यक मानी गयी है। श्रामणेरी एवं शैक्षमाणा प्रवर्त्तिनी की नैश्राय में ही नियमों का शिक्षण लेती है। बारह वर्ष की उपसम्पन्न भिक्षुणी प्रवर्त्तिनी बन सकती है तथा संघ की अनुमति से वह शिक्षमाणा को उपसम्पदा प्रदान कर सकती है। उपसम्पदा प्रदान करने के पश्चात प्रवर्त्तिनी को पांच या छः योजन तक उसके साथ यात्रा करने का विधान है, अन्यथा उसको पाचित्तिय का दण्ड लगता है।[36]

इस तरह हम देखते हैं कि जैन धर्म की श्वेताम्बर एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं में प्रस्तुत पद का महनीय स्थान रहा हुआ है। दोनों संघों में प्रवर्त्तिनी का मुख्य कर्त्तव्य निश्रावर्ती शिष्याओं को चारित्र सम्बन्धी विशिष्ट नियमों का ज्ञान प्राप्त करवाना एवं उनका सम्यक प्रवर्त्तन करना है।

उपसंहार

प्रवर्त्तिनी, जैन संघ की साध्वी परम्परा का सर्वोच्च पद है। इस पद का उद्देश्य श्रमणी-संघ की व्यवस्था को सुगठित बनाये रखना है।

प्रवर्त्तिनी का मुख्य कार्य निश्रावर्ती साध्वियों का सम्यक् संचालन और वाचना प्रदान करना है। गरिमा की दृष्टि से इसे आचार्य के तुल्य स्थान दिया गया है, किन्तु वाचना की दृष्टि से इसका स्थान वाचनाचार्य के समकक्ष माना गया है। यद्यपि वाचनाचार्य की अपेक्षा प्रवर्तिनी के दायित्व सीमित होते हैं, परन्तु दोनों का मुख्य कार्य शिष्य एवं शिष्याओं को वाचना देना है।

सामान्यतया वाचनाचार्य द्वारा साध्वियों को भी वाचना दी जाती है, किन्तु देश-काल की अपेक्षा उनकी भी कुछ मर्यादाएँ होती है तथा जरूरत के अनुसार वाचनाचार्य का सान्निध्य प्राप्त हो ही, यह सम्भव नहीं है। इस व्यवहार को ध्यान में रखते हुए प्रवर्त्तिनी पद की व्यवस्था का सूत्रपात हुआ मालूम होता है। इससे साध्वियाँ भी अधिकाधिक समय तक वाचना ग्रहण कर सकती हैं।

कुछ जन प्रवर्त्तिनी और महत्तरा दोनों पदों को समान मानते हैं और कुछैक दोनों पदों को पृथक्-पृथक् स्वीकारते हैं। खरतरगच्छ आम्नाय में दोनों पदों को भिन्न-भिन्न माना गया है जो पर्याय, अधिकार आदि की अपेक्षा उचित प्रतीत होता है।

सन्दर्भ-सूची

1. *निर्ग्रन्थीवर्गेऽपि पंच पदानि, तद्यथा- प्रवर्त्तिनी, अभिषेका, भिक्षुणी, स्थविरा, क्षुल्लिका च। बृहत्कल्पभाष्य, 6111 की चूर्णि*
2. *पंच संजतीओ इमा- खुड्डी, थेरी, भिक्खुणी, अभिसेगी, पवत्तिणी।*
निशीथसूत्र, 4/5332 की चूर्णि
3. *संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 673*
4. *पाइयसद्दमहण्णवो, पृ. 574*
5. *प्रवर्त्तयति साधूनाचार्योपदिष्टेषु वैयावृत्याऽदिषु प्रवर्त्ती।*
स्थानांगसूत्रवृत्ति, 4/3/पृ. 232
6. *गणमहत्तरिकायाम् आचार्यस्थानीयायां सकलसाध्वीनां नायिकायाम्।*
बृहत्कल्पभाष्य, गा. 4339 की टीका
7. *तव नियम विणयगुणनिहि, पवत्तया नाणदंसण चरित्ते।*
संगहुवग्गहकुसला, पवत्ति एयारिसा हुंति।।
व्यवहारभाष्य, गा. 958
8. *बृहत्कल्पभाष्य, गा. 1043-1044*
9. *वही, गा. 1071, 2222-2231*
10. *व्यवहारभाष्य, गा. 1589-1590 की टीका*
11. *व्यवहारभाष्य, 2310, 2314 वृत्ति*
12. *पंचवस्तुक, गा. 1317*
13. *विधिमार्गप्रपा–सानुवाद, पृ. 213*
14. *गीतार्था कुलजाऽभ्यस्त, सत्क्रिया पारिणामिकी।*
गम्भीरोभय तो वृद्धा, स्मृताऽऽर्याऽपि प्रवर्तिनी।।
धर्मसंग्रह अधिकार 3/गा.137, पृ. 519

15. आचारदिनकर, भा. 1, पृ. 119
16. (क) पंचवस्तुक, गा. 1318, 1321
    (ख) विधिमार्गप्रपा–सानुवाद, पृ. 213-214
    (ग) धर्मसंग्रह अधिकार 3/138, पृ. 520
17. व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 5/1-2,5-6
18. वही, 5/3-4,7-8
19. वही, पृ. 359
20. व्यवहारसूत्र, 5/13,पृ. 362
21. भगवतीसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 8/6/10
22. व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 5/2,6,13
23. बृहत्कल्पभाष्य, 6111 की चूर्णि
24. व्यवहारभाष्य, 2310, 2314 की टीका
25. निशीथभाष्य, 5332 की चूर्णि
26. सामाचारीप्रकरण, पृ. 29
27. विधिमार्गप्रपा–सानुवाद, पृ. 206
28. आचारदिनकर, पृ. 119
29. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 206
30. आचारदिनकर, पृ. 119
31. वही, पृ. 119
32. प्राचीनसामाचारी, पृ. 29
33. विधिमार्गप्रपा–सानुवाद, पृ. 206
34. आचारदिनकर, पृ. 119
35. विधिमार्गप्रपा–सानुवाद, पृ. 206
36. (क) पवत्तिनी नाम उपज्झाया वुच्चति। पाचित्तिय पालि, पृ. 448
    (ख) पातिमोक्ख, भिखुनी पाचित्तिय, 74-75

उद्धृत- जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ, पृ. 139

अध्याय-11

पदारोहण सम्बन्धी विधियों के रहस्य

पदस्थापित करने से पूर्व केशलोच की आवश्यकता क्यों ?

जिस प्रकार दीक्षा से पूर्व केशलोच किया जाता है, वैसे ही श्रमण या श्रमणी का आचार्य आदि पद पर स्थापित करने से पूर्व केशलोच करते हैं उसके निम्न कारण हो सकते हैं -

- लोच के द्वारा पदग्राही को यह आभास करवाया जाता है कि अब तुम पर विशेष कार्यभार सौंपा जा रहा है। यदि तुम्हारे भाव किसी प्रकार के कषाय आदि से जुड़े हुए हों तो उन्हें दृढ़ प्रयत्न से समाप्त कर देना है। इसी के साथ यह भी संकेत दिया जाता है कि तुम्हारे भीतर शासन दायित्व की योग्यता विकसित हो चुकी है और चित्त की मलीन वृत्तियाँ निर्मलता का आश्रय पा चुकी है उन संस्कारों को स्थायित्व प्रदान करने के प्रतीक रूप में लोच किया गया है। यहाँ लोच के द्वारा द्रव्य रूप में बाह्य केशों का उत्पाटन तथा निश्चय से पद निर्वाह में बाधक क्रोध आदि कषायों के उत्पाटन के भाव किये जाते हैं।
- पदस्थापना के अवसर पर लोच करने का दूसरा हेतु यह कहा जा सकता है कि पर्यूषण का समय या कोई नूतन दीक्षा आदि न होने पर भी लोच किये हुए मुनि को देखकर संघ में यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि यह पदग्राही मुनि है। इससे यह भी सूचित होता है कि यह पद विधि पूर्वक दिया गया है तथा इसे सहज रूप में प्राप्त नहीं किया जाता।
- लोच के द्वारा मस्तिष्कीय पिच्युटरी एवं पिनीयल ग्रन्थी (Glands) तथा हायपोथैलेमस (Hypothalamus) का स्राव सन्तुलित होता है, जिससे अप्रमत्तता बढ़ती है।

पदग्राही मुनि पर वासनिक्षेप क्यों किया जाए?

वर्तमान की जैन परम्परा में वास निक्षेप बहुत प्रचलित है। प्रत्येक मांगलिक कार्य से पूर्व वासचूर्ण ग्रहण करने की क्रिया गृहस्थ एवं मुनिवर्ग दोनों में मिलती

है अत: विशेष कार्यभार या प्रमुख पद संभालने से पूर्व तो यह आवश्यक हो ही जाता है।

• यह एक विशिष्ट अभिमन्त्रित चूर्ण है जिसमें आचार्य आदि की साधना के विशिष्ट परमाणुओं की शक्ति भी होती है।

• इसके माध्यम से नूतन पदधारी को गुरुजनों की मंगल कामनाएँ एवं उनका अन्त: आशीष प्राप्त होता है तथा यह एक गीतार्थ सम्मत परम्परा भी है।

• श्रद्धा के बल पर कई कार्य सिद्ध होते हैं, यह भी एक प्रकार से गुरु के प्रति श्रद्धा, समर्पण एवं विनय की अभिव्यक्ति है।

• हम अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी में देखते हैं कि मोबाइल आदि से कुछ ही क्षणों (Seconds) में व्यक्ति दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने में बात कर सकता है। जब अजीव पदार्थों में और उनसे निःसृत होने वाली किरणों में इतनी शक्ति है तो फिर सजीव चेतन सत्ता के परमाणुओं में तो उससे अनन्त गुणा शक्ति होती है जो कि वर्तमान में Telepathy आदि के द्वारा सिद्ध हो चुकी है। इसी प्रकार वासचूर्ण भी अपना प्रभाव डालता है तथा उसे मंत्रित करने के लिए उपयुक्त मन्त्रों का प्रभाव भी इसमें होता है।

पदस्थापना के समय प्रवर्तिनी एवं महत्तरा को स्कन्धकरणी एवं कम्बलयुक्त आसन क्यों दिया जाता है ?

प्रवर्तिनी एवं महत्तरा पदस्थापना के दौरान उन्हें स्कन्धकरणी देने के पीछे निम्न तथ्य अन्तर्भूत होने चाहिए।

• सामान्य व्यवहार में हम देखते हैं कि किसी का भी बहुमान या सम्मान करने के प्रतीक स्वरूप शाल आदि दी जाती है वैसे ही प्रवर्त्तिनी या महत्तरा को भी महत्त्वपूर्ण पद पर स्थापित करने के बहुमान स्वरूप स्कन्धकरणी प्रदान की जाती है।

• स्कन्धकरणी कन्धे पर धारण की जाती है। कन्धे कार्यभार को सम्भालने के प्रतीक हैं। स्कन्धकरणी प्रदान करते हुए नूतन पदारूढ़ महत्तरा या प्रवर्त्तिनी साध्वी को यह मूक सन्देश दिया जाता है कि अब से आप पर श्रमणी समुदाय का विशेष भार है। जैसे कंबली संयम जीवन में उपयोगी है और शीतकाल आदि कई स्थितियों में शरीर की रक्षा करती है वैसे ही तुम भी श्रमणियों के संयम उपकारी बनते हुए उनका सुखपूर्वक निर्वाह करना।

• इसी तरह एक कंबल परिमाण का आसन देने के पीछे भी उनके पद आरूढ़ होने एवं समस्त श्रमणियों में उच्च पदस्थ होने का सूचन किया जाता है।

• जिस प्रकार वरिष्ठ या सम्माननीय लोगों को सामान्य लोगों से ऊँचे आसन पर बिठाया जाता है वैसे महत्तरा एवं प्रवर्तिनी भी समस्त श्रमणी संघ का वहन करने एवं कई विशिष्ट गुणों एवं अधिकारों से युक्त होने के कारण उच्च आसन पर शोभायमान होती है, अत: कंबल परिमाण आसन प्रदान किया जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि प्रवर्तिनी को दो कंबल परिमाण एवं महत्तरा को एक कंबल परिमाण आसन क्यों ? सम्भवत: पद की उच्चता दर्शाने एवं दोनों पदों में अन्तर दिखाने के प्रयोजन से यह भेद हो सकता है, क्योंकि प्रवर्तिनी का कार्यभार एवं अधिकार महत्तरा से अधिक होता है। ज्ञान आदि की अपेक्षा भी प्रवर्तिनी महत्तरा से विशिष्ट हो सकती है इसलिए दो कंबल प्रमाण आसन दिया जाता है।

पदस्थापना, व्रतारोपण, योगवहन आदि क्रियानुष्ठानों में नन्दीसूत्र सुनाने की परम्परा कब से?

नन्दी शब्द आनन्द या मंगल का सूचक है। इसी के साथ यह ज्ञान का प्रतिपादक भी है। दीक्षा, पदस्थापना आदि में उपस्थित ज्येष्ठ गुरु या पद दाता गुरु के द्वारा नन्दिसूत्र सुनाया जाता है। इसके पीछे निम्न प्रयोजन देखे जाते हैं–

• प्रथम हेतु यह है कि ज्ञानयुक्त क्रिया ही लौकिक एवं लोकोत्तर सुख देने में समर्थ है।

• मुनि जीवन में ज्ञानार्जन एवं स्वाध्याय का विशेष महत्त्व है। आगमों में साधु को चार प्रहर स्वाध्याय के लिए कहा गया है। नन्दीसूत्र सुनाने के रूप में गुरु भगवन्त केवल नन्दीसूत्र का श्रवण ही नहीं करवाते, अपितु नूतन पदधारी या व्रतधारी के जीवन में सम्यक् ज्ञान का संचार भी करते हैं।

• नन्दीसूत्र एक ऐसा आगम है जिसमें सभी आगमों का सारभूत उल्लेख है। पद दाता उनका रहस्य श्रोता के जीवन में उंडेलने का प्रयत्न करते हैं।

वर्तमान में पूर्ण नन्दीसूत्र न सुनाकर उसका अंश विशेष सुनाया जाता है ऐसा क्यों ?

• पूर्वकाल में स्मरण शक्ति तीव्र होने से मुनियों को आगम पाठ कण्ठस्थ होते थे अत: सुनाने में समय कम लगता था। वर्तमान में विषम काल के दुष्प्रभाव से क्रमश: स्मृति मन्द होने के कारण कण्ठाग्र प्रणाली कम हो गयी है।

• इसी के साथ आजकल दीक्षा, पदस्थापना आदि प्रसंगों में अन्य आडम्बर अधिक बढ़ गए है एवं मूल विधान गौण होते जा रहे हैं। लोगों की रुचि ऐसे कार्यक्रमों में अधिक होती है जो उन्हें समझ में आए एवं उनके मन के अनुकूल हो। धार्मिक अनुष्ठानों में उनकी रुचि नहीवत् ही होती है। साथ ही आज की Busy life style में लोगों के लिए अधिक समय निकालना भी नामुमकिन है अत: वर्तमान में नन्दीसूत्र का भाग विशेष ही सुनाया जाता है। यदि उपस्थित जन समुदाय की स्थिरता हो तो पूर्ण पाठ सुनाना चाहिए।

दाएँ कान पर चन्दन लगाकर ही सूरिमन्त्र क्यों सुनाया जाता है?

• सूरिमन्त्र एक विशिष्ट मन्त्र है और मन्त्रशक्ति का अपना अद्भुत प्रभाव होता है। इसके प्रत्येक पद में अनेक लब्धियाँ छिपी हुई है। इस मन्त्र साधना के बाद ही आचार्य की तद्रूप योग्यता एवं क्षमता प्रकट होती है और शासन प्रभावना में सहायक बनती है अत: इसकी महिमा अनन्त है।

• इसे कान में श्रवण करवाने का एक कारण यह हो सकता है कि यदि यह मन्त्र सभी के समक्ष दिया जाए तो अयोग्य या कुटिल व्यक्ति द्वारा इसका दुरूपयोग किया जा सकता है और उससे मन्त्रशक्ति का प्रभाव कम हो सकता है इसलिए यह मन्त्र लिखित रूप में भी नहीं दिया जाता है।

• दाहिना अंग शुभ माना गया है इसी के साथ यह वीरता का भी सूचक है। फिर सूरिमन्त्र एक उत्तम मन्त्र हैं अत: दाहिने अंग में श्रवण करवाया जाता है। कर्ण को चन्दन वेष्ठित करने पर चन्दन की शीतलता एवं सुगन्ध से कान के परमाणु अधिक पवित्र बनते है तथा वैसे गुणों की प्राप्ति होती है। कान सुनने का सशक्त माध्यम है। इससे व्यक्ति अच्छी और बुरी दोनों बाते सुनता है अत: सूरिमन्त्र श्रवण करवाने से पूर्व कर्ण शुद्धि की अपेक्षा से तथा अशुभ पुद्गलों के संहरण के लिए भी कान को चन्दन लेप से वेष्ठित किया जा सकता है।

आचार्य पदस्थापना विधि के दौरान पूर्व आचार्य नूतन आचार्य को वन्दन क्यों करते हैं?

आचार्य पदस्थापना की मुख्य विधि सम्पन्न होने के पश्चात पूर्वाचार्य नूतन आचार्य को वन्दन करके अव्यक्त रूप में कई सन्देश देना चाहते हैं। सर्वप्रथम तो संघ में यह सूचित करते हैं कि अब यह कोई सामान्य मुनि नहीं

है, पंचपरमेष्ठि में तीसरे पद के धारक हो गये हैं अत: मेरे लिए सम्माननीय और आप सभी के लिए भी विशेष पूजनीय है।

नूतन आचार्य को यह सूचित करते हैं कि अब तुम मेरे समकक्ष हो, तुम्हारा पद एवं दायित्व बढ़ गया है। अत: तुम्हें और अधिक जागरूक एवं अप्रमत्त बनना है तथा तुम्हें इस पद के अनुरूप विनय गुण में वर्धन करना है। इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति के रूप में गुरु ज्येष्ठ होकर भी नूतन पदधारी को वन्दन करते हैं।

सूरिमन्त्र एवं घनसार युक्त चन्दन से अक्षतों का अभिमन्त्रण क्यों?

सूरिमन्त्र की अपनी विशिष्ट शक्ति है। उस मन्त्रशक्ति से अभिमन्त्रित अक्षतों में भी विशेष प्रभाव उत्पन्न होता है। उसमें चन्दन घनसार मिलाने पर उसकी सुगन्ध से वातावरण में अद्भुत शक्ति का निर्माण होता है। दूसरे, यह एक विशिष्ट पद का अनुष्ठान है। इस पद के साथ सम्पूर्ण संघ की गरिमा जुड़ी हुई है। जिन अक्षतों से नूतन पदधारी को बधाया जाए, उनमें लोगों के शुद्ध भावों का मिश्रण हो जाने से वे आचार्य पद के निर्विघ्न पालन में सहयोग प्रदान करते हैं। जिस प्रकार अक्षत अखण्ड और पुन: उत्पन्न नहीं होते, वैसे ही नूतन पदधारी सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि में अखण्ड रहें, गृहीत पद या व्रत को सम्यक् प्रकार से धारण करें और संसार सागर से शीघ्र पार होवें इन भावों से अक्षतों को अभिमन्त्रित कर फिर बधाते हैं।

अक्षत यह अन्न रूप है तब सामान्य जन के द्वारा नूतन पदधारी साधु-साध्वियों को अक्षतों से बधाने का अभिप्राय क्या है?

• यह बात सत्य है कि चावल अन्न है और भारतीय परम्परा में अन्न को देवता माना गया है। तब बधाते समय चावलों का प्रयोग ही क्यों किया जाता है? इसके कई कारण हो सकते हैं।

• अक्षत अभिमन्त्रण का वर्णन हमें पांचवीं-छठीं शती के बाद के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। उस समय श्रमण-परम्परा में वैदिक-परम्परा के क्रियाकाण्डों का प्रभाव लोक-व्यवहार वश आने लगा था, अत: यह क्रिया उस काल परिस्थिति में विशेष कारणों से स्वीकार की गयी हो और तदनन्तर परम्परा बन गयी हो।

• पूर्वकाल में बहुमान प्रकट करने के लिए राजा एवं श्रेष्ठियों द्वारा मोती आदि से बधाने का वर्णन आता है उस स्थिति में सामान्य जनता के मन में खेद उत्पन्न न हो इस हेतु से चावल जो कि सभी के लिए सहज उपलब्ध है उसका विधान किया गया होगा।

• अक्षतों का निक्षेप करने से आचार्य एवं गृहस्थ दोनों के उत्साह एवं प्रमोद भावों में वृद्धि होती है।

* इसमें गृहस्थ द्वारा उपयोग एवं विवेक रखा जाना चाहिए कि वे अधिक चावल नहीं उछालें और कार्यक्रम समाप्ति के बाद उन्हें तुरन्त उठवा दें जिससे कि पैरों में न आए।

पदारोहण के दिन नूतन आचार्य के द्वारा दाहिने हाथ में स्वर्ण कंकण एवं मुद्रिका धारण करने का क्या रहस्य है?

मुनि के लिए आचार्य पदग्रहण पुनर्दीक्षा के समान है। आचार्य पद के अनन्तर उसके आचार पालन की संहिताओं में वृद्धि होती है। साथ ही आचार-विचार एवं दायित्व भी बदलते हैं। कई बार नाम परिवर्तन भी किया जाता है। इस प्रसंग पर उनके तन एवं मन दोनों का शुद्धिकरण होना आवश्यक है। मन्त्र आदि के द्वारा भाव शुद्धि की जाती है तथा शरीर शुद्धि के द्वारा द्रव्य शुद्धि की जाती है और द्रव्य भाव में सहायक बनता है।

• एक नवीन जीवन प्रारम्भ करने से पूर्व दुष्कृत मल आदि का निष्कासन हो जाए इस हेतु से भी शुद्धिकरण किया जाता होगा।

• कंकण एवं मुद्रिका आदि धारण करने का जो उल्लेख है, यह यति-परम्परा का प्रभाव मालूम होता है। ५वीं-६ठीं शती के बाद यतियों का प्रभाव समाज में देखा जाने लगा था। वही प्रणाली मुनि जीवन में भी आई होगी, क्योंकि कई यति प्रतिबोधित होकर मुनि बनते थे और इन्हीं कारणों के चलते यह विधि प्रचलन में आई होगी।

• स्वर्ण को एक शुद्ध धातु मानते हैं। वह किसी भी प्रकार की बाह्य अशुद्धियों से प्रभावित नहीं होता। स्वर्ण को जितना तपाया जाए वह उतना ही शुद्ध होता जाता है, उसी प्रकार पदग्राही भी बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित न होकर स्वर्ण की भाँति स्वयं को कर्म पुद्गलों से दूर रखते हुए शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करे। इस उद्देश्य से स्वर्ण धारण की उपयोगिता कही जा सकती है।

दूसरे जिस प्रकार हाथ कंकण एवं मुद्रा से शोभायमान होता है वैसे ही उनसे गच्छ एवं संघ की शोभा बढ़े।

निर्वाणकलिका के अनुसार नूतन आचार्य को छत्र, चामर, हाथी, खड्ग, अश्व, पादुका, शिबिका, राजचिह्न, खटिका आदि सामग्री प्रदान की जाती थी। मुनि जीवन में इन साधनों की क्या उपादेयता हो सकती है?

यह परम्परा विक्रम की ८वीं शती के आस-पास पादलिप्ताचार्य के युग में प्रचलित थी। इसका कारण यह हो सकता है कि उस समय राजा-महाराजाओं का अत्यधिक वर्चस्व होने से उनका अमिट प्रभाव धर्माचार्यों पर भी होता था। आचार्य जो कि तीर्थङ्कर के समान माने जाते हैं एवं चतुर्विध संघ या गच्छ के नायक या राजा रूप होते हैं। इसी तुल्यबल को दर्शाने एवं बहुमान हेतु उनके अनुयायी राजाओं के द्वारा यह अर्पित किये जाते होंगे, जिससे जनसामान्य उनका आदर-सम्मान करें और धर्म की प्रभावना हो।

नूतन आचार्य को पीठफलक, चौकी एवं तीन कंबल परिमाण आसन क्यों प्रदान किए जाते हैं?

• आचार्य पद की अपनी महत्ता एवं गरिमा है। वैसे आचार्य को स्वयं का बहुमान पाने या स्वयं की महिमा दिखाने की कोई भावना नहीं होती, परन्तु धर्म प्रभावना एवं आचार्य पद के सम्मानार्थ यह उपकरण उन्हें दिये जाते हैं।

• दूसरी बात, आचार्य पदस्थ मुनि के दायित्व एवं कार्यभार बढ़ जाते हैं उस स्थिति में अधिक बैठने के कारण कोई शारीरिक व्याधि उत्पन्न न हो तथा दर्शनार्थी उन्हें देखकर पहचान पाये कि यह आचार्य है। इस दृष्टि से आचार्य पद के प्रतीक स्वरूप यह चिह्न प्रदान किये जाते होंगे।

• आचार्य को तीन, उपाध्याय को दो एवं वाचनाचार्य को एक कम्बल प्रमाण आसन दिया जाता है, जो उनके पद की तरतमता को दर्शाता है। हर स्थान पर चौकी आदि मिलना सम्भव नहीं है, तब कम्बल परिमाण आसन उनकी श्रेष्ठता को दर्शाते हुए निर्मल भावों को विकसित करने का सूचन करता है।

●

सहायक ग्रन्थ सूची

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
1.	अनगार धर्मामृत	अनु. कैलाशचन्द शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	1977
2.	अभिधान राजेन्द्र कोश (भाग 1-7)	आचार्य राजेन्द्र सूरि	अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद	1986
3.	अन्तकृतदशासूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1990
4.	अनुयोगद्वार	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1987
5.	अनुत्तरोपपातिकदशासूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1981
6.	आचार दिनकर (भा.1)	आचार्य वर्धमानसूरि रचित	निर्णय सागर मुद्रालय, मुंबई	1992
7.	आचारांगसूत्र (भा.2)	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1980
8.	आचारांग टीका	शीलांकाचार्य	आगमोदय समिति, सूरत	वि.सं. 1962 1963
9.	आयारचूला	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1980
10.	आचारांगचूर्णि		ऋषभदेवजी केशरीमल जी संस्था, रतलाम	
11.	आदिपुराण	अनु.डॉ.पन्नालाल जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	2000
12.	आवश्यकचूर्णि (भा.2)	रचित जिनदासगणि	श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्थान, रतलाम	1928
13.	आवश्यक टीका	टीका. आ. हरिभद्रसूरि	आगमोदय समिति, मुंबई	1916 -17
14.	आवश्यक टीका	टीका. आ.मलयगिरि	आगमोदय समिति, मुंबई	1928

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
15.	आवश्यक निर्युक्ति टीका	टीका. आ. हरिभद्रसूरि	भैंरूलाल कनैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुंबई	वि.सं. 2038
16.	आवश्यकनिर्युक्ति (निर्युक्ति संग्रह)	निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी	हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला लाखाबावल, शांतिपुरी	1989
17.	उत्तराध्ययनसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1985
18.	उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका	टीका. शान्त्याचार्य	जैन पुस्तकोद्धार भाण्डागार संस्था, बंबई	वि.सं. 1973
19.	ओघनिर्युक्ति टीका		आगमोदय समिति, बंबई	1919
20.	कल्पसूत्रटीका	टीका. मुनि विनय विजयजी	श्रावक भीमसिंह भाणेक, मुंबई	1900
21.	गच्छाचार प्रकीर्णक	अनु. डॉ. सुरेश सिसोदिया	आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर	1994
22.	जैन आचार: सिद्धान्त और स्वरूप	आ.देवेन्द्र मुनि शास्त्री	श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर	1982
23.	जैन एवं बौद्ध शिक्षा दर्शन का एक तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. विजय कुमार	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	2003
24.	जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ	अरुण प्रताप सिंह	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	1986
25.	जैन धर्म का मौलिक इतिहास (भा.2)	आचार्य हस्तीमल	जैन इतिहास समिति, आ. श्री विजयचन्द्र ज्ञान भंडार, लाल भवन, जयपुर	1998 2002
26.	जिनेन्द्र पूजा संग्रह			
27.	जैन सिद्धांत बोल संग्रह (भा. 6)	संपा. भैंरुदान सेठिया	अगरचंद भैरोदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर	वि.सं. 2004
28.	जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (भा. 2)	श्री जिनेन्द्र वर्णी	भारतीय ज्ञान प्रकाशन, दिल्ली	1970
29.	ठाणं	संपा. मुनि नथमल	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1976
30.	ज्ञाताधर्मकथा	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1981

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
31.	दशवैकालिकसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1985
32.	दशवैकालिकवृत्ति	वृत्तिकार आचार्य हरिभद्रसूरि	जैन पुस्तकोद्धार फंड, बंबई	1918
33.	दशवैकालिकचूर्णि	चूर्णिकार जिनदासगणि	श्री ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम	वि.सं. 1989
34.	दशवैकालिकचूर्णि	अगस्त्यसिंह	प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद	1973
35.	दशाश्रुतस्कन्ध	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1992
36.	गुरुगुणषट्त्रिंशत्-षट्त्रिंशिका बालावबोध:	संशोधक बुद्धिसागरसूरि	अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मंडल, पादरा	1929
37.	धर्मसंग्रह (भा.3)	मुनि मानविजयजी	श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट भूलेश्वर, मुंबई	1984
38.	धवला टीका	संपा. पं. फूलचन्द सिद्धांत शास्त्री	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	1990
39.	नन्दीसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
40.	नन्दीचूर्णि	चूर्णिकार जिनदासगणि	प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी	1966
41.	नमो सिद्धाणं पद: समीक्षात्मक परिशीलन	डॉ.साध्वी धर्मशीला जी	उज्ज्वल धर्म ट्रस्ट, घाटकोपर	
42.	नियमसार	टीका.पद्मप्रमलधारि देव	पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	1984
43.	निरुक्तकोश	आचार्य तुलसी	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1984
44.	निर्वाणकलिका	रचित पादलिप्ताचार्य	निर्णय सागर मुद्रालय, मुंबई	1926
45.	निशीथसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
46.	निशीथभाष्य-चूर्णि	संपा. अमरमुनि	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	1982
47.	पाइयसद्दमहण्णवो	पं. हरगोविन्ददास	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1986

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
48.	प्रवचनसारोद्धार (भा. 1-2)	अनु.साध्वी हेमप्रभा श्री	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	1999
49.	प्रवचन सारोद्धार टीका	टीका. आ. सिद्धसेनसूरि	भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति, पिंडवाडा	1979
50.	प्रव्रज्यायोगादि विधि संग्रह	संपा.मुनि अजितशेखर विजय	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, 35 सोसायटी झोलका (अहमदाबाद)	वि.सं. 2054
51.	पंचवस्तुक (भा.1-2)	अनु.राजशेखरसूरि	अरिहंत आराधक ट्रस्ट, भिवंडी	वि.सं. 2060
52.	पंचाध्यायी(उत्तरार्ध)	पं. मक्खनलालजी	पं. लालाराम जैन ग्रन्थ प्रकाशन कार्यालय, मल्हारगंज, इंदौर	वि.सं. 2444
53.	बोधपाहुड (अष्ट पाहुड़)	अनु. पं.पन्नालाल जैन	श्री दिगम्बर जैन मंदिर, गुलाब वाटिका, दिल्ली	1995
54.	बृहत्कल्पसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1992
55.	बृहत्कल्पभाष्य	संपा. मुनि पुण्यविजय	जैन आत्मानंद सभा, भावनगर	1942
56.	बृहत्कल्पभाष्यम् (भा.1-2)	संपा. मुनि दुलहराज	जैन विश्व भारती, लाडनूं	2007
57.	बृहत्कल्पभाष्य टीका		श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	1942
58.	बृहत्कल्पभाष्यचूर्णि	चूर्णिकार जिनदासगणि	हस्तलिखित प्रति	
59.	बृहत् हिन्दी कोश			
60.	भगवतीसूत्र (भा.1)	टीका.अभयदेवसूरि	निर्णय सागर प्रेस, मुंबई	वि.सं. 1974
61.	भगवती आराधना (विजयोदया टीका)	टीका. अपराजितसूरि	बलात्कार जैन पब्लिकेशन सोसायटी, कारंजा	1935
62.	भास्कर पत्रिका			1940
63.	भिक्षु आगम विषय कोश (भा.1-2)	आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1996 2005

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
64.	महानिशीथसूत्र	संपा. पुण्यविजयजी	प्राकृत ग्रंथ परिषद्, अहमदाबाद	1994
65.	मिलिन्दपन्हपालि	संपा.स्वामी द्वारकादास शास्त्री	बौद्ध भारती, वाराणसी	1979
66.	मूलाचार	संपा.पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	1984
67.	रत्नकरण्डक श्रावकाचार	रचित आचार्य समंतभद्र आचार्य	पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	1997
68.	विपाकसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1982
69.	विधिमार्गप्रपा	रचित जिनप्रभसूरि	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	2000
70.	विधिमार्गप्रपा	अनु. सौम्यगुणाश्री	महावीर स्वामी देरासर, पायधुनी, मुंबई	2006
71.	विशेषावश्यकभाष्य भाषांतर (भा. 1) (मलधारी हेमचन्द्र वृत्ति)	संपा.मुनि वज्रसेन विजय	श्री भद्रंकर प्रकाशन, शाही बाग, अहमदाबाद	वि.सं. 2053
72.	विशेषावश्यकभाष्यवृत्ति	टीका आ.. मलयगिरि	दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद	2489
73.	विशेषावश्यकभाष्य वृत्ति	टीका. कोट्याचार्य	प्राकृत विद्यापीठ, वैशाली	1972
74.	व्यवहारसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1992
75.	व्यवहारभाष्य सानुवाद	मुनि दुलहराज	जैन विश्व भारतीय, लाडनूं	2004
76.	व्यवहारभाष्य	संपा.समणी कुसुमप्रज्ञा	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1996
77.	व्यवहारभाष्य वृत्ति	—	वकील केशवलाल प्रेमचंद, अहमदाबाद	1982
78.	व्याख्या प्रज्ञप्ति	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1993
79.	समवायांगसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1990

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
80.	सन्मति प्रकरण	आचार्य सिद्धसेन दिवाकर		
81.	सर्वार्थसिद्धि	अनु.पं. फूलचन्द्र सिद्धांत शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	1999
82.	समवायांग टीका	टीका. अभयदेवसूरि	रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस	1880
83.	सामाचारी प्रकरण	—	—	—
84.	सामाचारी	रचित तिलकाचार्य	डाह्याभाई मोकमचंद, पांजरा पोल, अहमदाबाद	वि.सं. 1990
85.	सुत्तपाहुड (अष्ट पाहुड़)	संपा. श्रुतसागरसूरि	श्री दिग. जैन मंदिर, लोदी रोड, नई दिल्ली	1995
86.	सुबोधा सामाचारी	श्रीमद् चन्द्राचार्य	जीवनचंद साकरचंद, जवेरी बाजार, मुंबई	1980
87.	सूत्रकृतांगसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1982
88.	स्थानांगसूत्र	संपा. मधुरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
89.	स्थानांग टीका	टीका. अभयदेवसूरि	आगमोदय समिति, मुंबई	वि.सं. 1975
90.	स्थानांग टीका	टीका. अभयदेवसूरि	सेठ माणिकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद	1937
91.	संस्कृत हिन्दी कोश	वामन शिवराम आप्टे	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1966
92.	संबोधप्रकरण	आचार्य हरिभद्र सूरि	जैन ग्रन्थ प्रकाश सभा, अहमदाबाद	1916
93.	हिन्दू धर्म कोश	डॉ. राजबली पाण्डेय	उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ	1978
94.	हुम्बुज श्रमण भक्ति संग्रह (प्र.ख.)	संपा. आ. कुन्थुसागर	श्री दिगम्बर जैन दिव्य ध्वनि प्रकाशन, जयपुर	वि.सं. 2521

सज्जनमणि ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित साहित्य का संक्षिप्त सूची पत्र

क्र.	नाम	ले./संपा./अनु.	मूल्य
1.	सज्जन जिन वन्दन विधि	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
2.	सज्जन सद्ज्ञान प्रवेशिका	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
3.	सज्जन पूजामृत (पूजा संग्रह)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
4.	सज्जन वंदनामृत (नवपद आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
5.	सज्जन अर्चनामृत (बीसस्थानक तप विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
6.	सज्जन आराधनामृत (नव्वाणु यात्रा विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
7.	सज्जन ज्ञान विधि	साध्वी प्रियदर्शनाश्री	सदुपयोग
		साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
8.	पंच प्रतिक्रमण सूत्र	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
9.	तप से सज्जन बने विचक्षण	साध्वी मणिप्रभाश्री	सदुपयोग
	(चातुर्मासिक पर्व एवं तप आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
10.	मणिमंथन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
11.	सज्जन सद्ज्ञान सुधा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
12.	चौबीस तीर्थंकर चरित्र (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
13.	सज्जन गीत गुंजन (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
14.	दर्पण विशेषांक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
15.	विधिमार्गप्रपा (सानुवाद)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
16.	जैन विधि-विधानों के तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का शोध प्रबन्ध सार	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
17.	जैन विधि विधान सम्बन्धी साहित्य का बृहद् इतिहास	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
18.	जैन गृहस्थ के सोलह संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
19.	जैन गृहस्थ के व्रतारोपण सम्बन्धी संस्कारों का प्रासंगिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
20.	जैन मुनि के व्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों की त्रैकालिक उपयोगिता, नव्ययुग के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
21.	जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वाङ्गीण अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00

22.	जैन मुनि की आहार संहिता का समीक्षात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
23.	पदारोहण सम्बन्धी विधियों की मौलिकता, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
24.	आगम अध्ययन की मौलिक विधि का शास्त्रीय अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
25.	तप साधना विधि का प्रासंगिक अनुशीलन, आगमों से अब तक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
26.	प्रायश्चित्त विधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
27.	षडावश्यक की उपादेयता, भौतिक एवं आध्यात्मिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
28.	प्रतिक्रमण, एक रहस्यमयी योग साधना	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
29.	पूजा विधि के रहस्यों की मूल्यवत्ता, मनोविज्ञान एवं अध्यात्म के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
30.	प्रतिष्ठा विधि का मौलिक विवेचन आधुनिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
31.	मुद्रा योग एक अनुसंधान संस्कृति के आलोक में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
32.	नाट्य मुद्राओं का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
33.	जैन मुद्रा योग की वैज्ञानिक एवं आधुनिक समीक्षा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
34.	हिन्दू मुद्राओं की उपयोगिता, चिकित्सा एवं साधना के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
35.	बौद्ध परम्परा में प्रचलित मुद्राओं का रहस्यात्मक परिशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
36.	यौगिक मुद्राएँ, मानसिक शान्ति का एक सफल प्रयोग	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
37.	आधुनिक चिकित्सा में मुद्रा प्रयोग क्यों, कब और कैसे?	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
38.	सज्जन तप प्रवेशिका	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
39.	शंका नवि चित्त धरिए	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00

विधि संशोधिका का अणु परिचय

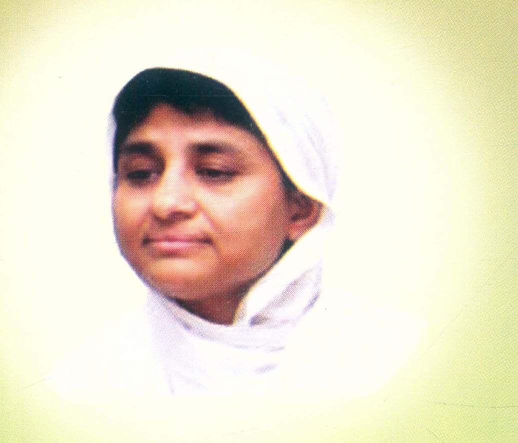

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी (D.Lit.)

नाम	:	नारंगी उर्फ निशा
माता-पिता	:	विमलादेवी केसरीचंद छाजेड
जन्म	:	श्रावण वदि अष्टमी, सन् 1971 गढ़ सिवाना
दीक्षा	:	वैशाख सुदी छट्ठ, सन् 1983, गढ़ सिवाना
दीक्षा नाम	:	सौम्यगुणा श्री
दीक्षा गुरु	:	प्रवर्त्तिनी महोदया प. पू. सज्जनमणि श्रीजी म. सा.
शिक्षा गुरु	:	संघरत्ना प. पू. शशिप्रभा श्रीजी म. सा.
अध्ययन	:	जैन दर्शन में आचार्य, विधिमार्गप्रपा ग्रन्थ पर Ph.D. कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, नंदीसूत्र आदि आगम कंठस्थ, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, राजस्थानी भाषाओं का सम्यक् ज्ञान।
रचित, अनुवादित एवं सम्पादित साहित्य	:	तीर्थंकर चरित्र, सद्ज्ञानसुधा, मणिमंथन, अनुवाद-विधिमार्गप्रपा, पर्युषण प्रवचन, तत्वज्ञान प्रवेशिका, सज्जन गीत गुंजन (भाग : १-२)
विचरण	:	राजस्थान, गुजरात, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, थलीप्रदेश, आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, महाराष्ट्र, मालवा, मेवाड़।
विशिष्टता	:	सौम्य स्वभावी, मितभाषी, कोकिल कंठी, सरस्वती की कृपापात्री, स्वाध्याय निमग्ना, गुरु निश्रारत।
तपाराधना	:	श्रेणीतप, मासक्षमण, चत्तारि अट्ठ दस दोय, ग्यारह, अट्ठाई बीसस्थानक, नवपद ओली, वर्धमान ओली, पखवासा, डेढ़ मासी, दो मासी आदि अनेक तप।

सज्जन मानस की अमृत बूँदें

- वर्तमान प्रचलित पद व्यवस्था आगमोक्त है या नहीं ?
- नूतन गच्छाचार्य को शिक्षादान क्यों ?
- आचार्य, उपाध्याय आदि को Suspend कब करते हैं ?
- महत्तरा पद से सीखे Group Management के गुर ?
- पदग्राहियों पर वास निक्षेप क्यों ?
- सूरिमंत्र का श्रवण दाहिने कर्ण में ही क्यों ?
- सूरिमंत्र एवं चंदन घनसार से ही अक्षतों का अभिमन्त्रण क्यों ?
- अयोग्य को पद पर स्थापित करने के दुष्परिणाम ?
- आधुनिक संस्कृति में पद स्थापना का औचित्य ?
- कैसे की जाए पद योग्य मुनि की पहचान ?
- पद व्यवस्था में आए क्रमिक परिवर्त्तनों का शास्त्रीय अनुशीलन ?

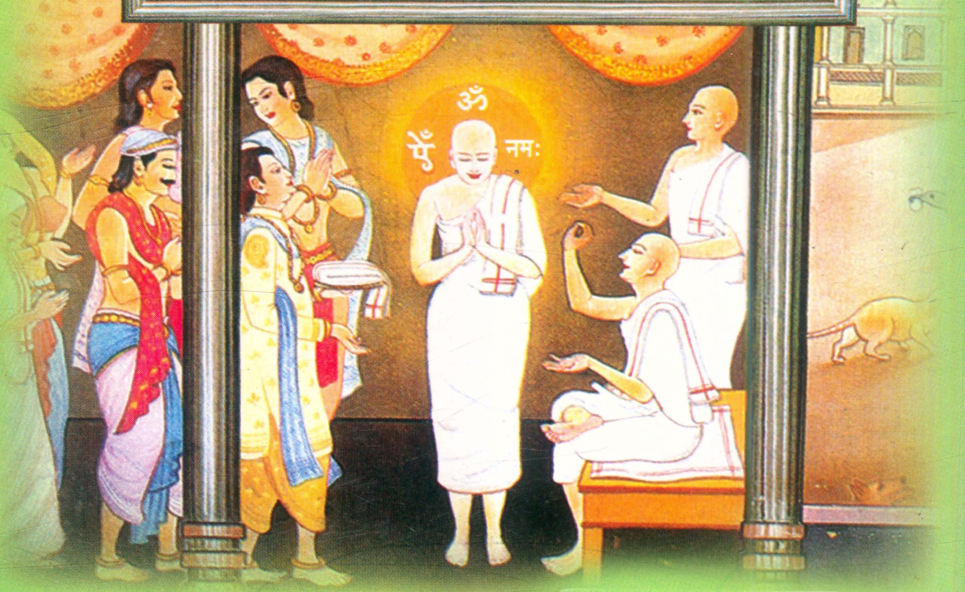

SAJJANMANI GRANTHMALA
Website : www.jainsajjanmani.com,E-mail : vidhiprabha@gmail.com
ISBN 978-81-910801-6-2 (VII)